जीवन विवेचन

भाग-५

परम पूज्या दिव्य ज्योति देवकी माताजी के प्रवचन
(कैसेट नं. 41 से 50 तक)

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन-मथुरा
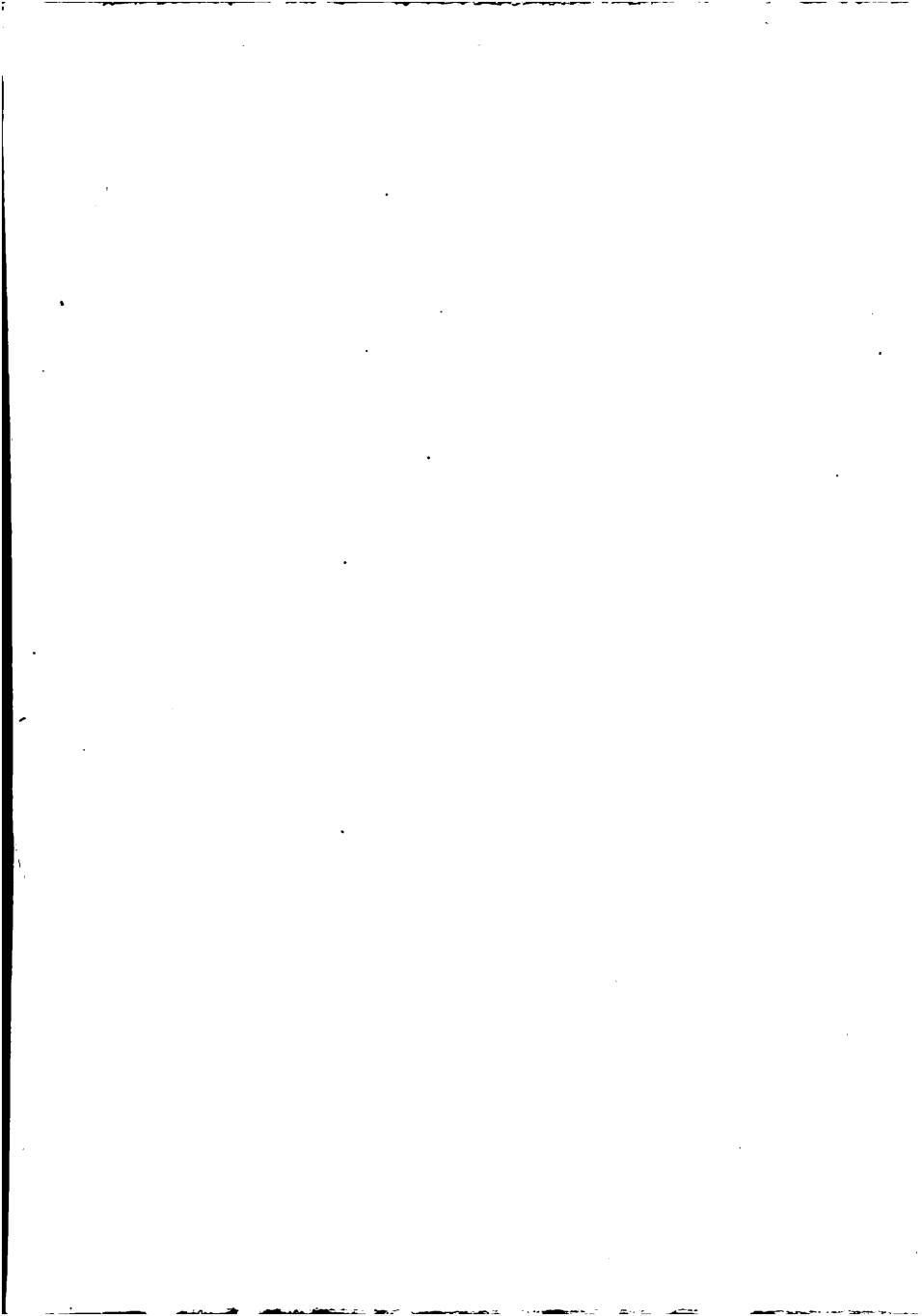
ॐ

प्रार्थना

(प्रार्थना, आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृत-कृत्य हो जायें।

अनुक्रमणिका

प्रवचन

(83)

उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग मानव हैं और मानव होने के नाते साधक हैं और साधक के जीवन की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसे अपने वर्तमान में सिद्धि मिलनी चाहिए। वर्तमान में सिद्धि मिलने का अर्थ क्या है ? कि आज हम अपने वर्तमान क्षण को देखें। थोड़ी देर के लिए अकेले होकर अपने सम्बन्ध में विचार करें तो ऐसा मालूम होता है कि स्वतः अपने आप में ऐसा भरपूर नहीं लगता है कि हम अकेले शान्तिपूर्वक, आनन्दपूर्वक रह सकें। अकेले होने पर यदि थोड़ी देर के बाद जी ऊबता है और ऐसा लगता है कि कहीं घूमने चलें, किसी से मिलने चलें या कुछ करने लग जाएँ तो इसका अर्थ यह है कि भीतर अभाव है और वह अभाव की पीड़ा अपने को सहन नहीं होती, अच्छी नहीं लगती। जी बहलाने का हम बाहरी आधार कुछ खोजने लगते हैं। ऐसा होना तो नहीं चाहिए। होना चाहिए ऐसा कि जब संसार के साथ संयोग बने तो हम उसके काम आएँ, उसको सहयोग दें, उसके प्रति सद्भाव रखें। ईश्वर विश्वासी हैं तो अपने प्यारे प्रभु की लीला देखें, ऐसा होना चाहिए और यदि संसार के साथ हम नहीं हैं, उसके काम आने का अवसर नहीं है, उसको सहयोग देने का अवसर नहीं है, तो अकेले होने पर, शान्त होने पर जीवन अपने आप में इतना पूर्ण होना चाहिए, अपने आनन्द में इतनी मस्ती रहनी चाहिए कि शरीर और संसार की याद भी न आए। सच्ची बात तो यही है।

अब जब तक स्वतः अपने आप में हमें भरापूरा नहीं लगता,

अभाव सताता है, अपने से भिन्न की जरूरत महसूस होती है, तो इसका अर्थ है कि हम अभाव से पीड़ित हैं। *साधक के जीवन की* सफलता क्या है ? साधक के जीवन की सफलता यह है कि शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ जो मिली हैं, बल मिला है, ये सब संसार के काम आ जाएँ। हमारे पास जो कुछ है, वह संसार के काम आ जाए और हमें स्वयं अपने लिए शरीर और संसार की आवश्यकता न रहे इसी को साधक के जीवन की सफलता कहते हैं। इसी को विकास कहते हैं।

आज अपनी दशा सोचकर देखा जाए कि कैसा लगता है ? क्या हमारे पास जो कुछ है, वह जगत् के काम आ गया ? क्या यह जीवन सब प्रकार से संसार के लिए उपयोगी हो गया, हितकर हो गया ? क्या बिना शरीर और संसार की सहायता के अपने आप में, अपने आनन्द में रहना आ गया ? यदि ऐसा लगता है कि मेरे पास जो कुछ है, वह संसार के लिए हितकारी कार्य में लग गया, क्योंकि इन सब तत्त्वों की आवश्यकता संसार को है, तो ऐसा जो व्यक्तित्व होता है, वह संसार के काम आता है, उसकी आवश्यकता संसार महसूस करता ही है। और विकसित जीवन का अर्थ होता है कि अपने और शरीर के लिए संसार की आवश्यकता न रहे।

व्यक्ति को जब अभाव सताता है तो विचार के आधार पर विवेक के प्रकाश में वह अपने जीवन का अध्ययन करता है और उस अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो व्यक्ति अपने से भिन्न, पराश्रय के द्वारा अपने को पूर्ण बनाना चाहेगा, वह कभी भी निश्चिन्त और निर्भय नहीं हो सकेगा। 'स्व' से भिन्न 'पर' का आश्रय लेना, इस जीवन का बहुत बड़ा अनादर है। हम सभी, मानव होने के नाते इस जीवन में जो अभाव सताता है, उस अभाव को मिटाने के लिए जीवन के सत्य की चर्चा करने यहाँ बैठे हैं। तो अभाव का अभाव कैसे होता है ? इस पर विचार कर लें।

मानव का जो अपना व्यक्तित्व है, उसमें क्रिया-शक्ति, भाव-शक्ति

और विचार-शक्ति ये तीनों प्रकार की शक्तियाँ जन्म-जात हैं। यदि हम ऐसा मानते हैं कि हमारा जीवन-दाता हमारा रचयिता परमात्मा है, तो हमें ऐसा भी मानना चाहिए कि उन्होंने हमारे व्यक्तित्व की रचना में ही इन तीनों प्रकार की शक्तियों को देकर बनाया है। तो क्रिया-शक्ति का सदुपयोग किया जाए। उपयोग क्या है ? कि कोई भी कर्म अपना विवेक विरोधी न हो। संसार के लिए किसी भी प्रकार से अहितकर न हो। साधना के जीवन का आरम्भ ही तब होता है जब हम विवेक विरोधी कर्मों का त्याग करते हैं। किसी भी प्रकार से किसी भी प्राणी को क्षति पहुँचाने वाला कोई भी काम हमारे द्वारा नहीं होना चाहिए। यह पहली बात हो गई।

दूसरी बात क्या है ? कि जो भी दृश्य-जगत् अपने सामने दिखाई दे रहा है, उस दृश्य-जगत् का कोई अंश ऐसा नहीं है, जो सदा के लिए हमारा साथ दे सके। इसका परिचय आपने संसार में रहते हुए पाया ही है। ऐसा कोई दृश्य हो ही नहीं सकता जो सदा के लिए आपका साथ दे सके। दूसरी बात जो दार्शनिक सत्य है, वह यह है कि जो आपका दृश्य बन सकता है वह जीवन नहीं हो सकता। जीवन का दृश्य नहीं बनता। जो जीवन है, वह सत्य है। जो 'स्व' है, वह 'स्व' में ही है, उसका दृश्य नहीं बनता है। इससे यह अर्थ निकला कि जिसका दृश्य बन सकता है अर्थात् जो मेरी इन्द्रियों का विषय बन सकता है, जो मेरी बुद्धि का विषय बन सकता है, वह जीवन नहीं है।

इससे स्पष्ट हो गया कि जो दृश्य बन गया वह हमारा जीवन नहीं है, वह सदा के लिए हमारे साथ रह नहीं सकता और वह हमारे अन्तर्निहित अभाव को मिटा भी नहीं सकता। उसमें हम सदा के लिए सन्तुष्ट रह भी नहीं सकते। फिर भी, जब हम देखे हुए जगत् के महत्त्व को स्वीकार कर लेते हैं, उसके संयोग-जनित सुख से, अपने भीतर के अभाव को ढक देना पसन्द करते हैं, तो इसमें अपने को सफलता नहीं मिलती है। थोड़ी देर तो अच्छा लगता है। भीतर से अभाव सता रहा

है और उसकी पीड़ा से बचने के लिए दृश्य-जगत् में कुछ-कुछ वस्तुओं को, कुछ-कुछ व्यक्तियों को, कुछ-कुछ परिस्थितियों को पसन्द कर लेते हैं और उनके संयोग से सुख लेना चाहते हैं, तो इस प्रयास में व्यक्ति को सफलता नहीं मिलती। संयोग-जनित सुख थोड़ी देर के लिए सुख मालूम होता है, कुछ देर के बाद वह अप्रिय लगने लगता है, और कुछ देर के बाद वह छूट जाता है अथवा छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यह आपकी जानी हुई बात है कि नहीं ? ऐसा कभी अनुभव किया ही होगा। हमेशा से एक ऐसा स्वभाव ही है।

इस पर अनुभवी संत ने परामर्श दिया कि हम मानव हैं और मानव होने के नाते, इस बात को अपने आप जानते हैं कि संसार में जहाँ-जहाँ हमने संयोग-जनित सुख पसन्द किया, उससे जीवन का अभाव मिटा नहीं। मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह बताया गया, कि अभाव का कष्ट जो है, वह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। कैसे बढ़ता जाता है? कि परिस्थिति सदैव एक-सी रह नहीं सकती, वस्तु, व्यक्ति का संयोग सदा के लिए हो नहीं सकता। जो सदा के लिए हमारे साथ नहीं रह सकता, उसको हमने पसन्द किया, उसमें हमने सुख माना तो हमारे सुख मानने के प्रभाव से उनका राग अपने में अंकित हो जाता है। वस्तुओं और व्यक्तियों के संयोग का जो एक सुखद भास हमको होता है, उसका एक प्रभाव अहं में अंकित हो जाता है। परिस्थिति बदल जाती है और उसमें जो सुख माना था, उसका एक राग अपने में रह जाता है। क्या होता है फिर ? परिस्थिति के चले जाने पर रह-रहकर उसकी याद आती है। और अभाव सताता है। किसी व्यक्ति का संयोग अपने को बहुत प्रिय लगा, उसमें सुख माना, फिर व्यक्ति का संयोग तो वियोग में बदल जाता है। मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि जब हमने सुख माना, तो उसका प्रभाव हमारे अहं में अंकित हो गया। जब परिस्थिति बदल गई, व्यक्ति का संयोग छूट गया तो वियोग हो गया। वह हमसे दूर चला गया अथवा उसका शरीर नाश हो गया। चाहे जो भी हुआ हो, संयोग तो वियोग में बदल गया परन्तु संयोग-जनित सुख

का राग जो मस्तिष्क में रह गया, वह बार-बार ध्यान में आएगा। रह-रहकर उसकी याद आएगी। फिर सुख को अपनाने की अनेक प्रकार से कामनाएँ उत्पन्न होती रहेंगी और वो मिलेगा फिर वैसा कभी नहीं। तो भाव भरेगा कि अभाव सताएगा ? जी ? यही होता है, यह जीवन का सत्य है।

तो स्वामी जी महाराज कहते हैं कि इस बात को पुस्तक में से पढ़ना पड़ेगा, दूसरों से सलाह लेनी पड़ेगी, कि विश्वविद्यालय की डिग्री लेनी पड़ेगी ? भैया ! जो जीवन तुम दिन-रात संसार में बिता रहे हो, उसी में से इस सत्य को जान लेते हो कि नहीं ? जान लेते हैं। तो जान लेने की जीवन दाता ने जो शक्ति प्रदान की, उस शक्ति के आधार पर जब आपने इस सत्य को जान लिया कि दृश्य-जगत् में से कोई भी दृश्य ऐसा नहीं है जो सदा के लिए मेरा साथ दे सके तो फिर उसके संयोग के सुख में अपने को बहलाने का कोई अर्थ नहीं निकलता है। जब जानते हैं कि सदा के लिए यह बना नहीं रहेगा तो उसको अपने जीवन का आधार बनाने का कोई अर्थ नहीं है। मनुष्य होकर अपनी जो जानकारी है, उस जानकारी से लाभ नहीं उठाना, यही असत् का संग है।

सत्संग क्या है ? सत्संग यह है कि जीवन की घटनाओं ने जो जानकारी हमें दी, उस जानकारी से हम लाभ उठाएँ। क्या करें ? जब यह स्पष्ट है कि कोई भी दृश्य सदा के लिए सुखद नहीं लगता, सदा के लिए उसका संयोग बना नहीं रह सकता, तो जितना-जितना उसके संयोग-जनित सुख को लेंगे हम, उतना ही अधिक-अधिक भीतर से अभाव बढ़ता जाएगा, असमर्थता बढ़ती जाएगी, नीरसता बढ़ती जाएगी।

अब मान लीजिए कि कोई भी परिस्थिति जो आपको अति सुखद लग रही थी, वह बदल गई तो परिस्थितियाँ तो बदलती ही हैं, स्थिर रह नहीं सकतीं, तो बदल जाने के बाद यदि उसी परिस्थिति के सुख को आप याद करते रहें, उसी को पाने के लिए तरसते रहें,

उस परिस्थिति को पा भी नहीं सकेंगे और उसके चिन्तन से छूट भी नहीं सकेंगे, तो यह सामर्थ्य की पहचान है कि असमर्थता की। यह असमर्थता हम लोगों ने, अपने द्वारा अपने जीवन में अनुभव की है। तो अभाव हो गया, असमर्थता हो गई, नीरसता हो गई।

संसार की ऊँची से ऊँची परिस्थिति को अपने सामने रखकर देख लीजिए। उसमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो आपको अभाव से मुक्त कर सके, नीरसता से मुक्त कर सके। जितना ही अधिक भोगे हुए सुख और अतृप्त वासनाओं का प्रभाव होता है मस्तिष्क में, उतना ही व्यक्ति अपने को असमर्थ पाता है; अभाव और नीरसता से पीड़ित पाता है। तो आप सभी विचारशील व्यक्ति जिस परिस्थिति में हैं, जहाँ पर हैं, उसी परिवेश में अपने को रखकर देखिए कि जितना समय जीवन का बिताया, उसमें कौन-सी ऐसी उपलब्धि हुई अपनी जो कि इस नीरसता, असमर्थता और अभाव से मुक्त कर दे। ऐसी कोई उपलब्धि हुई क्या? ऐसा सोच करके देखिए।

पहले साधारण वर्ग के व्यक्ति थे। अब पुरुषार्थ किया, प्रारब्ध ने कुछ साथ दिया, अधिक सम्पत्तिशाली हो गए। तो स्वामी जी महाराज कहते हैं कि भैया, तीन बटे चार को, पिचहत्तर बटे सौ कर लिया तुमने, तो तुम्हारा मूल्य कुछ बढ़ गया क्या ? पहले थोड़ा झंझट था अब ज्यादा कर लिया। पहले थोड़ी वस्तुएँ पास में थीं, अब अधिक विस्तार हो गया। तो ठीक है, ज्ञान के प्रकाश में देखिए कि ये वस्तुएँ मेरे काम नहीं आएँगी। मृत्यु का भय बना हुआ है तो वस्तुओं के संग्रह से मृत्यु का भय नहीं मिटेगा। वस्तुओं के संग्रह से भीतर का अभाव नहीं मिटा, वस्तुओं के संग्रह से नीरसता और असमर्थता का नाश नहीं हुआ तो मनुष्य होने के नाते विचार के प्रकाश में इन बातों को देखकर यदि आपने साधना का दृष्टिकोण अपना लिया अर्थात् आयी हुई वस्तुएँ किस काम के लिए हैं, मुझको हृदय से उदार हो करके प्राप्त वस्तुओं का पीड़ित जनों की सेवा में सदुपयोग करना चाहिए, यदि विचार से

आपने काम ले लिया तो वस्तु का मूल्य आपकी दृष्टि में घट जाएगा और वस्तुओं के सदुपयोग से आपका चित्त उदार हो जाएगा, शुद्ध हो जाएगा। तो साधना आरम्भ हो गई।

आयी हुई सुखद परिस्थिति ने हमारे भीतर सुख-भोग के परिणाम से पराधीनता और असमर्थता को बढ़ाया था। इस बात को आपने अपने द्वारा जाना। अब क्या करेंगे ? अब आयी हुई सुखद परिस्थिति का दुखियों की सेवा में सदुपयोग करके हम परिस्थितियों के ऊपर उठेंगे, अर्थात् हृदय को उदार बनायेंगे, चित्त को शुद्ध बनायेंगे, तो साधना आरम्भ हो गई। वस्तुओं का आना बुरा नहीं है, सम्पत्ति का आना गलत नहीं है, शक्ति की वृद्धि में कोई बोझ नहीं है। यदि शक्ति की वृद्धि हो, सम्पत्ति की वृद्धि हो, वस्तुओं का उत्पादन हो, तो वो शरीरों की सेवा में लग जाए और निःस्पृह भाव से लग जाए और इस बात की पक्की जानकारी लेकर यदि आप उनका सदुपयोग कर डालें कि ये संसार की वस्तुएँ यहीं रहेंगी, मेरे साथ जाएँगी नहीं, इनसे मेरा काम बनेगा नहीं, ये तो प्रकृति के विधान से मेरे पास आयी हैं, केवल इसलिए कि मुझे अपने चित्त को शुद्ध करना है, मुझे इनके लोभ से मुक्त होना है, मुझे इनके संयोग के सुख की आसक्ति से मुक्त होना है, तो सुख की आसक्ति से मुक्त होने के लिए सुख-भोग की वासना का त्याग करके, उदारता पूर्वक यदि प्राप्त बल का सदुपयोग दुर्बलों की सेवा में कर डालें तो आप साधक हो गए। और सब सुख के साधन मेरे ही काम आएँ, परिवार के ही काम आएँ और एक पीढ़ी का इन्तजाम हो गया तो दो चार पीढ़ी का इन्तजाम हो जाना चाहिए, अगर यही भ्रम घेरे हुए है आपको तो फिर तो साधना नहीं बनेगी। आप शान्त होना पसन्द करेंगे, अकेले बैठेंगे तो वही चिन्तन आपके मस्तिष्क को घेर कर रखेगा। तो दिन में कार्य करते समय वही चिन्तन अपने में भरा है। शान्त होते समय उसी का चिन्तन सताता है। गहरी निद्रा में सोते समय स्वप्न में वही भरा हुआ है। तो जो बन रहा है, बदल रहा है, बिगड़ रहा है, मिट रहा है, जिसका नाम संसार है, जिसका नाम दृश्य

है, सब समय मैंने उसी के साथ अपने को मिलाकर रखा तो-'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' कहने का कोई अर्थ नहीं निकलता है। अपने ही स्वतंत्र अस्तित्व जिसका कि कभी नाश नहीं होता उस सत्ता के रहते हुए भी मृत्यु के भय से भयभीत रहने से दुःख कभी मिटेगा नहीं। अनुभवी सन्त जन सलाह देते हैं और जब-मैंने महाराजजी के पास बैठकर अपनी दुःख निवृत्ति का उपाय पूछा और उनके बताए हुए उपाय को मैं किस तरह से अपने जीवन पर लागू करूँ इस विषय में अधिक-अधिक विचार करने लगी तो मुझे एक बड़ी बात मालूम हुई जो कि पहले नहीं मालूम थी। संत मिलन से पहले मुझे उस बात का पता नहीं था।

स्वामीजी महाराज की शरण में बैठकर मैंने यह पाया कि मनुष्य जो है वह पूरा का पूरा भौतिक तत्त्वों से बना हुआ नहीं है। शरीरों का भाग जो कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर है – ये तो भौतिक तत्त्वों से निर्मित है, लेकिन वह कहता है कि ये शरीर मेरे हैं । वह स्वयं भौतिक तत्त्वों का बना हुआ नहीं है। अगर भौतिक तत्त्वों का बना हुआ होता तो भौतिक जगत् के सम्बन्ध में उसमें प्रश्न नहीं उठता कि संसार क्या है ? भौतिक तत्त्व जो हैं, वे भौतिक तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं करते। लेकिन आप जब देखते हैं संसार की परिवर्तनशीलता को, जब आप देखते हैं अपनी बनी बनाई योजना को फेल होते हुए, तो आपके भीतर प्रश्न उठता है कि यह सब क्या है ? तो इसका अर्थ है कि मनुष्य केवल भौतिक तत्त्वों का बना हुआ नहीं है। फिर मेरे ध्यान में आया कि स्वामीजी महाराज यह सलाह देते हैं कि भाई, यह दृश्य जगत् तुम्हारे काम नहीं आएगा। यह तुम्हारे काम की चीज नहीं है। तुम्हारी नहीं, तुम्हारे लिए नहीं है। ऐसा उन्होंने बारम्बार कहा। तो ध्यान देने से एकदम बात समझ में आ गई कि मेरी उत्पत्ति उस अनन्त तत्त्व से हुई है जो अविनाशी है, अनन्त है, सत्य स्वरूप है, आनन्द-स्वरूप है, शान्ति स्वरूप है और प्रेम स्वरूप है। उसमें से हम भाई बहनों की उत्पत्ति हुई है। उन्होंने अपने ही में से हम सब भाई बहनों को बनाया है।

फिर जब मैंने शरीर के साथ अपने को मिला लिया तो शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यवहार करने पर दृष्टि गई। तो मुझे दृश्य जगत् की आवश्यकता महसूस होने लग गई। मेरे पास एक शरीर है और उसमें बहुत प्रकार की कमी है और मेरे सामने एक विशाल सृष्टि है और शरीर की कमी को पूरी करने की बहुत सी सामग्री इस संसार में है, तो मुझसे बड़ी भारी भूल यह हो गई कि शरीर की कमियों को दूर करने के लिए, उसकी आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए, संसार के साथ निपटने में ही मैंने बहुत सारा समय निकाल दिया। मुझे स्वयं क्या चाहिए, इस पर ध्यान ही नहीं गया। तो कितने प्रकार के विकार उत्पन्न हो गए, दीनता-हीनता आ गई, कहीं अभिमान आ गया, कहीं राग बन गया, कहीं द्वेष बन गया। इतनी बीमारियाँ लग गईं कि उस बेचैनी में भीतर विश्राम नहीं मिलता।

जब संत ने मुझे सुझाव दिया कि यह सब तो तुम्हारा है नहीं। और यह सब तुम्हारे काम आएगा नहीं, तो मुझे स्पष्ट दिखाई देने लग गया कि मैं उस अनन्त तत्त्व के समान ही अविनाशी स्वरूप, अविनाशी सत्ता रखती हूँ। तो फिर क्या बात हो गई ? तो बात केवल इतनी सी है कि मैं सभी भाई-बहिनों को आज ईमानदारी से यह सलाह देती हूँ कि दिन का सुबह से शाम तक का अपना रूटीन देख लीजिए। सोने से पहले थोड़ा सा अपने सम्बन्ध में विचार कर लीजिए तो आपको स्पष्ट पता चल जाएगा कि सारा समय और सारी शक्ति, मैंने शरीर और संसार के Adjustment में बिताया है, इन्हीं दोनों के अभियोजन में बिताया है कि अपने अविनाशी स्वरूप में स्थित होकर उसमें जो स्वंय का आनन्द है, उस आनन्द को अनुभव करने को भी कोई समय दिया क्या ? अगर दिया होता तो दुःखों का अंत हो जाता, मृत्यु का भय चला गया होता, अभाव का अभाव हो गया होता। सब प्रकार के अभाव मिट गए होते। ध्यान नहीं दिया तो भी कोई बात नहीं। अभी भी समय है।

वर्तमान हमारा-आपका सामयिक है। अब से भी मानव-जीवन का यह आवश्यक कार्य पूरा कर सकते हैं। वस्तुतः अपना जो आकर्षण है, हमारा जो खिंचाव है, वह उस अनन्त तत्त्व की ही ओर है। महाराज जी ने एक जगह कहा था कि भाई ! जैसे धरती में आकर्षण शक्ति है और उस आकर्षण से आकर्षित होकर सारे भौतिक तत्त्व उसी की ओर खिंचते हैं, ऐसे ही मनुष्य का सम्बन्ध उस अनन्त तत्त्व से है। कितना ही संसार आपको फुसलाने की, बहलाने की चेष्टा करे, भीतर से एक खिंचाव, एक आकर्षण हर भाई-बहन का उस अनन्त तत्त्व की ओर लगा ही रहता है। किसी न किसी रूप में उसका चिन्तन भी आता है, किसी न किसी रूप में उसकी चर्चा भी आती है, यह मनुष्य के लिए बिल्कुल स्वाभाविक बात है।

अब उत्थान का उपाय क्या होगा ? इस उत्थान का उपाय यह होगा कि सारा समय और सारी शक्ति, हम भाई-बहनों को शरीर और संसार के अभियोजन में खपा नहीं देना चाहिए। चौबीस घण्टे के समय को इतनी अच्छी तरह से adjust कर लेना चाहिए, कि आवश्यक कार्य को पूरा करने के बाद थोड़ा-थोड़ा समय अपने लिए बचाकर रखें। जबकि हम अकेले होंगे, शरीर और संसार हमें उत्तेजित नहीं करेगा और स्वयं अपने आपके सम्बन्ध में, विचार करेंगे। अपने में जो शान्ति विद्यमान है, उस शान्ति में रह कर उस अलौकिक जीवन का अनुभव लेंगे। यह एक आवश्यक कार्यक्रम है। सभी भाई-बहनों को अपने द्वारा अपने में निर्णय लेना ही चाहिए। आप किस मत के हैं, किस मजहब के मानने वाले हैं, किस सम्प्रदाय के हैं, किस गुरु से दीक्षा ली है आपने। क्या आपका विधि-विधान है, मानव-सेवा-संघ को इन विध्यात्मक बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम लोग कुछ पूछते ही नहीं हैं। कुछ पूछताछ नहीं करते हैं। जैसी आपकी रुचि है, ठीक है। भाई! जैसा आपका विश्वास है-ठीक है।

यह जीवन का वैज्ञानिक सत्य है कि जो भौतिक तत्त्व हैं, उनमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है और परिवर्तनशीलता उनका स्वभाव ही है। इसलिए कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, इनके निर्माण में विनाश का क्रम जुटा हुआ होता है। यह तो एक विशेष काल की अवधि में बनी हुई एक आकृति दिखाई देती है और प्रतिदिन परिवर्तन उसमें प्रत्येक क्षण हो रहा है। उस परिवर्तन को हम सूक्ष्म दृष्टि से नहीं देखते हैं तो ऐसा सोचते हैं कि यह तो वही व्यक्ति है, वही मेरा मित्र है, वही मेरा विरोधी है, ऐसा देखते हैं और नहीं तो आज के युग के मनोविज्ञानवेत्ता भी कहते हैं No perceptual experiences are repeated कि उन अनुभवों की पुनरावृत्ति नहीं होती। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हम जो कुछ भी दृश्य-जगत् की आकृति ग्रहण करते हैं ज्ञान क्षेत्र में, वह जाता है मस्तिष्क में। एक बार का आपका जो दृश्य का अनुभव है, वह कभी भी दोहराया नहीं जाता। पलक खोलकर आप दूसरी बार देखना आरम्भ करेंगे तो देखने का apparatus जो है वह आपके मस्तिष्क में, देखे हुए दृश्य के प्रभाव को ग्रहण करने की मशीन है, वह भी बदल गई और पृष्ठभूमि भी बदल गई और बाहर का दृश्य भी बदल गया।

जहाँ ऐसा निरन्तर परिवर्तन है, उसको अपने जीवन का आधार नहीं बनाना, उसमें विश्वास नहीं करना, उसका संग्रह नहीं करना। क्या करना है ? केवल उसका सदुपयोग मात्र ही मनुष्य जीवन में अर्थ रखता है, दूसरा अन्य कोई नहीं। इस सत्य को आप स्वीकार करें। वैज्ञानिक दृष्टि से इस सत्य को आप स्वीकार करें। दार्शनिक दृष्टि से इस सत्य को स्वीकार करें। कौनसा सत्य ? कि जो बन रहा है, बदल रहा है, बिगड़ रहा है, वह जीवन नहीं हो सकता। यह दार्शनिक सत्य है। अगर जीवन के केवल वैज्ञानिक सत्य को लीजियेगा, दार्शनिक सत्य को स्वीकार नहीं कीजिए तो समस्याओं का समाधान नहीं होगा। क्योंकि वह बहुत जोरदार है।

विज्ञान का जो क्षेत्र है, वह तो उस अविनाशी सत्य की, उस अव्यक्त तत्त्व की व्यक्त अभिव्यक्ति है। वह तो बाहरी अभिव्यक्ति हो गई। जिससे यहाँ सब उत्पन्न हो रहा है, जिस अव्यक्त तत्त्व की यह बाह्य अभिव्यक्ति आप देख रहे हैं, उस सत्य को स्वीकार नहीं करियेगा तो समस्याओं का समाधान नहीं होगा। इसलिए सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा। इस सत्य को भी स्वीकार करें आप कि मेरा तो स्वतन्त्र अस्तित्व है, मैं तो अविनाशी तत्त्व से बना हूँ और मुझे तो वही अविनाशी आनन्द चाहिए। मुझे तो वह कभी न मिटने वाली शान्ति चाहिए। मुझे तो वह कभी न घटने वाला प्रेम का रस चाहिए। अगर जीवन की इस मौलिक माँग को आप स्वीकार करते हैं तो समस्या का समाधान बहुत सहज से हो सकता है। कैसे सहज हो सकता है ? कि जब-जब संसार पर दृष्टि पड़े तो उसके काम आने का सोचिए, और संसार के काम आने का समय निकल जाए, शक्ति खर्च हो चुके तो विश्राम का समय निकालिए और विश्राम के समय में आपको यह जानकारी बहुत मदद करेगी कि देखा हुआ दृश्य मेरा जीवन नहीं है।

तो जीवन कहाँ है ? अपने में है। कैसे मिलेगा ? 'पर' की ओर से अपने को हटाने से मिलेगा। जो 'पर' है, जो 'स्व' नहीं है, उसकी ओर से अपने को हटा लीजिए। यदि कामनाओं का वेग नहीं है, यदि अतृप्त वासनाओं का उद्वेग नहीं है, यदि आपने प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग किया है, ये सब बातें यदि ठीक-ठीक आपके जीवन में प्रवृत्ति काल में निभ रही हैं तो शान्ति काल में सहज भाव से शरीर और संसार से असंग होकर अपने आप में शान्त रह सकेंगे।

प्रयोग करके देखना होगा। मुँह जुबानी कहने से काम नहीं बनता है, न व्याख्यान देने से काम बनता है, न व्याख्यान सुनने से काम बनता है। बोलने-सुनने से काम नहीं बनता। कैसे बनता है ? प्रयोग में लाया जाए। प्रवृत्ति काल को हम साधना-दृष्टि से बिताएँ तो निवृत्ति काल में कोई कारण नहीं है कि सहज भाव से शान्ति की अभिव्यक्ति

न हो जाए। और आप देखिए ! जीवन का जो तत्त्व है, वह अविनाशी तत्त्व है जिसका कभी नाश नहीं होता, उसमें प्रवेश शान्ति की भूमि से ही आरम्भ होता है। बाहर की हलचल से हटने के बाद ही उस शान्ति में प्रवेश होता है।

समग्र दृष्टि की सारी क्रियाओं में प्रकृति का तत्त्व स्वतः ही विद्यमान है। शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान के अध्ययन में जहाँ हम प्रयोगशाला में प्रयोग करते रहते थे, वहाँ देखते थे हमेशा, कि शरीर की कितनी ही क्रियाएँ ऐसी हैं कि हमारे बिना जानते ही, उसमें कार्य और विराम अपने आप चलता रहता है। शान्ति ही वह भूमि है जिसमें से सब प्रकार की गति का आरम्भ होता है और शान्ति ही वह भूमि है जहाँ जाकर सब गतियाँ विलीन होती हैं। तो अनन्त जीवन के अनुभव का आरम्भ शान्ति में से होता है। इस दृष्टि से हम सभी भाई-बहनों को यदि जीवन में से अभाव का नाश करना है, पराधीनता का नाश करना है, नीरसता का नाश करना है तो शान्ति सम्पादन को दैनिक जीवन का अनिवार्य अंग बनाना होगा। आप देखेंगे कि जितना अधिक आप शरीर और संसार की संयोग-जनित व्यस्तता में जीवन बिताते हैं, उतनी जल्दी-जल्दी प्राण-शक्ति का ह्रास होता है। भोजन किया जाता है तो स्थूल शरीर का थोड़ा-थोड़ा पोषण हो जाता है। थोड़ी देर प्रकृति बाध्य करके स्नायु-मण्डल के सूत्रों को इतना शिथिल कर देती है कि आदमी विवश हो जाता है सो जाने के लिये। सो जाने से सूक्ष्म तन्तुओं को भी पोषण मिल जाता है।

भोजन और शयन से भौतिक तत्त्वों में थोड़ा विराम आ करके खर्च की हुई शक्ति को पुनः संचित करने का काम हो जाता है, परन्तु आवश्यकता तो ऐसी है-कि जीवन में ऐसी अजस्र रस-धारा बह जाए कि कभी भी नीरसता आए ही नहीं। विश्राम में शक्ति की वृद्धि होती है, इस बात का अनुभव अपने लोगों को है, और स्थूल निद्रा की जड़ता में उस जड़ स्वरूप की शक्ति की जो वृद्धि होती है उसको लेकर हम

जड़ जगत् में खर्च कर देते हैं, इन बातों का अनुभव भी अपने लोगों को है। परन्तु जाग्रत-सुषुप्ति में निद्रा की जड़ता भी नहीं होती, शरीर और संसार के योग का भोग भी नहीं होता और उसके चिन्तन का दुःख भी नहीं होता। उस समय की जो शान्ति है, उस शान्ति में अलौकिक शक्तियों की वृद्धि होती है। उन अलौकिक शक्तियों की वृद्धि होने पर, संयोग-वियोग की दासता का नाश होता है। उन अलौकिक शक्तियों की वृद्धि होने पर शरीर और संसार तो ऐसे छूटता है, ऐसी उनकी विस्मृति होती है, कि फिर उसमें से पुराने राग के कारण कभी उत्थान हो जाए और संसार भासित होने लगे, दृश्य दिखाई देने लगे तो अच्छा नहीं लगता। इतना बढ़िया वह जीवन है।

उस जीवन का अनुभव हम भाई-बहनों को प्रतिदिन के routine में आना चाहिए। ऐसा मत सोचिए कि आप वेश बदल देंगे कि समाज छोड़ देंगे, घर छोड़ देंगे, कि बच्चों का लालन-पालन छोड़ देंगे, तब उसके अधिकारी बनेंगे। ऐसी बात नहीं है। संसार किसी को नहीं पकड़ता है। बाल बच्चे किसी को नहीं पकड़ते हैं। घर-गृहस्थी की परिस्थिति में कोई सामर्थ्य नहीं है कि वह विवेकशील के विवेक पर पर्दा डाल दे। जगत् में सामर्थ्य नहीं है। यह मेरी अपनी भूल है कि मुझे दोनों बातें स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। और फिर भी आश्चर्य है कि कभी न मिलने वाले संसार के पीछे दौड़-दौड़ कर मृत्यु के मुख में हम लोग समाने को तैयार हैं, और कभी न साथ छोड़ने वाले नित्य साथी परमात्मा के बारे में सोचने के लिए फुर्सत ही नहीं है। अजीब बात है।

हमारे दुःखों का नाश किसी और उपाय से हो नहीं सकता। मैं देहातीत जीवन की बात तो क्या कहूँगी, वह तो कहने की होती नहीं है, लेकिन थोड़ी सी बात, जो साधन काल में आप अनुभव कर सकते हैं, आज से आरम्भ कर सकते हैं, वह मैं आपको बताती हूँ। यदि वस्तु और व्यक्तियों का महत्त्व आपके जीवन में से निकल जाए, अपने लिए इनकी आवश्यकता नहीं है, हमारे भीतर जो पुराना राग बन गया है,

स्वार्थ-बुद्धि से, सुख-बुद्धि से जो बीमारियाँ हमने अपने भीतर पैदा कर लीं, प्रकृति और प्रकृति-पति परमात्मा ने, उन बीमारियों से मुक्त होने के लिए, आज हमें यह परिस्थिति दी है, ऐसा आप सोच लीजिए, तो क्या करेंगे इसका ? सदुपयोग करेंगे। काम करने के समय बहुत ही उत्साहपूर्वक, बिल्कुल निस्पृह भाव से अच्छी तरह से काम करते रहिए, खूब प्रसन्नता पूर्वक। काम खत्म होते ही अपनी शान्ति में, अपने परम प्रेमास्पद प्रभु की याद में अपने निज स्वरूप की स्थिति के आनन्द में रहेंगे।

ऐसे ही आप देखेंगे कि यदि एक बार जीवन में साधना का दृष्टिकोण बना लिया आपने और आपके ध्यान में आ गया कि भाई ! सारा काम मुझे क्यों करना है ? तो इसलिए करना है कि करने के राग से छुट्टी पाकर उस विश्राम में रहेंगे जहाँ अपना जीवन है, जहाँ अपने में से शान्ति अभिव्यक्त होगी, जहाँ अपने में से आनन्द का अजस्र स्रोत फूटेगा। अगर यह दृष्टिकोण आपने बना लिया तो शान्त रहने के लिए बड़ा चाव हो जाएगा। मैं तो साधन-काल की बात आपको बताती हूँ, थोड़ी देर के लिए आप शान्त हो जाइए, शरीर और संसार के चिन्तन से मुक्त हो जाइये, तो जैसे ही बाहरी कार्य आप छोड़ेंगे, स्थूल शरीर से साथ छूट जाएगा। और जब आप इसके साथ को छोड़ कर अपनी शान्ति में रहने का उद्देश्य लेकर बैठेंगे तो इसका भास खत्म होने में देर नहीं लगती है। और जैसे ही स्थूल शरीर का भास खत्म होता है, सूक्ष्म शरीर में बुद्धि आकर के सिमटती है, तो अच्छा लगने लगता है। और थोड़ी ही देर में चिन्तन बन्द हो जाए तो कारण शरीर की स्थिति की शान्ति इतनी अच्छी लगती है कि जितनी दुनियाँ में संसार की कोई प्रवृत्ति सुखद नहीं लगी थी।

आपको स्वयं ही इतना अच्छा लगेगा कि आप उसे छोड़ना पसन्द नहीं करेंगे। प्रयोग आरम्भ कीजिए तो आपको पता चलेगा। आज से ही आरम्भ करिये।

उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो,

मन और चित्त की अशुद्धि का नाश कैसे हो ? अशान्ति का नाश कैसे हो ? यह एक प्रश्न है हम सबके सामने। मन और चित्त की क्रियाओं पर यदि ध्यान दिया जाए जो यह स्पष्ट मालूम होता है कि जिन वस्तुओं की आवश्यकता हम अनुभव करते हैं, वे न मिलें तो अशान्ति मालूम होती है। विविध प्रकार की कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और कामनाओं की उत्पत्ति मात्र से अशान्ति की पीड़ा होती है। कामनाओं का उत्पन्न होना, फिर उनकी पूर्ति के लिए प्रयास करना, उस प्रयास में कभी सफलता कभी विफलता ऐसा तो होता ही है। उत्पत्ति, पूर्ति-अपूर्ति-ये तीनों ही घटनाएँ मानव-जीवन में दुःख पैदा करने वाली होती हैं। मनोवैज्ञानिक स्तर पर ऐसा देखा गया है कि मनुष्य यदि कामनाओं से मुक्त है, तो वह अपनी स्वाभाविकता में स्थित रह सकता है। जब तक किसी प्रकार की कामना उत्पन्न नहीं होती, तब तक, उसका Homeo status बना रहता है, शान्ति बनी रहती है। परन्तु जिस समय, उसमें किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है, कोई संकल्प बनता है या कोई कामना जगती है, तो तत्काल ही उसकी शान्ति भंग हो जाती है। उत्पत्ति मात्र से ही, व्यक्ति अपनी स्वाभाविकता से हट जाता है। उसमें एक प्रकार का तनाव Tension उत्पन्न हो जाता है।

मैंने ऐसा अनुभव करके देखा है कि जिन व्यक्तियों के जीवन में परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, वे कामनाओं की उत्पत्ति से बचने की अधिक चेष्टा नहीं करते हैं। क्योंकि उनको उम्मीद है कि ऐसी कोई बात मन में उठी, तो वे झटपट उसको पूरा कर सकते हैं, परन्तु जीवन के विज्ञान पर यदि वे दृष्टि डालें तो उन्हें इस बात का पता चलेगा कि कामनाओं की उत्पत्ति मात्र से जिस शान्ति में हलचल पैदा हो गई, वह अपनी स्वाभाविक दशा थी। वह बिगड़ गई तो फिर उसकी पूर्ति-

अपूर्ति के प्रयास में तो और भी अधिक प्राण-शक्ति का ह्रास होगा। साधक समाज के लिए अनुभवी संत जनों की सलाह यह है कि अगर आप मन और चित्त को शुद्ध और शान्त रखना चाहते हैं, उन्हें स्वस्थ रखना चाहते हैं तो कामनाओं के फेर में मत पड़िए। कुछ भाई-बहिन ऐसा सोचते होंगे कि किसी प्रकार का संकल्प ही नहीं रहेगा, कोई इच्छा ही नहीं रहेगी तो जीवन क्या रहेगा ? इसका अर्थ यह है कि जीवन की माँग, जीवन का लक्ष्य और उठती कामनाओं का अन्तर उनको मालूम नहीं है।

माँग तो कहते हैं उसको कि जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। परम् शान्ति की माँग, अमर जीवन की माँग, परम प्रेम की माँग – माँग कही जाती है। ये अविनाशी तत्त्व हैं, इनका अस्तित्व सदैव के लिए विद्यमान है। इनकी आवश्यकता जब जगती है मनुष्य के जीवन में, तो उससे न अशान्ति होती है, न असमर्थता आती है, न दुर्बलता आती है, और न पराधीनता ही आती है। परन्तु अपने से भिन्न जो 'पर' के प्रति आकर्षण होता है, दृश्य के प्रति अपना खिंचाव होता है, उसकी कामना जगती है तो उसमें आसक्ति बनती है, पराधीनता आती है, अशान्ति उपजती है। इसलिए प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग की सलाह दी गई। अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन से बचने के लिए कहा गया, इतना अन्तर है। तो पहला कदम क्या होगा इस दिशा में ? चित्त और मन की शान्ति के लिए जीवन को बहुत ही संयमित और नियमित बनाना चाहिए।

शरीर है, और थोड़ी-थोड़ी देर में उस शरीर की कुछ आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे जल चाहिए या कुछ खाद्य पदार्थ चाहिए, तो सचमुच शरीर के लिए जितना हितकर है, जिस मात्रा में और जिस रूप में, उतना शरीर की सेवा की दृष्टि से उसको अर्पण कर देना चाहिए। इसमें दोष नहीं है। लेकिन शारीरिक स्वास्थ्य का ख्याल किए बिना मन की विकृति पर ध्यान दिए बिना यदि स्वाद के सुख के लिए खान

पसन्द करेंगे तो अशान्ति और विकृति से बच नहीं सकेंगे। स्वामीजी महाराज ने कहा कि देखो, स्थूल शरीर की पूर्ति के लिए अगर बच्चों को रूखा-सूखा खाते हुए देखकर भी, स्वयं अच्छा भोजन ग्रहण कर लोगे जो इससे स्थूल शरीर तो पोषित हो जाएगा, उसमें बल आ जायेगा लेकिन इस व्यवहार से, इस कठोरता से चित्त अशुद्ध हो जाएगा, मन विकृत हो जायेगा और शरीर के प्रति बहुत घना मोह पैदा हो जाएगा।

शरीर, मन, चित्त और बुद्धि, सबको शुद्ध रखने के लिए संयमित-नियमित होने की आवश्यकता है और संयम-नियम के अर्थ में उपर्युक्त सारी बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। इस दृष्टि से शरीर के भरण-पोषण की आवश्यकता और उसमें भी हृदय की उदारता, सरसता को सुरक्षित रखते हुए उनकी जितनी सेवा करते बने, अवश्य कर दीजिए, लेकिन ऐसा न हो कि स्थूल शरीर के पोषण के लिए सूक्ष्म शरीर को विकृत बना दिया जाये, और मन को खुश करने के लिए स्थूल शरीर को रोगी बना दिया जाये। मन को खुश करने के लिए शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान न देना, मन को खुश करने के लिए तन को रोगी बना देना, और तन को पुष्ट करने के लिए मन को रोगी बना देना-यह साधना नहीं है।

इससे अशुद्धि उत्पन्न होती है। इस प्रकार से साधन के आरम्भ में ही, अपने लोगों को जीव की सेवा में बहुत ही सावधानी से, संयमित, नियमित होकर रहना चाहिए और इसकी सुरक्षा में, इसकी सेवा में किसी प्रकार की आसक्ति न रखते हुए, प्रकृति की सम्पत्ति मान कर इसके साथ सही व्यवहार करना चाहिए और इसका ठीक उपयोग भी करना चाहिए। यह तो पहली बात हो गई।

अब दूसरी बात देखें। 'पर' के प्रति व्यक्ति का जो आकर्षण होता है, उसको कामना कहते हैं। 'पर' के प्रति आकर्षित होने का आधार मानव जीवन में नहीं है। इसलिए नहीं है कि जो 'स्व' नहीं है, वह 'पर'

है, उसके साथ न कभी सन्तुष्टि होगी, न उसका सदा संयोग रहेगा और न ही उससे अपना कोई उपकार होगा। इसके विपरीत, यदि उठते हुए संकल्पों का हम समर्थन कर दें तो समर्थन करते ही गतिशीलता आरम्भ हो जाती है। बुद्धि उसी कामना-पूर्ति की दिशा में सोचना आरम्भ कर देती है और सारा व्यक्तित्व बहुत ही गतिशील हो उठता है। उसी कामना-पूर्ति के फेर में परिश्रम आरम्भ हो जाता है विविध प्रकार से। किससे सहयोग लेना होगा ? कहाँ जाना होगा ? किसको कहना होगा ? इस प्रकार अपना मूल्य घट जाता है और वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति का मूल्य बढ़ जाता है। अशान्ति बढ़ती चली जाती है, गतिशीलता तीव्र होती जाती है और प्राकृतिक विधान से कभी वह संकल्प पूरा हो गया, तो थोड़ी देर के लिए व्यक्ति को बड़ा सुख मालूम होता है। फिर क्या होता है ? कि जिन व्यक्तियों ने संकल्प की पूर्ति में सहायता की उन व्यक्तियों का महत्त्व जीवन में आ जाता है। उनकी पराधीनता अपने में आ जाती है। उनकी गलतियों में अपने को शामिल करने के लिए व्यक्ति तैयार हो जाता है, क्योंकि उन्होंने संकल्प–पूर्ति में मदद की। तो इस प्रकार अपना मूल्य घट जाता है।

व्यक्ति के प्रति आसक्ति पैदा हो जाने पर फिर वस्तु में सुख-बुद्धि उपजती है। यह भूल है। वस्तु में सुख नहीं है लेकिन संकल्प–पूर्ति के फेर में पड़े हुए व्यक्ति को वस्तु बड़ी सुखद दिखाई देती है। मनसविद (psychologists) कहते हैं कि नहीं भाई ! उस वस्तु में तो सुखद-दुःखद कोई बात नहीं है लेकिन, संकल्प के उठने से तुम्हारे मस्तिष्क में, स्नायु में जो (tension) पैदा हुआ था, थोड़ी देर के लिए, वह ढीला हो गया। मस्तिष्क में एक तनाव पैदा हो गया था। जैसे ही कामना उत्पन्न हुई तो mental equilibrium बिगड़ गया, सन्तुलन थोड़ी देर के लिए उद्वेलित हो गया। उसके बाद बहुत प्रयास करने से अगर इच्छा की पूर्ति हुई, तो इच्छा के पूर्ति-काल में, जब तक कोई नई इच्छा उत्पन्न नहीं होती उतनी देर के लिए मानसिक स्थिति स्वाभाविक बन जाती है। उस स्वाभाविकता में आदमी को आराम

मिलता है। यह आराम किसका है ? प्राप्त हुई वस्तु का आराम नहीं है, मदद देने वाले व्यक्तियों के संयोग का आराम नहीं है, यह आराम तो आपके भीतर ही पैदा हुआ। स्नायु में तनाव उत्पन्न हुआ था कामना की उत्पत्ति से, और कामना पूर्ति-काल में थोड़ी देर के लिए व्यक्ति का मस्तिष्क कामना रहित होता है, तो यह आराम कामना रहित दशा का आराम है। वस्तु का मूल्य नहीं है। भूल से व्यक्ति उस वस्तु के महत्त्व को मान लेता है, कि यह बड़ी सुखद है। फिर क्या होता है ? कि प्राप्ति के बाद उसकी सुरक्षा की चिन्ता आरम्भ होती है। उसके संग्रह का लोभ आरम्भ होता है। इस प्रकार वह उस वस्तु का उपयोग न एक शरीर के लिए कर सकेगा, न अन्य शरीरों की सेवा में ही उसे लगा सकेगा। उसके संग्रह और उसके लोभ में ग्रसित होकर चित्त को अशुद्ध और मन को अशान्त बना लेगा। यह रहस्य है।

अनुभवीजन कहते हैं कि आप अपना मूल्यांकन सत्य के आधार पर कीजिए। आपके भीतर मृत्यु रहित जीवन की माँग है, शुद्धि और शान्ति की माँग है, प्रेम की सरसता की माँग है तो आप अपना मूल्यांकन, इस जीवन के आधार पर कीजिए। वस्तु और व्यक्तियों की पराधीनता स्वीकार करेंगे तो उनकी आसक्ति में फ़ँसेंगे। वस्तुओं के लोभ में और व्यक्तियों के मोह में ग्रसित हो जाएँगे, तो चित्त और मन अशुद्ध हो जाएँगे, और इनकी अशुद्धि आपको न कहीं दिन में चैन से रहने देगी और न रात्रि में अच्छी तरह से सोने देगी। विविध प्रकार के स्वप्न बनते रहते हैं। मैंने कितने ही अध्ययन किए इस प्रकार के उदाहरण के। और ऐसा पाया कि बहुत अच्छे-अच्छे लोग, जिन्होंने जीवन भर खूब कर्मठतापूर्वक काम किया, धन कमाया, यश कमाया और इस तरह से बहुत गतिशील रहे, रिटायरमेंट के बाद कुछ दिनों घर में बैठने के बाद, जब चाहते थे कि इस समय तो उन्हें बहुत ही शान्ति मिलनी चाहिए, ऐसे लोगों को भी मैंने आखिर समय तक मस्तिष्क की, स्नायु की दुर्बलता के कारण, व्यर्थ चिन्तन और अनर्गल स्वप्न का दुखड़ा ही सुनाते हुए पाया। ऐसा होता है।

जब कुछ कम उम्र रहती है, साठ से पहले, तो स्नायु पर अपना नियन्त्रण चलता है। उसको व्यक्ति थोड़ा Control कर सकता है। लेकिन संकल्प पूर्ति के फेर में पड़ने वाले युवा अवस्था में ही, शक्ति के रहते-रहते ही, इतनी अशुद्धि और इतनी गतिशीलता के शिकार हो जाते हैं कि बाद में सुख भोगने की सामर्थ्य भी नहीं रहती और स्नायु पर नियन्त्रण करने की सामर्थ्य भी नहीं रहती। तो भोग भी नहीं सकते हैं और चिन्तन को छोड़ भी नहीं सकते हैं, और परेशान होते रहते हैं। तब किसी का ध्यान इस बात पर नहीं जाता है लेकिन हमारी संस्कृति के निर्माण करने वाले मनीषियों की सूझ-बूझ देखिए कि वे कहाँ तक सोच सकते थे ?

यह एक पृष्ठभूमि ऐसी बनी रहती है कि नाशवान शक्तियों के नाश होने से पहले अविनाशी तत्त्व पर दृष्टि चली जाती है, इसलिए यहाँ के लोग अधीर नहीं होते। इससे भी अच्छी बात क्या है ? कि जैसे ही चौथेपन आने का समय होता है, पुरुष-स्त्री साधारण वर्ग के सब प्रकार के लोग, जो इस संसार से प्रभावित हैं, वे सोचने लग जाते हैं, कि अब बहुत हो गया, देख लिये संसार के खेल तमाशे, अब तो चौथापन आने लगा है, अब तो यह सब छोड़-छाड़ करके, भगवद् चिन्तन करना चाहिए, सत्संग में रहना चाहिये, परोपकार में लगना चाहिये। इसका परिणाम क्या होता है ? कि नाशवान शक्तियों के नाश होने से पहले अविनाशी शक्तियों के विकास पर उनकी दृष्टि चली जाती है। आँखों की दृष्टि कम होने लगे, कानों से सुनाई कम देने लगे, कि दाँत झड़ने लगे या हाथ-पाँव दुर्बल होने लगे, तो इनसे वे ज्यादा घबराते नहीं हैं, क्योंकि उनके भजन का समय आ गया, उनके आश्रित होने का समय आ गया, सुख-भोग के त्याग का समय आ गया। तो यह तैयारी भारतवासियों की पृष्ठभूमि में इतनी अच्छी रहती है कि छूटने वाली चीज छूटती जाएँ, इससे वे अधीर नहीं होते, Emotional Melancholia के रोगी नहीं बनते। यह उदाहरण, यह रहस्य, मैंने उन लोगों को बताया, जो अध्ययन करने के लिए आए थे। रिसर्च करते

रहियेगा, आप लोग खोजते रहिएगा। आज अपने भाई-बहनों के सामने यह तथ्य निवेदन करके मैं इस रहस्य को स्पष्ट करना चाहती हूँ कि वस्तुतः मन और चित्त की अशुद्धि में, हमीं सहायक होते हैं तभी ये अशुद्ध होते हैं अन्यथा वंशावली और परम्परा (Heredity environment) सम्बन्ध पर जो शोध कार्य हुआ है, Research हुई है उसके सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के विधान से वो शक्तियाँ सदैव ही शुद्धि की ओर चलती हैं। हम अपनी ओर से, अपनी भूल से, ज्ञान का अनादर करके, बल का दुरुपयोग करके, यदि इन शक्तियों को अशुद्ध न बनाएँ तो ये अशुद्ध नहीं होती हैं।

प्रारम्भ में किसी को भी मन और चित्त अशुद्ध रूप में नहीं मिलता है। सब शुद्ध धातुओं से बने अवयव हैं। अपनी भूल से, अपने ज्ञान का अनादर करके, अपने बल का दुरुपयोग करके, मन और चित्त को हम अशुद्ध कर देते हैं। और हमारी भूल से जब इनमें विकृति पैदा हो जाती है तो हम बहुत परेशान हो जाते हैं। फिर जब शान्ति की बात सूझती है, जब साधना की बात सूझती है, तब हम सोचने लगते हैं कि हम तो शान्त रहना पसन्द करते हैं और मन के व्यर्थ चिन्तन को मिटा कर सार्थक चिन्तन में, भगवत् चिन्तन में लगाना चाहते हैं। लेकिन यह मन बड़ा खराब है, कहना नहीं मानता है, और व्यर्थ चिन्तन को छोड़ करके सार्थक चिन्तन में नहीं लगता है। यह कहना आरम्भ करते हैं। यह बिल्कुल उल्टी बात है।

चित्त-शुद्धि पर एक पूरा ग्रन्थ लिखवाया है, स्वामीजी महाराज ने। उसमें यह प्रसंग आया है। चित्त को संतुलित बनाए रखना और उसको Abnormality से बचाना, यह सब तो मैं पढ़कर आयी थी। स्वामी जी महाराज को सुनाती रहती थी। महाराज जी ने उसमें जो सुझाव दिया, उससे मुझे यह प्रकाश मिला कि प्राकृतिक शक्तियाँ स्वतः अपने आप में अशुद्ध होती ही नहीं हैं। हमारी भूल से उनमें अशुद्धि उत्पन्न होती है। हाँ ! यह है कि वह Apparatus की तरह है, यंत्र की

तरह है, पर्दे की तरह है, जिस पर की हुई अशुद्धियाँ दिखाई देने लगती हैं। इसी कारण से व्यक्ति को भ्रम हो जाता है कि हमें तो भगवत्-चिन्तन पसन्द है, हम चाहते हैं भगवत्-चिन्तन करना और यह मन इतना खराब है कि यह संसार के चिन्तन में लगा रहता है।

इस भूल को मिटा दीजिए। यह भ्रम छोड़ दीजिए। व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति हमारी भूल से होती है, और उसको मिटाना हमारा पुरुषार्थ है। अब तक जो हो चुका सो हो चुका। आगे से क्या करें ? सोचिए कि अब तक तो मैंने वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों को पसन्द किया, उनका आश्रय लेकर अपने को निश्चिन्त और निर्भय बनाना पसन्द किया, लेकिन वे 'पर' हैं, उनका संयोग बना नहीं रह सकता। अतः उनको पसन्द करने का परिणाम तो होगा ही, कि मन और चित्त दुर्बल हो जायेंगे, अशुद्ध हो जाएँगे, गतिशील हो जाएँगे और अस्वस्थ हो जाएँगे। तो अब हम लोगों को आगे बढ़ना चाहिए कि इस बिगड़ी हुई दशा को सँभालें कैसे ?

तो सँभालने के लिए पहली बात यह रखनी होगी अपने सामने, कि संयम और मर्यादा के साथ शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाए। एक शारीरिक भूख होती है अन्न, जल, हवा, सुरक्षा इत्यादि की, और एक मानसिक भूख होती है सुख-दुःख में भाग लेने वाले साथी सम्बन्धियों के संग की। दुःख सुनने के लिए भी साथी चाहिए और सुख को बढ़ाने के लिए भी साथी चाहिए, यह मानसिक भूख होती है। इन बातों की पूर्ति में बहुत ही ज्ञान-पूर्वक अपने लोगों को काम करना चाहिए।

दूसरी बात यह होगी कि अब जो अशुद्धि और अशान्ति उत्पन्न हो गई है, उसको मिटाने के लिए, और ऊँचे स्तर से, हम लोगों को साधना अपनानी पड़ेगी। ऊँचे स्तर का अर्थ क्या है ? कि आप दार्शनिक दृष्टिकोण से जीवन पर विचार करें कि जितने अवयव हैं, मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ इत्यादि, ये सबके सब भौतिक तत्त्व हैं।

इनकी अशुद्धि से बड़ी खिन्नता मालूम होती है। रात्रि में नींद नहीं आती, अनिद्रा का दोष हो जाता है, काम में मन नहीं लगता है, भजन में रहा नहीं जाता है, समाधि नहीं लगती है। सब ले लीजिए। व्यावहारिक काम से लेकर साधना की उपलब्धियों तक चले जाइए। मन और चित्त की अशुद्धि और विकृति के कारण व्यक्ति को न संसार में सफलता मिल पाती है, न साधना में। तो इस दोष को मिटाने के लिए आप इस दार्शनिक सत्य को सामने रखें कि ये सारे अवयव, भौतिक तत्त्वों से निर्मित हैं, इनका अलौकिक तत्त्व से अर्थात् अपने 'स्व' से कोई सम्बन्ध नहीं है। आप अविनाशी तत्त्व से रचे हुए अविनाशी हैं। इसलिए आपको अविनाशी आनन्द की माँग है, अविनाशी प्रेम-रस की मधुरता की प्यास है। ऐसा क्यों है ? ऐसा इसलिए है कि आप मौलिक रूप से उसी तत्त्व से निर्मित हैं। तो फिर हम उस सृष्टि में क्यों आए ? इस भौतिक जगत् से हमें क्या लेना है ? अविनाशी से रचे हुए, अमर पद के अधिकारी, अनन्त प्रेम-स्वरूप परमात्मा के प्रेम-रस के पात्र, आपको इस संसार से क्या लेना था ?

जीवन के सत्य पर विचार करने से, पता चलता है कि यह भौतिक जगत् भी उस अनन्त तत्त्व का विस्तार है। उस अव्यक्त तत्त्व का व्यक्त स्वरूप है और उसने अपनी ही प्रसन्नता से, अपना प्रतिरूप देकर हम लोगों को इस दुनियाँ में भेजा। किसलिए ? कि अपनी ऊँचाई से, अपने औदार्य से, अपने सौजन्य से, अपनी सेवा और हृदय के प्रेम-भाव से, इस सृष्टि को सुन्दर और सरस बनाएँ। इसीलिए हम आए, लेकिन आकर के भूल हो गई। जिसको सेवा देने आए थे, उसको अपनी खुराक बना बैठे, परिणाम में मन और चित्त अशुद्ध हो गया। अब शुद्धि का प्रश्न आया है तो क्या साधन करें ?

इस दार्शनिक सत्य को स्वीकार करें कि मन, बुद्धि, चित्त इन्द्रियाँ, तीनों शरीर और समग्र जगत्, यह दृश्य-जगत् जो दिखाई देता है, इससे मेरा त्रिकाल में भी नित्य सम्बन्ध नहीं है, माना हुआ है,

मैंने मान लिया था। मान्यता के अनुरूप कर्त्तव्य करेंगे तो उस मान्यता से छूट जाएँगे। मान्यता के अनुरूप सुख भोगना पसन्द करेंगे तो उसकी आसक्ति में फँस जाएँगे। अब सोच लीजिएगा कि अपने को क्या करना है ? यह Free track नहीं है कि जब जो जी में आया सो किया, जब आएगा जी में तो छोड़ देंगे। इतना सहज नहीं है। 'कुछ नहीं' का इतना जबरदस्त प्रभाव है अपने पर, इतना आश्चर्य होता है मुझे, कभी-कभी तरस भी आता है कि, हाय रे मनुष्य ! कितनी जरा-सी बात के लिए, ऐसे कठिन फंदे में फँस जाता है, कि तड़प-तड़प के जीता है, कराह-कराह के मरता है। कष्ट होता है सोच-कर। और फिर यदि सत्संग के प्रकाश में आपने जीवन के वैज्ञानिक सत्य को स्वीकार किया, दार्शनिक सत्य को स्वीकार किया तो इस मन और चित्त को, जिसको अपनी भूल से विकृत बनाया था, शुद्ध करने में जरा भी न बाधा लगेगी, न देर लगेगी। कैसे ?

आप इस सत्य को स्वीकार करिये, कि तीनों शरीरों से त्रिकाल में भी मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है। नहीं है, लेकिन मालूम होता है कि है। अगर सर्दी लगे तो ऐसा लगता है कि इसे बचाना चाहिए और गर्मी लगे तो ऐसा मालूम लगता है कि इसको ठण्डक देनी चाहिए और यदि मालूम होता है कि 'है' तो इसमें कोई दोष नहीं है। ये प्राकृतिक तथ्य हैं, बन रहे हैं, बदल रहे हैं, बिगड़ रहे हैं, मिट रहे हैं। जब तक ये काम के लायक आपके पास रहें, इनसे काम ले लीजिए। जैसे लिखने के लिए कलम उठाकर लिखना आरम्भ करते हैं और लिखना खत्म हो जाने पर, कलम को पकड़े नहीं रहते, उसे रख देते हैं। ऐसे ही तीनों शरीरों से संसार की सेवा के लिए, उसको सुन्दर बनाने के लिए, अपनी प्रियता के व्यवहार से उसे सरस बनाने के लिए जब-जब कुछ करने का मौका आए तो शरीरों का साथ लेकर कुछ काम कर लीजिए और जब काम करने का period न रहे, तो शरीरों के साथ मत रहिए। उसके चिन्तन में मत फँसे रहिए। उसे पकड़े मत रहिए। उनमें अपने को पकड़ाकर मत रखिए।

इस सत्य को स्वीकार करने से बड़ी शक्ति मिलती है कि मेरा इन तीनों शरीरों से त्रिकाल में भी नित्य सम्बन्ध नहीं है। ऐसा सोच कर जब आप चुप हो जाएँगे, तो पुरानी विकृतियाँ सब सामने आएँगी। आप आँख बन्द करके बैठेंगे, तो बाहर के दृश्य तो नहीं दिखाई देंगे, लेकिन बाहर के दृश्यों का जो चित्र बना है भीतर, वह दिखता रहेगा। ऐसा होता है। स्वाभाविक है। चाहे दृश्य जगत् बाहर दिखाई दे चाहे भीतर, उसमें अपने को फँसाइये मत। उससे मिलाइए मत। यह तो पुरानी विकृतियों का फल दिखाई दे रहा है, और प्रकृति माता इसको साफ कर रही हैं। हमको दिखा-दिखाकर निकाल रही हैं। कूड़ा करकट बाहर जा रहा है। तो सच मानिए, यह ऐसा अटूट सत्य है कि मस्तिष्क में उठने वाले व्यर्थ चिन्तन से आप अपने को मिलायेंगे नहीं, उनके प्रभाव से प्रभावित नहीं होंगे, उनको देखकर डरेंगे नहीं, तो वे चित्र आपकी शान्ति को भंग नहीं करेंगे।

मस्तिष्क में पुराने चित्र शान्ति को भंग नहीं करते हैं। उन चित्रों को देखकर आदमी, उलझन में पड़ जाता है, डर जाता है, क्षुब्ध हो जाता है। जैसे मान लीजिए, कि भूतकाल में किसी के साथ आपकी कुछ खटपट हो गयी, अनबन हो गयी, झड़प हो गई। अब तो परिस्थिति खत्म हो गई, वो आदमी चला गया, उससे कोई सम्बन्ध नहीं है और आप शान्ति-सम्पादन के लिए, अपनी स्वाभाविकता में ठहरने के लिए, अकेले होकर बैठे हैं तो उस व्यक्ति का चित्र आ गया, वो घटना याद आ गई, उसमें जो अपना अपमान हुआ था वह याद आ गया, तो संत-जन कहते हैं कि वह बात तो बीत गई है, उसका चित्र जो तुम्हारे मस्तिष्क में अंकित था, वह विकृति, वह अशुद्धि, प्रकृति माता साफ कर रही है। तो भीतर जो कूड़ा भरा था वह निकाल-निकालकर फेंकने से, दिखता तो है न ? तो दिखाई देता है तो डरो मत। भूतकाल की बीती हुई घटनाओं को देखकर, वर्तमान में Emotional मत हो जाओ। फिर उस बात को याद करके संवेग में मत आ जाओ कि अरे ! उसने ऐसे किया था, वैसे किया था। ऐसे तो वो केवल एक

स्मृति चित्र है, एक Memory impression है और अगर आप उसमें emotion जोड़ देंगे, किसी प्रकार से उसे देखकर दुःखी हो जाएँगे, तो वे भूतकाल की बीती हुई घटना भी आपके चित्त को विकृत करने के लिए वर्तमान में सजीव हो जाएगी। आप ही की सत्ता से मरी हुई बात फिर आप पर शासन करने लग जाएगी।

तो दार्शनिक दृष्टिकोण क्या है ? कि शरीरों से सम्बन्ध तोड़कर, इस बात को जान कर, कि इनसे मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, चुपचाप शान्त हो जाइए। मस्तिष्क में यदि पुरानी बातों की याद आती है तो आएगी, चली जाएगी, आप शान्त, स्थिर अपनी जगह पर ज्यों के त्यों बने रहिए। थोड़े दिनों तक यह क्रम चलेगा, उसके बाद फिर यह सब समाप्त हो जाएगा। अगर नए-नए सुख भोग की वासनाओं से, नई-नई विकृति चित्त में पैदा नहीं करेंगे तो शान्ति काल में, पुरानी विकृतियाँ निकल जाएँगी और सब खत्म हो जाएगा। चित्त शान्त हो जाएगा, शुद्ध हो जाएगा तो बहुत आराम मिलेगा। संत कबीर ने कहा है --

'मन थिर, तन थिर, वचन थिर, सुरति निरति थिर होय।
कहें कबीर वा क्षणक को, कल्प न पावे कोय।।'

एक क्षण की उस शान्ति का आनन्द इतना गहरा होता है, उसमें भौतिक और अलौकिक दोनों प्रकार की शक्तियों का ऐसा विकास होता है कि उस जैसा अलौकिक जीवन का आनन्द संसार की किसी प्रवृत्ति में कभी भी सम्भव नहीं है।

आप चाहें तो प्रयोग करके देखिए। मैंने जब प्रयोग आरम्भ किया तो अन्त की बातों से बहुत परेशान रहती थी, और शिकायत करती रहती थी। महाराज जी ने एक दिन कहा कि देखो ! ये प्राकृतिक शक्तियाँ जो हैं, स्वभाव से तो शुद्ध ही मिली थीं, आपने अपनी भूल से इन्हें विकृत बनाया। जब साधना आरम्भ हुई, जब तुमने ऊँचा दृष्टिकोण लेकर अमर जीवन से, परम-प्रेम से अपने को अभिन्न करने का क्रम आरम्भ किया तो तुम इनका मोह छोड़ दो। इन पर अपना अधिकार

जमाना छोड़ दो। इनको शुद्ध और शान्त होना ही चाहिए और मेरे करने से होना चाहिए-इस प्रकार का आग्रह छोड़ दो। तुमने इनको मेरा करके पकड़ रखा है तो तुम्हारी ममता के भार से दबा हुआ यह चित्त, तुम्हारी ममता के भार से दबा हुआ यह मन, स्वस्थ और शुद्ध नहीं होता है।

ज्ञान के आधार पर तुम इनसे सम्बन्ध तोड़ लो तो प्रकृति की सम्पत्ति प्रकृति स्वयं सुधार लेगी। और ईश्वर-विश्वास के आधार पर, सबके सहित अपने को उस अनन्त तत्त्व के समर्पित कर दो। प्रभु की चीज, प्रभु स्वयं सुधार लेंगे। कितनी अच्छी बात है ! तो नई-नई विकृति उसमें पैदा करते जाओ और अपनी ओर से उससे संघर्ष करते जाओ तो जो मन और चित्त की अशान्तियों और विकृतियों को बलपूर्वक रोक लेना पसन्द करते हैं, उनको सफलता नहीं मिलती है। बल का प्रयोग यहाँ नहीं चलता है। यहाँ क्या चलता है ? कि ज्ञानपूर्वक उनसे असंग हो जाओ। नई विकृति विकसित होने का Chance और मत दो। यह पुरुषार्थ हम लोगों का है। पुराना जो कुछ हमने खराब करके रख दिया है, वह स्वयं ही प्राकृतिक प्रक्रिया से धीरे-धीरे शुद्ध हो जाता है।

ज्ञान के आधार पर शरीरों से सम्बन्ध तोड़कर, भीतर और बाहर सब प्रकार के दृश्यों का एक ही वर्ग मानकर, उनसे असंग हो जाना—मन और चित्त की शुद्धि का साधन है। विश्वास के आधार पर सर्व समर्थ प्रभु का आश्रय लेकर, अपने सहित अपने पास जो कुछ था, जो कुछ अपना मान लिया था, वह सब कुछ उनके समर्पित कर देने पर साधक को अप्रयत्न होने का अवसर मिलता है। बहुत बढ़िया बात है। बहुत सरल बात है।

एक साधक महाराज जी के पास आए। उन्होंने कहा कि एक प्रश्न है मेरा, मुझे उत्तर दे दीजिए, तो मैं चला जाऊँ। स्वामीजी महाराज ने प्रश्न पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं यही पूछने आया हूँ कि

मस्तिष्क की जो अशान्ति है और चित्त के जो विकार हैं, वे पूरे के पूरे नाश होते हैं कि नहीं ? दबाब डालने से, जोर डालकर Control करने से, कम तो हो जाते हैं। आप भी इन सब बातों को अच्छी तरह से जानते हैं। बहुत से भाई-बहन सज्जन कोटि के लोग हैं, साधक और सिद्ध न होने पर भी, मन और चित्त की अशान्ति और विकृति पर थोड़ा बहुत नियंत्रण तो रखते ही हैं। साधक कोटि के लोग उस पर ज्यादा नियंत्रण रखते हैं, फिर भी पूरा का पूरा वो मिटता नहीं है। तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि भैया ! सच्ची बात बताऊँ मैं, कि यह समूल नष्ट होता है। पहले अशुद्धि का नाश होगा, ये सब शुद्ध होंगे, फिर इनसे तुम्हारा तादात्म्य टूटेगा, तब नित्य तत्त्व से अभिन्नता होगी। यह तो अनिवार्य बात है।

कैसे होता है ? इसका उपाय बताते समय महाराज जी ने उनको सुझाव दिया कि ज्ञान के आधार पर तुम इनसे सम्बन्ध तोड़ो। और मेरी जो शिकायत थी कि महाराज जी, मेरा मन शान्त नहीं होता, तो एक दिन भरी सभा में महाराज जी ने कह दिया, 'तुम्हारा मन और शान्त हो जाये, यह सम्भव नहीं है।' क्या बात हो गई ? मन तो प्राकृतिक तत्त्व है, मेरा-मेरा कह करके तुमने उसकी दुर्गति की। अब मेरा-मेरा कह करके तुम शुद्ध करना चाहती हो, नहीं होगा। क्या करें महाराज? ज्ञान के आधार पर उससे सम्बन्ध तोड़ो। ये तीनों शरीर, इनके सहित सारे व्यापार, तुमसे भिन्न हैं। तुम्हारी जाति के नहीं हैं। तुम्हारे नहीं हैं। तुम्हारे स्व-स्वरूप में नहीं हैं। ठीक है ? (हास्य) इसलिए तुम इनसे संबंध तोड़ो, तब ये शुद्ध होंगे, अथवा हृदय की भावुकता के आधार पर, सहज विश्वास और सर्व समर्थ की निष्ठा के आधार पर, इन सबके सहित अपने को, उनके समर्पित करके शान्त हो जाओ। बिगाड़ दिया मैंने, कोई चिन्ता की बात नहीं ? हम कितना बिगाड़ेंगे ? उतना बिगाड़ हम कर ही नहीं सकते, जितना सुधारने की शक्ति प्रभु की कृपा में है। उतना बिगाड़ हम नहीं कर सकते। उस महामहिम की महिमा, अपरम्पार है।

इस समर्पण योग में सबसे बढ़िया बात है कि व्यक्ति बिल्कुल निरीह और अबोध बालक की तरह उस महामहिम, उस करुणामयी जगत्-जननी, उस करुणा-सागर जगत्-पिता की गोद में अपने को छोड़ दे-थोड़ी देर के लिए। पकड़े रहोगे, निरीक्षण करते रहोगे, Introspection करते रहोगे, तो कृपा-शक्ति का कार्य जो है, उसका पूरा लाभ अपने को नहीं मिलेगा। जो समर्पित होता है, वह अपने कर्तापन को समर्पित करता है, अहं को समर्पित करता है। और इस प्रकार समर्पण भाव से दो-चार मिनिट के लिए भी, अप्रयत्न होकर उस कृपामयी गोद में विश्राम ले सकें तो उतनी ही देर में, इतना विकास होगा जितना वर्षों का अभ्यास फल नहीं दे सका।

(85)

उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम लोगों को अपने भीतर कई प्रकार की कमी महसूस होती है। जो अपने में अभाव अनुभव करता है, जो किसी भी परिस्थिति में अपने को असमर्थ अनुभव करता है, वह एक सामर्थ्यवान् और सब प्रकार से पूर्ण की कल्पना किए बिना; उसका चिन्तन किए बिना; उस धारणा को जीवन में धारण किए बिना रह ही नहीं सकता। यह खास बात है अब उस नित्य आनन्द और अनन्त रस को परमात्मा की विभूति कह कर स्वीकार करो, चाहे स्व-स्वरूप का प्राकट्य कहो, चाहे नित्य जीवन कहो, चाहे परम तत्त्व कहो-किसी भी भाषा में उसे अभिव्यक्ति दीजिए, लेकिन वह है। यह बड़ी जोरदार बात है। जब तक भीतर किसी भी प्रकार का अभाव हम लोग अनुभव करेंगे, तब तक चैन से रह नहीं सकते। अभाव का पूरा नाश कब होता है ? स्वामीजी महाराज कहते हैं, जब मानव जीवन पूर्ण होता है तब। पूर्णता कहाँ है ? प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति में है; रस की अभिव्यक्ति में है। रस का स्रोत क्या है ?

अगाध प्रियता। और अगाध प्रियता कैसे उदित होती है मनुष्य के जीवन में ? प्रेम स्वरूप परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने से होती है।

अब सभी साधक भाई-बहन जिन्होंने ईश्वर-विश्वास के आधार पर साधन का निर्माण पसन्द किया है, जीवन को पूर्ण करना पसन्द किया है, परमात्मा को रिझाना पसन्द किया है, परमात्मा को पाकर स्वयं अपने को सब प्रकार से कृत-कृत्य करना पसन्द किया है, उन लोगों के लिये ये सब बिल्कुल Practical points हैं। जैसे-जैसे एक-एक कदम का हम अनुसरण करते जाएँगे वैसे-वैसे हमारा जीवन पूर्ण होता जाएगा।

स्वामी जी महाराज ने पाँच महावाक्य बताए। जगह-जगह पर उन्होंने इनका उल्लेख किया है और कहा है कि विश्वास-पथ के साधक अर्थात् प्रेम-पथ के जो साधक हैं, उनको इन पाँच महावाक्यों को धारण करना ही चाहिए। ये मौलिक बातें हैं। किस नाम से पुकारोगे, किस रूप की आराधना करोगे, साकार मानोगे कि निराकार मानोगे, मन्दिर में जाओगे कि मस्जिद में जाओगे, गिरिजाघर में जाओगे कि गुरुद्वारे में जाओगे, जितने भी ये प्रतीक हम शरीर धारियों के लिए बनाये गये हैं, उनमें कौन सा आप पसन्द करेंगे, कहाँ जाएँगे और क्या करेंगे-ये सारी बातें मौलिक पाँच महावाक्यों के आधार पर आधारित हैं। अगर मूल में इन पाँच वाक्यों की स्वीकृति नहीं है, तो किसी प्रकार से प्रेम-तत्व की अभिव्यक्ति नहीं होगी और परमात्मा से अभिन्न होकर जीवन पूर्ण करने का जो लक्ष्य है, उसमें बहुत देर लग जाएगी। अगर इन पाँच बातों को हम मान लेते हैं तो बाहर की सारी साधनाएँ सजीव हो जाएँगी; सफल हो जाएँगी।

साधना को सजीव बनाने के लिए पहली बात क्या है ? कि हम इस सत्य को स्वीकार करें कि हमारी और परमात्मा की जातीय एकता है। परमात्मा ने स्वयं अपनी ही धातु से हम लोगों को बनाया है,

इसलिए हम उनकी जाति के हैं। इसमें किसी भाई-बहन को कोई सन्देह है क्या ?-परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ है क्या, जिससे हम लोग बनेंगे ? उनके अतिरिक्त और किसी की कोई स्वतन्त्र सत्ता है क्या, जो हम लोगों को बनाएगा ? तो इस सत्य को स्वीकार करने में हम लोगों को कठिनाई नहीं होनी चाहिए। पहले से अगर इस ढंग से कभी विचार न किया हो तो आज करिए। ईश्वर भी हैं और हम सब सुख-दुःख के द्वन्द्व में फँसे हुए, ईश्वर में विश्वास करने वाले साधक भी हैं। अपने होने में कोई शक तो नहीं है ? उनके होने में, कभी-कभी बल और गुण का अभिमान आदमी को भ्रम में डाल देता है, लेकिन अपने होने में किसी को कोई शक नहीं है ? 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं दीन हूँ', 'मैं दुर्बल हूँ', 'मैं अकेला हूँ', 'मैं समर्थ हूँ', 'मैं रूपवान हूँ', 'मैं गुणवान हूँ', इस प्रकार 'मैं हूँ', यह तो सब किसी को इसी वर्तमान क्षण में अपने द्वारा भासित हो ही रहा है। अपने को इन्कार हम कर ही नहीं सकते। यह 'मैं' पन, जिसका होना हम लोग हर परिस्थिति में अनुभव करते हैं; शरीरों के नाश के बाद भी रहता है। इस 'मैं' पन का अस्तित्व जो है, जिसमें से वह निकला, उसकी सत्ता को भी हम लोग इन्कार नहीं कर सकते हैं।

जैसे यह मशीन है तो किसी Factory में यह बनाई गई। अगर इस मशीन को हम लोग मानते हैं कि यह बनी हुई चीज है तो जहाँ यह बनी, उसको मानना ही पड़ेगा। जिस धातु से बनी, उसको भी मानना पड़ेगा। इसी तरह से आप सोचिए कि हम सभी भाई-बहनों को जब अपने 'मैं' पन का भास होता है तो यह भास शरीर से निरपेक्ष होता है। शरीर रहे तब भी, न रहे तब भी, 'मैं' पन का भास समाप्त नहीं होता है। ऐसा जो हम लोग अपने 'अस्तित्व' को अनुभव करते हैं, यह अस्तित्व जिस परम सत्ता में से निकला है, उस परम सत्ता को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि अपने में से तो अपने को हमने बना नहीं लिया। तो जहाँ से भी वह निकला है, उस सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अतः यह पहली बात है। यह पहली शर्त है कि हम उस

सत्ता को स्वीकार करें और इस सत्य को अपने द्वारा मान लें कि 'मैं' उन्हीं की धातु का बना हुआ हूँ, उन्हीं की जाति का हूँ।

परमात्मा के साथ जो आपका यह जातीय सम्बन्ध है, इससे बढ़कर गौरव प्रदान करने वाला कोई सम्बन्ध संसार में आपके लिए हो सकता है क्या ? नहीं हो सकता है। अब विचार करके देखो कि हम लोग अपना गौरव परमात्मा की जाति के होने के आधार पर मानते हैं कि ब्राह्मण कुल में पैदा होने की एक Consiousness रखते हैं। अब कोई ब्राह्मण दुःखी न हो। मैं केवल ब्राह्मण के लिए ही नहीं, यूँ ही एक उदाहरण के लिए यह बात रख रही हूँ। जन्म से जिसे श्रेष्ठ वर्ग मानते हैं, उसका महत्त्व अपने सामने ज्यादा आता है, कि हम परमात्मा की जाति के हैं, इसका गौरव ज्यादा आता है ? होना क्या चाहिए ? कि शरीर के नाते से कोई भी बड़ी बात दुनियाँ में मिले तो उसके आधार पर अपना मूल्यांकन कभी नहीं करना चाहिए।

एक बेपढ़ी-लिखी माताजी थी। सत्संग के प्रकाश में उनको शरीरों से असंगता सिद्ध हो गई थी। महाराज जी ने उनका नाम रख दिया था शुद्ध-बोध। केवल नाम ही नहीं था, उनको अशरीरी जीवन का, सब समय स्वाधीनता और आनन्द का अनुभव होता रहता था। सांसारिक दृष्टि से बहुत दुःखमय जीवन था उनका। उनके पास दो चार साधक लोग बैठे बातचीत कर रहे थे कि भिक्षा आई और सब लोग बाँट कर खाने लगे। उनमें से कोई एक साधक कहने लगे कि हम लोग तो इस तरह से, इसमें से नहीं ले सकते। माताजी ने पूछा कि भाई ! क्या बात है ? वे बोले कि हम तो ब्राह्मण हैं। तो माताजी ने कहा कि ठीक है भैया ! आप कह सकते हो अपने को, कि ब्राह्मण हैं, तो मैं कह सकती हूँ कि हम तो ब्रह्म की जाति के हैं। तो कौन सा ठीक रहा ? ब्रह्म की जाति के। देखो, ये बातें केवल कहने सुनने की नहीं। समझने का एक सुख होता है और दूसरों को समझाने का उससे भी बड़ा सुख होता है। इसकी सीमा में नहीं रहना चाहिए।

आज ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से, अपने ही में नित्य विद्यमान, नित्य सम्बन्धी के अनुभव से हम लोग वंचित हैं। तो इस दशा को मिटाने के लिए अभी से इस सत्य को इतनी सजीवता से मानिए कि आप अपना मूल्यांकन कभी संसार के सम्बन्ध से नहीं करेंगे। शरीर तो संसार की जाति का है ही। शरीर का उससे अधिक कोई मूल्य हो ही नहीं सकता। इसलिए शरीर का अभिमान अपने को नहीं रखना है। शरीर की जाति-पाँति, गोत्र, दशा से अपने को नहीं जुटाना है। इसको इसकी जाति के साथ मिलने दो। अपने को अपने सजातीय के साथ रखो।

अब दूसरी बात देखो ! सजातीयता तो है उन्हीं से, और किसी से है ही नहीं; हो ही नहीं सकती। महाराज जी कह रहे हैं कि सत्य के रूप में यह स्वीकार करो कि केवल उन्हीं से हमारा आत्मीय सम्बन्ध है, जो अपना है। एक तो सजातीयता हो गई, दूसरी आत्मीयता। हमारी जाति उन्हीं की है और वे हमारे अपने हैं-सगे जिसको हम लोग कहते हैं। अपने से भी अपने अधिक आत्मीय, प्रिय, हितचिन्तक, रक्षक वे ही हैं। उनसे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना-यह भक्त होने की मौलिक बात है। परमात्मा हैं- ऐसा जिसने स्वीकार किया, वह आस्तिक हो गया। लेकिन उससे मेरा अपना आत्मीय सम्बन्ध है, यह भक्ति के प्रारम्भ के लिए आधार है।

संसार में जितने भी भक्त हुए हैं चाहे वे उच्च वर्ग में पैदा हुए चाहे, निम्न वर्ग में, सम्पन्न परिवार में जन्मे हों, या विपन्न परिवार में, बहुत ही पढ़े लिखे हों, या बिल्कुल अनपढ़ रहे हों-उन सभी के सम्बन्ध में यह एक तथ्य निर्विवाद रूप से पाया जाता है, कि उन भक्तों ने सहज भाव से परमात्मा को अपना आत्मीय कह कर स्वीकार किया था। मीरा जी ने अपना 'पति' कहकर स्वीकार किया, गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'स्वामी' कह कर स्वीकार किया। मैया यशोदा ने 'लाला' कहकर स्वीकार किया, पैगम्बर मोहम्मद ने 'दोस्त' कहकर

स्वीकार किया। ये सभी ईश्वरवादी हैं। ये सभी प्रभु के भक्त हुए, जिन्होंने उस अनन्त परमात्मा को अपना आत्मीय कहकर स्वीकार किया और उसी आत्मीय सम्बन्ध के अनुसार परमात्मा को रस देने में ये भक्त समर्थ हो गए।

मनुष्य की इतनी बहादुरी है कि वह बिल्कुल निर्द्वन्द्व होकर, निश्चिन्त होकर और बड़े अधिकार के साथ परमात्मा को अपना सगा सम्बन्धी बना लेता है। यहाँ एक साधक आए थे। कई बार मेरा उनसे मिलना जुलना हुआ था। अच्छे निष्ठावान् साधक हैं, एक बार वे बीच में से जाने लगे तो मैंने कहा कि भाई जी ! आप क्यों जा रहे हैं ? कहने लगे कि पोती की शादी है। वह लड़की कहती है कि बाबूजी नहीं आएँगे तो मैं वेदी पर बैठूँगी नहीं, इसलिए जाना ही पड़ेगा। मैंने उनको याद दिलाया, कहा कि नरसी मेहता के यहाँ समधी के घर से चिट्ठी आई थी। वे ले गये ठाकुर जी के मन्दिर में, बहुत ही detached बिल्कुल ही अनासक्त। उनकी अपनी धेवती की शादी थी, (लड़की की लड़की) पर उनको अपना उससे कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता था। नाचते-नाचते, गाते-गाते चिट्ठी लेकर वे गए मन्दिर में। ठाकुर जी के चरणों में पत्र रखा और कहने लगे, 'ठाकुर तेरे समधी की चिट्ठी आई है। हमको क्या करना है, तेरा समधी, तू जाने! अपने को कोई मतलब ही नहीं है। मैंने उन सज्जन को याद दिलाया। मैंने कहा-भाई जी ! एक बार प्रयोग करके तो देखो, बढ़िया मौका है आपके सामने। तो कहने लगे-बहन जी ! बात तो बहुत बढ़िया है। मैंने कहा कि आप जाइए यहाँ से, अकेले में बैठिए थोड़ी देर, और सोचकर देखिए। अगर यह बात सत्य है कि आपकी पोती की शादी है, तब तो जरूर चले जाना चाहिए। अगर यह बात सत्य है कि ठाकुर जी की पोती की शादी है, तो जाने की बिल्कुल जरूरत नहीं है।

स्वामी जी महाराज ने दो मिनिट में, इन पाँच वाक्यों को सुना दिया। फिर मैं याद दिला दूँ।

(१) हम लोगों की परमात्मा से जातीय एकता है।

(२) हम लोगों की परमात्मा से आत्मीय एकता है, अर्थात् हम सब उनके आत्मीय हैं। हमारे वे ही आत्मीय सम्बन्धी हैं। नित्य सम्बन्धी हैं, अपने हैं।

(३) तीसरी बात, उनसे मुझे कुछ नहीं चाहिए।

(४) चौथी बात, सब कुछ उनका है।

(५) पाँचवीं बात यह है, कि मैं उनका हूँ।

अब हम लोग इन बातों को अपने सामने रखकर देखें कि इनका अनुसरण करने में क्या कठिनाई है ? हम लोगों का इतना समय गया। कितना हम मान पाए ? और कितना अभी बाकी है ? उनको आज मानकर ही छोड़ेंगे। अपना-अपना दिल टटोलकर देखो भाई ! अगर इस सत्य में आप आस्था रखते हैं कि सचमुच ऐसा होता है, और सचमुच मैं ऐसा कर सकता हूँ, तो सन्त की कृपा और भगवत्-कृपा के भरोसे, मैं बहुत ही प्रसन्नता के साथ कह सकती हूँ कि किसी भी तरह से अपने को मना लीजिए, जो केवल स्वीकृति मात्र की बात है, उसके प्रभाव से जीवन में इतने रस की अभिव्यक्ति होती है कि आप अन्दाजा ही नहीं लगा सकते। उस रस स्वरूप की आत्मीयता की स्वीकृति मात्र से शुष्क जीवन में रस की अभिव्यक्ति जब होने लगती है, तो जिन विकारों से संघर्ष करके आप थक गए थे, उन विकारों का पता ही नहीं चलता। समय शांति और आनन्द के साथ निकल जाता है। काफी-*काफी दिनों* के बाद याद आता है कि अरे ! जिन विकारों को हटाने के लिए हम परेशान थे, अब तो बहुत दिनों से उनका दर्शन ही नहीं हुआ। क्यों ? क्योंकि उस पवित्र प्रेम के रस की एक बूँद आपके हृदय को सरल बनाने में समर्थ है; सरस बनाने में समर्थ है।

लेकिन रस का भूखा बेचारा मनुष्य कहाँ-कहाँ जगत् की धूल फाँकता फिरता है। रस का प्यासा मन बेचारा पागल होकर कहाँ-कहाँ

भटकता फिरता है। उसकी चंचल गति-मति का कोई ओर-छोर ही नहीं है। साधक लोग बैठे-बैठे मन को गाली देते रहते हैं कि क्या करें? हम तो चाहते हैं कि परमात्मा के पास रहें और यह मन ऐसा खराब है कि यहाँ-वहाँ दौड़ रहा है। अरे ! यदि वह बेचारा खराब है तो उसका बस चले तो वो ही तुम पर मुकदमा चलाए कि मैं तो परमात्मा के यहाँ से बिल्कुल शुद्ध आया था, तुमने अपनी सुख-लोलुपता से मेरी दुर्दशा की, अब मुझे दोषी बनाते हो। यह बड़ा गहन प्रश्न है मानव-जीवन का, और बहुत ही व्यावहारिक स्तर पर साधना के बिल्कुल दैनिक जीवन में साधकों के काम आने वाली बात है।

स्वामी जी महाराज हम लोगों के सामने पाँच वाक्यों में कह रहे हैं। अब मैं अपनी कथा सुना दूँ जरा सी, आपको बहुत रुचिकर तो लगेगी ही और उसके साथ अपने को आगे बढ़ने में मदद भी मिल सकती है। मैंने महाराज जी को कहा था कि दुनियाँ में अपना कहने के लायक कोई दिखता नहीं है और बिना किसी को अपना बनाए, जीवन सूना-सूना लगता है तो हमारी समस्या का समाधान कीजिए।

उन्होंने कहा कि एक है बहुत बढ़िया, बहुत प्रेमी स्वभाव का, और उसमें किसी तरह की कमी भी नहीं है। भगवान का नाम नहीं लिया। भगवान कहते तो मैं बिगड़ जाती। तो कहा, एक है, मेरा मित्र है। देवकी जी ! उसको जो अपना बना लेते हैं उनसे बदले में वह प्रेम भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता है। अगर तुम स्वीकार करो, तो मैं सगाई की बात करूँ। मैं सुनती रही, मुझे मालूम तो हो ही गया कि किस ओर संकेत है महाराज जी का। मैंने कहा कि स्वामी जी, मुझे एक बड़ी भारी दुविधा है। आपका कहना तो मैं मान लेती, लेकिन एक शंका है मेरी, जिस कारण मैं अभी तक अलग से बैठकर सुन रही हूँ, मान नहीं रही हूँ। शंका यह है कि मैं अपनी ओर देखती हूँ तो बहुत दयनीय दशा दिखाई देती है। कितना तो भय है जीवन में, कितनी चिन्ताएँ हैं, कितने अभाव हैं, कितने लालच हैं, कितना राग-द्वेष है। ऐसी जो मेरी दशा है उससे

मालूम होता है कि जैसे काँटे चुभ रहे हैं जीवन में। तो मेरे जैसे साधक का साहस कैसे होगा ? यह आप जिस ओर संकेत कर रहे हैं, उससे मैं सगा सम्बन्धी होने का प्रयास कैसे करूँ।

यह मैंने बात बनाने के लिए नहीं कहा, सन्त के साथ बहस करने के लिए नहीं कहा, सचमुच वह मेरी दशा थी। अपने को आत्मीय कहने के लायक नहीं समझती थी। कैसे कहें, कौन मुख से कहें। ऐसा भी कभी हो सकता है ? जो परम सुन्दर है और सारे विश्व को सुन्दरता प्रदान करता है, उससे मैं इतने दुर्गुणों से भरी, कौन मुख से कहूँ। तो स्वामी जी ने कहा कि अच्छा देखो, प्रेमी भक्तों ने तो यह कह दिया है कि 'हे प्रभु ! तू मेरा'। मैया यशोदा ने कहा, 'मेरा लाला'। मीरा ने कहा 'माई मैंने गोविन्दा लीनो मोल'। इतना Confidence आ गया उनको भीतर से, प्रियतम से निकट होने का, इतना प्रत्यक्ष हो गया उनके सामने, कि वह दुनियाँ को सुना करके कहने लगीं कि 'माई मैंने गोविन्दा लीनो मोल'। मैंने उनको मोल खरीद लिया है। उनके पास इतनी प्रीति थी और उन्होंने प्रीति की सगाई के बल पर, उस प्रेम स्वरूप को अपना बना लिया और वे प्रेम के धनी, अपने भक्तों के हाथ बिक जाने में अपनी महिमा मानते हैं। उनको अच्छा लगता है।

महाराज जी ने कहा कि ऐसे भावपूर्ण भक्त हुए संसार में, जिन्होंने खुले दिल से, डंके की चोट, दुनियाँ को सुनाकर कह दिया-हे प्रभु ! तू मेरा । लाली, तुम्हारा साहस नहीं होता है, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। तुम अपनी असमर्थता, अपनी वेदना, अपना दुःख-सब सहित, अपने को उनके समर्पित कर दो और कह दो कि हे प्यारे ! मैं जैसी भी हूँ, तेरी हूँ। ऐसा कह दो। तो सामर्थ्यवानों ने कह दिया, 'हे प्रभु ! तू मेरा है'। असमर्थों ने कह दिया, 'हे प्रभु ! मैं तेरा हूँ'।

मैं, अहं का अभिमान पालने वाली, कई महीनों का समय लग गया यह सोचने में, कि इतनी गन्दगी लेकर कैसे जाऊँ। अच्छा हो पहले सफाई हो जाए, पहले दोष मिट जाएँ, पहले लोभ मिट जाए, तो

साफ होकर, स्वस्थ होकर अच्छी बनकर जाऊँ, तो कहूँगी 'हे प्रभु ! मैं तेरी।' कुछ समय लगाया, कुछ बल लगाया कि सफाई करूँ, पर हुआ नहीं। तो मैंने कहा महाराज जी ! मैं दोनों में से कुछ नहीं कर सकती। यह कहने का साहस नहीं है कि 'हे प्रभु तू मेरा' और यह कहने का भी साहस नहीं है कि 'मैं तेरी'। चाहें तो वे खुद सुन लें। समय लगाना पड़ा। मैं यही जानती थी, सफाई तो मुझसे कुछ हो नहीं पाई, लेकिन संत की कृपा होगी, भगवत् कृपा होगी, चाहे जैसे भी हो, मुँह खोल करके भले मैंने कहा नहीं हो, लेकिन भीतर-भीतर अपनी दुर्गति की पीड़ा को बताती रही। प्रतिक्रिया में उस दुःखहारी की ओर से सहारा मुझे मिलता रहा। कैसे अहं की धारणा में परिवर्तन हुआ, मैं कुछ कह नहीं सकती हूँ, लेकिन हो गया।

आज, आप भाई-बहनों से उन्हीं की महिमा को सुनाने में आनन्द आ रहा है। अब अपने सामने रख लीजिए यह बात। इससे अधिक दुर्गति तो आप भाई-बहनों की है नहीं। सहज भाव से, स्नेही हृदय लेकर, आप सब कार्य करते हैं, समाज के साथ रहते हैं। स्नेह-सिक्त हृदय आपका है। अब आगे बढ़ने की बात है। तो बढ़ें, चाहे जिधर से अच्छा लगे, उधर ही से। इस स्वीकृति को सजीव बनाइए, छोड़िए मत। और कोई दूसरी बात सुनिए मत और कोई चीज पढ़िए मत। कोई कारण नहीं है कि यह सत् आपके जीवन में सजीव न हो जाए और जन्म-जन्मान्तर की नीरसता मिट न जाए। कोई कारण नहीं है। मनुष्य ने हवा में उड़ना सम्भव माना, तो उड़ने लगे। मनुष्य ने जल के ऊपर पुल बनाना सम्भव माना, तो पुल बनाने लगे। मनुष्य ने चन्द्रलोक की यात्रा को सम्भव माना, तो कर लिया। इन बातों में मनुष्य को बड़ा आत्म-विश्वास है। जिसका अन्त, मृत्यु का भय है उसके साथ में तो आपका बड़ा उत्साह है और जिसका अन्त अमर जीवन है, कभी न मिटने वाला आनन्द है, कभी न घटने वाला प्रेम का रस है, उसके लिए और कितने दिन लगेंगे, सोचो तो भाई !

दो ही सूत्र आज हुए। अब इस पर आज थोड़ा मनन कर लें अपने को समझा लें। किसी भी प्रकार से अपने को मना लेना है। आपको मैं क्या सुनाऊँ। आपको सुनाना तो मेरे लिए सहज है। आपको समझाने के लिए तो मैं बड़ी बहादुर हूँ। लेकिन इसके पहले, सन्त की वाणी सुन करके, अपने को कसौटी पर रखकर मैंने देखा है। आप भाई-बहनों से भी निवेदन कर रही हूँ कि अपने-अपने को, कसौटी पर रखकर देखने का समय अपने को दो। एक चर्चा सुन ली। फिर दूसरी, फिर तीसरी चर्चा सुन ली। तो परिणाम क्या है ? वैज्ञानिक परिणाम यह है कि ऊपर से भरते जाओगे-नीचे से निकलता जाएगा। खूब अध्ययन किया है मैंने इस विषय पर, और खूब Practiical experiment किया है इस सम्बन्ध में। एक पर दूसरा, दूसरे पर तीसरा, तीसरे पर चौथा। ऊपर-ऊपर से भरते जाओ, नीचे-नीचे से निकलता जाएगा। ठहरने के लिए उसको कोई मौका ही नहीं दिया जाए, तो कैसे ठहरे! और फिर आप कहते हैं, इतना सुना है कि ठहरा ही नहीं। इन्तजाम ही आपने ऐसा किया था कि न ठहरे। आखिर यह भी तो मशीन ही है और क्या है ? टेप पर आप वचन भर लेते हैं और थोड़ी देर बाद उसी पर दूसरा भर लो, तो दोनों सुनने में आएगा क्या? क्या होगा-दूसरा सुनाई देगा, पहला खत्म। इसी पर तीसरा भर लो तो तीसरा सुनाई देगा, पहला व दूसरा खत्म। ऐसे ही यह भी एक मशीन होती है, प्रकृति की बनाई हुई, भौतिक तत्त्वों से रची हुई। जो काम यन्त्र से होता है, वही काम शरीर से होता है। तब भरते जाओ, भरते जाओ। पीछे का सब निकलता जाएगा, तो काम क्या आएगा ?

इसलिए, मैं बहुत जरूरी बात आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि सचमुच आप Free हैं इस मामले में, कि ईश्वर विश्वास का पंथ आपने पकड़ा है, तो शरीर के नाश होने से पहले, वह ईश्वर मिल ही जाना चाहिए और जन्म-जन्मान्तर की सारी समस्याओं का समाधान हो ही जाना चाहिए। ऐसा अगर आपका निश्चय है तो वैज्ञानिक स्तर पर, दार्शनिक स्तर पर, भावात्मक स्तर पर, ठीक प्रयोग करिए जीवन

पर। बहुत अच्छा फल आपको दिखाई देगा और मेरा विश्वास तो इसलिए बढ़ गया कि मैंने अपने को जब हारते हुए पाया तब-तब सन्त और भगवन्त ने अपनी करुणा-कृपा से मेरे रास्ते की बाधाओं को मिटाया। तो मुझे बहुत दृढ़ता के साथ उनके मंगलमय विधान में आस्था जम गई। ऐसे ही जितना तुम्हें करना है, तुम करो और जहाँ तुम्हारा किए नहीं चलेगा, वे खुद ही कर देंगे। हर कदम पर वे मदद करने के लिए तैयार हैं। हमारे भीतर ही विद्यमान हैं। उन्हें देर ही नहीं लगती और हमारे समान हठी स्वभाव होना और भी अच्छा हो गया।

हठीला स्वभाव होने का क्या मतलब है ? खूब प्रयास करती रही हूँ, अपने को गन्दगी से ऊपर उठाने के लिए, और प्रयास करने में उनको प्रसन्नता नहीं मिलती है। विकारों के नाश के लिये तो मैं पुकारती कभी नहीं थी कि अब मेरा वश नहीं चल रहा है, तुम्हीं कृपा करो। कभी भी पुकारती नहीं थी। लेकिन जब मैं छटपटाती थी तो वे खुद अपने आपसे मदद कर देते थे और जब मेरा जी हल्का हो जाता था तो फिर ध्यान में आता था कि मेरे किए तो हो ही नहीं रहा था, यह कैसे हो गया ? तब मैं प्रणाम करती, तब मैं कृतज्ञता प्रकट करती कि अच्छा ! वे मुझमें बसते हैं, बड़ी भूल हो गई, मैंने उनकी उपस्थिति और करुणामय व्यवहार को पहले से स्वीकार नहीं किया। अगर स्वीकार कर लिया होता, तो इतनी परेशानी नहीं झेलनी पड़ती। बाद में ध्यान में आता, काम जब कर चुकते, मेरे को उबार देते, जब हल्कापन आ जाता, जब निश्चिन्तता आ जाती, तो भीतर में उनकी विभूतियों के प्राकट्य से आनन्द भर जाता। तब मैं सोचती यह कहाँ से आया। हम तो कह रहे थे कि हो ही नहीं रहा था, तो बाद में ध्यान में आता कि स्वामीजी ने कहा था, जहाँ साधक हारता है, करुणामय की करुणा का दरवाजा खुलता है। तो अच्छा ! मैंने नहीं पुकारा, तो भी आपने करुणा बरसा दी। तब आप अच्छे हैं, बढ़िया हैं, ठीक हैं। बस ! अब शान्त हो जाओ।

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग विश्वास-पथ की दृष्टि से, ईश्वर विश्वास को सजीव बनाने के उपायों पर विचार कर रहे हैं। पाँच वाक्य श्री महाराज जी ने बताए।

(१) परमात्मा से अपना नित्य सम्बन्ध है।

(२) परमात्मा से हम सभी का जातीय सम्बन्ध है।

(३) परमात्मा से हम सभी का आत्मीय सम्बन्ध है।

(४) उनसे अपने को कुछ नहीं चाहिए।

(५) और अपने सहित, अपने पास जो कुछ दिखाई देता है, वह सब उनका है।

सर्वस्व समर्पण कहाँ सजीव होता है ? निष्कामता की पृष्ठ-भूमि में। प्रथम तीन वाक्यों के सम्बन्ध में कल तक हम लोगों ने कुछ-कुछ चर्चा की थी। शेष दो बातें और रह गईं, जिसकी चर्चा अब होगी।

सब कुछ उनका है, अपना कुछ नहीं है और अपने को कुछ नहीं चाहिए। निष्कामता की पृष्ठ-भूमि में समर्पण सजीव होता है। सब कुछ परमात्मा का है-ऐसा मानने में हम लोगों की कोई अपनी उदारता काम करती हो या अपनी कोई विशेषता हो, ऐसी बात नहीं है। जब परमात्मा को ही सृष्टि का मालिक कह कर स्वीकार करते हैं, तो सारी सृष्टि में से किसी भी वस्तु पर हमारा अधिकार कैसे हो सकता है ? एक मिलकियत के दो मालिक कैसे हो सकते हैं ? ऐसा विचार करने से भी यही बात ठीक मालूम होती है कि इस प्रतीत होने वाले जगत् में किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत कुछ नहीं है। शरीर अपने पास दिखाई देता है तो उसको हम बहुत निकट मान लेते हैं, उस शरीर को अपना करके मान लेते हैं। इस भूल के कारण बहुत सी वस्तुओं से और बहुत से व्यक्तियों से लगाव बन जाता है।

विवेक के प्रकाश में विचार करके देखो तो ऐसा मालूम होता है कि भौतिक तत्त्वों का बना हुआ शरीर, प्राकृतिक विधान से संचालित शरीर बन गया है। इस भौतिक सीमा के भीतर जिसको maintain किया जा रहा है, इसी के भीतर, प्राकृतिक शक्तियों की सहायता से और प्राकृतिक विधान से इसमें क्षति आरम्भ होती है, बिगाड़ होता है, गिरावट आती है। ये सारी प्रक्रियाएँ, सार्वभौमिक सीमा के भीतर प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा संचालित होती हैं। हमने इस शरीर को बनाया नहीं और हम इसको रख भी नहीं सकते और अपनी मर्जी के अनुसार इसका जैसा चाहें, वैसा उपयोग भी नहीं कर सकते। फिर भी इसको अपना मानते रहते हैं-इसी भूल के कारण इसमें हमारी आसक्ति हो जाती है और इसी भूल के कारण, जन्म-जन्मान्तर तक, हम वस्तुओं के लोभ और व्यक्तियों के मोह में फँसे रहते हैं।

अब विश्वास-पथ की साधना के लिए, जिसने परमात्मा में विश्वास किया, उनको सृष्टि का मालिक माना, उस साधक के लिए बड़ी आवश्यक बात यह होती है कि वह सब कुछ परमात्मा का मान ले। है तो उनका ही, कभी भी इससे अलग कोई बात और हो नहीं सकती है, लेकिन अब तक हमने अपनी भूल से, एक शरीर को अपना माना, दूसरे शरीर को पराया माना। इस एक के सम्बन्ध से बहुतों से राग हो गया और बहुतों से द्वेष हो गया। आसक्ति, ममता, राग-द्वेष इन दोषों से हम पीड़ित हो गए। और अपनी आवश्यकता कैसी है ? आवश्यकता ऐसी है कि कितना अच्छा होता कि हृदय में सदैव प्रेम का रस लहराता।

ऐसी सरसता की आवश्यकता हर भाई-बहन अनुभव करते हैं, लेकिन प्रेम-रस की कमी में नीरसता से पीड़ित हम अपने को पाते हैं और अपनी ओर देखते हैं तो राग-द्वेष की ज्वाला दिखाई देती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह विकारों की दशा दिखाई देती है। उस दशा को मिटाने के लिए हम सब लोग, मानव-जीवन के सत्य को स्वीकार करने के लिए सत्संग की मण्डली में बैठे हैं। तो दो बातें जो आज

विचार के लिए सामने हैं, उनमें से एक बात यह है कि अगर आप ईश्वर विश्वासी हैं, तो अपने सहित अपने पास जो कुछ है, इस पर ममता की मोहर मत लगाइए। सब कुछ प्रभु का है, सब कुछ उन्हीं का है, इसको स्वीकार करिए। यह हमारी कल्पना नहीं है, यह हमारी मान्यता नहीं है, यह सत्य है कि किसी का व्यक्तिगत कुछ नहीं है। किसका है ? भौतिक वाद की दृष्टि जिसने जगत् की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया, वह कहेगा कि सब कुछ जगत् का है और जिसने आस्तिक होने के नाते, ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया, वह कहेगा कि सब कुछ ईश्वर का है।

कभी-कभी ऐसा सोचने में कि मेरा कुछ नहीं है, आदमी को भय लगता है क्योंकि भीतर से उसे अभी अचल आधार नहीं मिला है। वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़कर, उनको अपना मानकर, उस भ्रमात्मक आधार पर वह समय काट रहा है। उसको जब सलाह दी जाती है कि इस सत्य को स्वीकार करो कि तुम्हारा व्यक्तिगत कुछ नहीं है, तो उसका साहस ही नहीं होता है यह कहने का, उसे डर लगता है। भीतर से वह अधीर हो जाता है कि हाय ! मेरा कुछ भी नहीं है, तो किसके आधार पर जिऊँ ? उसकी घबराहट होती है, लेकिन प्रभु-विश्वासी भक्त-जन यह सुझाव देते हैं कि भाई मेरा नहीं है, ऐसा मानोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। एक तरह से तुम अपने को ममता से मुक्त करोगे तो बड़ा विकास होगा तुम्हारा। सब कुछ परमात्मा का है, और परमात्मा बड़ा समर्थ मालिक है। तुम क्यों डरते हो ? डरने की कोई बात नहीं है। घबराने की कोई बात नहीं है। इस तरह ईश्वर-विश्वासी साधकों के लिए, बहुत ही आवश्यक बात यह है कि अपने सहित अपने पास जो कुछ दिखाई देता है वह सब परमात्मा का है- इस सत्य को स्वीकार कर लें।

अब देखिए, संसार बड़ा विस्तृत है। स्थूल शरीर और ज्ञानेन्द्रियाँ जो आँख, कान आदि हैं, इनकी सहायता से हम संसार के बहुत थोड़े से हिस्से को, देख-सुन सकते हैं। सारे संसार को नहीं देख-सुन सकते

हैं। वह बहुत विस्तृत है। कोई भाई-बहन ऐसे नहीं हैं, जो सारे संसार को कहें कि मेरा है, और अगर कोई ऐसा कहना पसन्द करे, तो कोई उसको ऐसा कहने देगा भी नहीं। बड़ी छोटी सी बात है, जहाँ अटक कर, हम अनन्त परमात्मा के अनन्त प्रेम से वंचित रह जाते हैं। सोचो, इस लम्बी-चौड़ी, धरती में से एक टुकड़े को लेकर हम कहते हैं, 'यह जमीन मेरी है'। और बहुत सारी संसार की वस्तुओं में से थोड़ी सी वस्तुएँ अपने पास रखकर हम कहते हैं, 'ये मेरी हैं।' सबको तो कह नहीं सकते। असंख्य-असंख्य शरीर धारी हैं संसार में, उनमें से थोड़े से लोगों को हम कहते हैं, कि ये मेरे हैं। इस भूल से आसक्ति उत्पन्न होती है। हृदय में शुष्कता, नीरसता, अभाव भर जाता है और उसके कारण जीवन बहुत दुःखी हो जाता है, अच्छा नहीं लगता, जीने में कुछ मजा नहीं आता, भय और चिन्ता से छुट्टी नहीं मिलती। जिन वस्तुओं को आप लेना चाहते हैं, वे नहीं मिलती हैं तो अभाव सताता है, गरीबी मालूम होती है और जिन वस्तुओं को आप लेना चाहते हैं, प्रकृति के विधान से वे वस्तुएँ मिल जाती हैं तो मिली वस्तुओं के खो जाने का भय सताता रहता है।

अब देखिए, वस्तुएँ न मिलें तो अभाव सताए और मिल जाएँ तो उसके नष्ट होने की चिन्ता सताए यह भी कोई जिन्दगी है ? कभी भय में फँसे रहो, कभी चिन्ता में फँसे रहो, कभी अभाव में फँसे रहो, कभी नीरसता से व्याकुल रहो। यह कोई जिन्दगी नहीं है। भाई ! सन्त जन सलाह देते हैं कि ईश्वर विश्वास के आधार पर प्रभु की आत्मीयता से उदित प्रियता व्यक्ति के भीतर उपजती है तो बड़ा अच्छा लगता है। प्रेम का रस ऐसा विलक्षण है कि पहले तो वह उस साधक को ही भरपूर करता है। हृदय में प्रेम का रस बढ़ा नहीं कि उसके भीतर की सब विकृतियाँ अपने आप से ही मिट जाती हैं, धुल जाती हैं, साफ हो जाती हैं।

स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के व्यापार का अध्ययन करते-करते, यह भी देखने को मिला कि प्रेम-भाव की सरसता किसी के हृदय में बढ़

जाए तो बहुत सी शारीरिक और मानसिक बीमारियाँ मिट जाती हैं। जीवन की सरसता के आते ही, बीमारी नष्ट हो जाती है। कोई बाहर की औषधि की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये भव रोग जितने भी हैं, स्थूल शरीर के स्तर पर प्रकट हुए तो क्या, और सूक्ष्म शरीर के स्तर पर मानसिक विकारों के रूप में प्रकट हुए तो क्या, सब अपनी भूल से उत्पन्न होते हैं। रस के अभाव में ही, नीरसता की पीड़ा से ही सब राग उत्पन्न होते हैं। भय और चिन्ता के कारण से बहुत सी बीमारियाँ होती हैं, जैसे डाईबिटीज, डीसैन्ट्री, ब्लड प्रेशर, साँस, गैस की बीमारी और ऐलर्जी आदि अनेक प्रकार की बीमारियाँ मानसिक चिन्ता और भय से उत्पन्न होती हैं।

बड़ा ही अस्वाभाविक जीवन है, प्रेम-भाव से शून्य रहना, हृदय में शुष्कता और नीरसता को रहने देना। सन्त जन सलाह देते हैं कि भाई ! रस के बिना तुमको जीना अच्छा नहीं लगता है तो रस का अथाह सागर तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है, तुम्हारे भीतर-बाहर सब तरफ समान रूप से भरपूर है, उस पर अगर तुम्हारी दृष्टि जाती, यदि उसका सहारा तुमने लिया होता, तो तुम्हारी दुर्दशा का अन्त हो जाता। ऐसा वे अनुभवी सन्त जन कहते हैं। कल्पना के आधार पर नहीं कहते हैं, हम लोगों का मन बहलाव करने के लिए नहीं कहते हैं। उन्होंने ऐसा करके देखा है और अपने सारे दुःखों का अन्त करके आनन्दमय जीवन को अनुभव किया है। उस आनन्द से अभिभूत होकर, हमारे जैसे भटके हुए लोगों को देख कर सन्तों के हृदय में करुणा द्रवित होती है और उनका जी होता है कि कितना अच्छा होता कि हर भाई-बहन को सन्मार्ग दिख जाता और अपना कल्याण करके वे भी ऐसे ही आनन्दित हो जाते, जैसे हमने आनन्दित होकर जीवन को देखा है। ऐसा होता है।

Light of Asia नामक ग्रन्थ में यह पढ़ने को मिला कि परम कारुणिक महात्मा बुद्ध के जीवन में, इस बात की बड़ी व्याकुलता रहती थी कि जो मनुष्य पुरुषार्थ से परम स्वाधीन, परमानन्दमय जीवन पा

सकता है, वही मनुष्य अज्ञान के अन्धकार में, दुःखों के भार से दबा हुआ धरती पर बिना पैर के कीड़े की तरह रेंग रहा है। यह महात्मा बुद्ध की बात है। मनुष्य की इस दशा को देखकर उस महापुरुष के हृदय में करुणा उद्वेलित होती रहती थी और उस करुणा से प्रेरित हो करके वे महापुरुष ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त, अविराम गति से घूमते रहते थे, भटके हुए भाई-बहनों को सन्मार्ग दिखाने के लिए। अनुभवी जनों से रहा नहीं जाता है। ऐसे ही अनुभवी सन्तों ने हम लोगों की आँखों के आगे से निराशा और अन्धकार को मिटाने के लिए यह अनुभव-सिद्ध सत्य हमें सुनाया। ईश्वर को मानते ही हो और बिना माने रह ही नहीं सकते, तो इतनी सजीवता से मानो कि उसका मानना तुम्हारी लौकिक और पारलौकिक, सब प्रकार की समस्याओं का समाधान कर दे, और फिर किसी और को मानने की आवश्यकता शेष न रह जाए।

अगर सम्बन्ध जोड़ते हो तो उससे जोड़ो जो सदा-सदा से तुम्हारा है और तुम्हारा ही होकर रहता है। कभी भी उससे तुम्हारा सम्बन्ध-विच्छेद होता ही नहीं है। सब समय, सदैव, सर्वत्र, नित्य, निरन्तर वह तुम्हारे ही में विद्यमान है। हम लोगों के लिए ये सब बातें सुनी हुई हैं। सुनी हुई बातें जो सत्य के आधार पर हैं, उनको मान लिया जाए तो उनका अनुभव हर व्यक्ति के जीवन में हो जाता है। ईश्वर विश्वासी भाई-बहनों को थोड़ी सजीवता के साथ कदम उठाना चाहिए। यह केवल अपना मिथ्या भय है कि आज तक मैंने इस बात को पूरी तरह से नहीं माना कि मेरा कुछ नहीं है और मेरे सहित इस जगत् में मेरा करके जो कुछ दिखाई देता है वह सब परमात्मा का है। कोई चिन्ता की बात नहीं अब तक नहीं माना तो अब से सही। इसमें कोई शक, मतभेद, नहीं हो सकता। किसी तर्क के आधार पर इस बात को काटा नहीं जा सकता कि आपका व्यक्तिगत कुछ नहीं है। आज से इस सत्य को स्वीकार करना ही चाहिए कि जो कुछ दिखाई देता

है, सब परमात्मा का है। आप सोचिए कि अगर कुछ भी आपका अपना व्यक्तिगत होता, तो आपकी इच्छानुरूप वह रह सकता था। लेकिन वह रहता नहीं है। इसलिए किसी का व्यक्तिगत कुछ नहीं है। यह सत्य है कि ईश्वर विश्वास की दृष्टि से जिन भाइयों ने, जिन साधकों ने केवल ईश्वर की ही स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है, उनके लिए कोई कठिन बात नहीं है कि वे मान लें कि सब कुछ परमात्मा का है। सब कुछ परमात्मा का मान लेने के बाद दो परिणाम बड़े सहज ही निकलते हैं, जिसको आप सभी भाई-बहन अनुभव कर सकते हैं।

एक तो यह कि 'मेरा कुछ नहीं है'-इसको मानने से ममता के रोग से मुक्त हो जाने पर वस्तुओं का चिन्तन मस्तिष्क से खत्म हो जाता है। और 'सब कुछ उनका है' ऐसा मान लेने का एक सहज परिणाम यह होता है कि संसार की जिस-जिस वस्तु पर आपकी दृष्टि जाएगी, वह वस्तु आपको प्यारे की याद दिलायेगी। आपने देखा होगा, घरों में छोटे-छोटे बच्चे होते हैं, उनके खेलने के लिए बहुत से खिलौने होते हैं। माँ-बाप की दृष्टि जब खिलौनों पर पड़ती है तो उन्हें बहुत ही अच्छा लगता है। बच्चे के सम्बन्ध से बच्चे का खिलौना देखकर माँ-बाप को बड़ा आनन्द आता है। उनका हृदय स्नेह से उमड़ने लगता है। ऐसे ही जो ईश्वर विश्वासी हर वस्तु को अपने प्यारे प्रभु की मान लेता है, उसकी दृष्टि जिस-जिस वस्तु पर पड़ती है; उस-उस वस्तु के द्वारा उसे अपने प्यारे की याद आती है और याद आने मात्र से उसके हृदय में प्रेम उमड़ता है। यह अपनेपन के सम्बन्ध का बड़ा ही सुन्दर प्रभाव है। इस प्रकार का अपना मानना जीवन को बड़ा ही मधुर बना देता है।

एक बार की घटना है कि मैं अपनी सहेलियों के साथ बगीचे में घूम रही थी। हमारी एक सहेली के पिता बगीचे में कुछ काम कर रहे थे। धूप में उनके बदन पर कुछ पसीना आ रहा था। उनके वृद्ध पिता घर में से निकले और कहने लगे कि धूप है, पसीना आ रहा है, काम

छोड़ दो। वे सज्जन फूल-पौधों की सेवा कर रहे थे, उसमें उनका मन लग गया था। उन्होंने सुना ही नहीं और छोड़कर हटे भी नहीं। वे वृद्ध व्यक्ति भीतर गए और अपने तीन साल के पोते को गोदी में उठाकर ले आए और धूप में खड़े हो गए। उसके पिताजी कहने लगे कि बाबू जी ! बच्चे को धूप लग रही है, ले जाइए भीतर। तो वे कहने लगे कि तेरे बच्चे को धूप लग रही है तो तुझे दु:ख हो रहा है, मेरे बच्चे को धूप लग रही है सो। मैं कह रहा हूँ कि पौधों में काम करना छोड़ दो। उठ जाओ, आ जाओ घर के भीतर तो क्यों नहीं करते ? क्यों नहीं सुनते ? अब देखिए ! कितना प्यार का वातावरण है। कितनी बढ़िया बात है !

अब सोचिए ! मनुष्य मनुष्य से सम्बन्ध मानता है, यद्यपि उसमें कोई सार नहीं है। यद्यपि वह माना हुआ सम्बन्ध मृत्यु के भय से मुक्त नहीं कर सकता। लोभ-मोह से, चिन्ता और अभाव से मुक्त नहीं कर सकता, फिर भी उस माने हुए सम्बन्ध का प्रभाव देखिए ! बाप-बेटे का प्यार देखिए, कितना मीठा है ! कितना बढ़िया है ! संत जन कहते हैं कि जो नित्य सम्बन्ध है उसको अगर तुम स्वीकार करोगे तो क्या उसका प्रभाव जीवन पर नहीं होगा ? जरूर होगा। जब अनित्य सम्बन्ध का प्रभाव होता है, तो नित्य सम्बन्ध का प्रभाव क्यों नहीं होगा। और नित्य सम्बन्ध के प्रभाव होने का अर्थ क्या है ? उदाहरण देखिए। एक खिला हुआ फूल भक्त-जन देखते हैं तो देखकर उसी पर मुग्ध हो जाते हैं। अहा ! मेरे प्यारे ने यह बनाया ! जिसने इस पुष्प को इतनी सुन्दरता दी वह मेरा प्यारा स्वयं कितना सुन्दर होगा ! पुष्प रह गया जहाँ-का-तहाँ, आँखें खुल गईं भीतर-भीतर उस प्यारे की परम सुन्दरता की प्यास में। मस्ती भी भाव में बह गई। और अपनी दशा देखिए, सुख भोग की तृष्णा को लेकर जगत् की ओर हम देखते हैं, और जब उस जगत् का दृश्य अपने को उद्विग्न बनाता है, तो हम लोग जगत् को दोषी बताते हैं। फिर कहते हैं यह तो मायामयी सृष्टि है।

इस सृष्टि में मैं परमात्मा को भूल गया। यह मायामयी सृष्टि का दोष है कि उसने हमें परमात्मा से दूर कर दिया?

अब आप सोचिए, कि आप परमात्मा से दूर हो गए तो इसमें सृष्टि का दोष है या आपका अपना दोष है। जरूर अपना दोष है। ईश्वरवादी प्यारे प्रभु की सृष्टि को देखते हैं, तो उनको अपने प्यारे की याद आती है। और जैसे ही प्रेम स्वरूप परमात्मा की याद उनको आती है, तो प्रेम का रस भीतर-भीतर उमड़ने लगता है। और हृदय प्रेम-रस से भरा नहीं, कि शरीर और संसार की विस्मृति हो जाती है। मनुष्य, जिसकी भावना की रक्षा करने के लिए, जिसके प्रेम का आदर करने के लिए अत्यन्त कोमल, अत्यन्त सूक्ष्म, अत्यन्त रहस्यमय परमात्मा अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं, उस मनुष्य की कितनी महिमा है ! अत्यन्त कोमल परमात्मा, प्रहलाद जी के लिए पत्थर से बने हुए खम्भे में से निकल आए। मनुष्य की महिमा कुछ कम है क्या ? कम नहीं है, बड़ी भारी महिमा है।

अपनी महिमा भूल जाने से हम लोग, हाड़-मांस की महिमा स्वीकार कर लेते हैं। इस भूल को मिटाना है। आपके हृदय से उमड़े हुए प्रेम-भाव का आदर करने के लिए ब्रह्म, ब्रह्मभाव को भुलाकर जीव-भाव स्वीकार कर लेता है। मैया यशोदा का आँचल पकड़कर, दधि मथने वाली मथानी पकड़कर, विश्वम्भर खड़ा होकर मचल रहा है कि मैया ! मुझे माखन दे। माखन माँग रहा है। मैया क्या करे ? माखन निकले कैसे ? थोड़ी देर में देख करके कि माखन तो निकल ही नहीं रहा है, मैया दे ही नहीं सकती है तो कहते हैं- मैया मुझे दूध पिला दे।

श्री महाराज जी हम लोगों को सुनाते थे कि मानव का जीवन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, इसकी बड़ी महिमा है इस दृष्टि से, कि मरणशील शरीर को लेकर नाशवान धरती पर विचरण करते हुए, वह अजर-अमर-अविनाशी अनन्त माधुर्यवान् परमात्मा को रस प्रदान करने में

समर्थ है। अगर उस ऊँचाई तक हम लोगों ने इस जीवन को नहीं पहुँचाया तो जिन्दगी का क्या उपयोग किया, सोचा तो ? उस ऊँचाई तक इस जीवन को पहुँचने देना है। अपने को और कुछ नहीं करना है केवल भूल मिटाना है। कौन सी भूल ? सारी सृष्टि का मालिक परमात्मा है लेकिन उसमें से एक-एक वस्तु हम पकड़ लेते हैं कि यह मेरी है; तो जड़ वस्तु के साथ ममता का विकार जुट जाता है और वह हृदय को आच्छन्न कर लेता है। जहाँ पर ईश्वरीय प्रेम की गंगा लहरानी चाहिए, वहाँ पर आसक्ति की जड़ता भर जाती है।

इसलिए दो महावाक्य, जिन पर हम विचार कर रहे हैं, उन्हें मैं फिर दोहरा दूँ। जहाँ जो कुछ दिखाई दे रहा है सब उनका है, सब उनका है-ऐसा मानो। डरने की कोई बात नहीं है कि उनका कहने से वो उठाकर ले जायेंगे। अरे ! भाई, उनके यहाँ किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है। मैंने ऐसा देखा है कि जब व्यक्ति भूलों का त्याग कर देता है और सचमुच जो मालिक है, उसी की दुनियाँ मान लेता है, तो वे मालिक आनन्दित होकर और अधिक-अधिक उसके सामने सब कुछ बरसा देते हैं। प्रेमी की प्रसन्नता पर वे त्रिभुवन को न्यौछावर कर सकते हैं, इतने उदार हैं। और ऐसे अथाह हैं कि न कभी किसी वस्तु की कमी होने पाती है, न उनकी उदारता कभी खत्म होती है। जिस व्यक्ति ने ममता का त्याग किया, कि सचमुच मेरा कुछ नहीं है और यह कहा कि हे मेरे प्यारे, यह सारी सृष्टि आप ही की है, ये सारी वस्तुएँ आप ही की हैं, तो बस वह ममता से मुक्त हो गया। और सृष्टि के मालिक जो हैं, वे वस्तुओं को उपयोग में लाने से कभी मना नहीं करते हैं। देने में कभी कमी नहीं करते हैं। उठा कर ले भी नहीं जाते हैं, और अधिक से अधिक आपके सामने भर देते हैं। इसलिए इस एक सत्य को जीवन में प्रयोग करके हम लोगों को देखना चाहिए। यह बड़ा ही जोरदार प्रयोग है। अपने-अपने जीवन को लेकर के सत्य का प्रयोग हम लोगों को करना चाहिए जरूर।

मुझे इस प्रयोग में उत्साहित करने के लिए स्वामी जी महाराज ने एक बार सलाह दी, कि यह झूठी शिकायत है तुम्हारी, कि दुनियाँ को देखने से भगवान की विस्मृति हो जाती है, भगवान को हम भूल जाते हैं। तुम एक काम करो, हर वस्तु पर, जो-जो तुम्हें दिखाई दे, सब पर अपने प्यारे के नाम का स्टैम्प लगा दो। तब क्या होगा कि जिस पर तुम्हारी दृष्टि जाएगी तुमको याद आएगा कि यह मेरे प्यारे का है। प्यारे की वस्तु को देखने में भी प्रीति आती है। श्री महाराज जी ने कहा कि देखो, उन प्यारे का ऐसा विलक्षण ढंग है, आत्मीय सम्बन्ध उनको इतना अच्छा लगता है कि मैं क्या बताऊँ। वे क्या करते हैं कि किसी वस्तु को आपने देख लिया और देखते ही आपको याद आ गई कि यह तो मेरे प्यारे की है, तो जैसे-जैसे प्यारे की याद आने से आपके भीतर प्रीति बढ़ेगी, परमात्मा को बड़ा रस मिलेगा।

वस्तु के रूप में वे स्वयं ही तो हैं। खूब आनन्द का आदान-प्रदान होता रहता है। दार्शनिक सत्य भी आपने सुना होगा कि वह एक ही अव्यक्त इस व्यक्त जगत् के रूप में विकसित हुआ है। आस्तिक दृष्टि से भी लीजिए, भोला-भाला भक्त बेचारा जो होता है, वह नहीं जानता दर्शन, वह नहीं जानता अव्यक्त, वह नहीं जानता विधान ये सब कुछ नहीं। उसके सामने एक गऊ का बच्चा आ जाय, एक बिल्ली का बच्चा आ जाय, एक खिला हुआ फूल दिखाई दे जाय, एक जल की बहती हुई धारा दिखाई दे जाय, वृक्ष के पत्ते हिलते हुए दिख जायें, जो जो दिखता जाय, उस सबके बारे में हृदय में उसके यही भाव उठता है कि यह भी मेरे प्यारे का, यह भी मेरे प्यारे का, यह भी मेरे प्यारे का। तो जैसे-जैसे उसके हृदय में देखे हुए जगत् के माध्यम से अपने प्यारे की याद आती है, हृदय की प्रीति बढ़ती है, वैसे-वैसे भक्त-हृदय की बढ़ती हुई प्रीति का रसास्वादन करने के लिए वे ही बहुरूपिये अपना जगत् रूप छिपा करके अपने असली रूप में प्रकट हो जाते हैं। भक्त और भगवान के मिलन से सम्पूर्ण जीवन ही बड़ा आनन्दमय हो जाता है।

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो,

जीवन-मुक्ति और भगवद् भक्ति, इन दोनों तत्त्वों की चर्चा केवल मानव-समाज में है। सृष्टि में असंख्य प्राणी हैं। बहुत से प्राणी ऐसे हैं, जो हम लोगों की तुलना में विशालकाय हैं, लेकिन सभी प्राणियों के सामने जीवन-मुक्ति और भगवद्भक्ति का प्रश्न नहीं उठता है। केवल मनुष्य के सामने यह प्रश्न उठता है, इसीलिए कि उसमें विवेक का प्रकाश है। इस विवेक के प्रकाश में वह देखता है कि जो कुछ इन्द्रियों के स्तर पर देखने-सुनने में आया और जो कुछ बुद्धि के स्तर पर समझने में आया, वह सारा देखा हुआ, सुना हुआ और समझा हुआ जो है उससे परे, उससे भिन्न एक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होना चाहिए, एक सत्य जीवन का होना चाहिए। इस प्रकार का आभास व्यक्ति को स्वतः ही होता है और वही उसे प्रेरित करता है कि वह जीवन-मुक्ति की चर्चा करे। जीवन-मुक्ति के लिए पुरुषार्थ करे और उस मुक्ति के आनन्द से भरपूर होकर सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो जाए।

'जीवन्मुक्ति' शब्द का अर्थ क्या है ? केवल मुक्ति शब्द का प्रयोग मैं नहीं करती हूँ क्योंकि बचपन से मैं ऐसा सुना करती थी, घर में बात करते हुए चाची, दादी, माँ आदि की बातें सुना करती थी कि भाई ! वह तो मर कर मुक्त हो गया। स्वामी जी महाराज के पास बैठकर ध्यान में बात आई कि शरीर के नाश हो जाने से, व्यक्ति मुक्त हो जाता हो यह आवश्यक नहीं है। शरीर का नाश, मुक्ति की पहचान नहीं है। मुक्ति का अर्थ तो यह है कि मुझे अपने लिए पराश्रय की आवश्यकता न रह जाए। मुक्ति का भाव यह होता है कि यदि मैंने संसार के संयोग से मिलने वाले सुखों को पसन्द किया तो शरीरों के साथ तादात्म्य हो गया। आँखों के साथ तादात्म्य किये बिना, देखे हुए दृश्य का सुख नहीं लिया जा सकता। कान के साथ अपने को मिलाए बिना, श्रुति-मधुर

ध्वनि का आनन्द नहीं लिया जा सकता। इसलिए बाह्य जगत् से आने वाली उत्तेजनाओं को ग्रहण करने के यन्त्र जो अपने पास हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, इन्हीं के आधार पर दृश्य जगत् का परिचय अपने लोगों को मिलता है। यदि उन उत्तेजनाओं के द्वारा हमने इस जगत् का सुख लेना पसन्द किया तो शरीरों के साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है, अन्यथा अविनाशी-अस्तित्व में और भौतिक तत्त्वों से बने शरीरों के अस्तित्व में कोई रचनात्मक सम्बन्ध है ही नहीं। अगर रचनात्मक सम्बन्ध होता, इन दोनों में किसी प्रकार की सजातीयता होती, तो फिर इसके बन्धन से, इसके लगाव से, इसके चिन्तन से मुक्त होने का प्रश्न पैदा ही नहीं होता।

आपका-मेरा, मानव मात्र का अस्तित्व भासित होता है कि 'मैं हूँ'। वह अस्तित्व, यह 'मैं-पन', किसी भौतिक तत्त्व से बना हुआ नहीं है। ऐसा होने पर भी यदि हम भौतिक तत्त्वों को पसन्द करते हैं तो शरीर के साथ हमको लगाव रखना पड़ेगा और दृश्य-जगत् के सयोग का सुख पसन्द करने पर शरीर के साथ तादात्म्य रहेगा। परिणाम क्या होता है ? कि जब शरीर के साथ तादात्म्य रहता है, उसके प्रति आसक्ति रहती है, तो उसकी हमें सख्त जरूरत मालूम होती है; क्योंकि इसके माध्यम से ही व्यक्त जगत् के सुखों को हम ले पाते हैं। इसलिए इसकी बड़ी जरूरत मालूम होती है और प्राकृतिक तथ्य क्या है ? कि आप जरूरत भी अनुभव करते रहिये और उसका सहारा लेकर, दृश्य-जगत् का सुख भी लेना पसन्द करते रहिये। ऐसा करते रहने पर भी, इसका नाश हो जाता है। पसन्द करते रहो, तब भी इसका नाश हो जाएगा, इसकी जरूरत अनुभव करते रहो, तब भी इसका नाश निश्चित है। इस प्राकृतिक तथ्य से जन्म-मरण का ऐसा कठोर और ठोस सत्य मानव के सामने आता है कि इस प्राकृतिक तथ्य से मनुष्य सचेत होकर सोचने लग जाता है कि जिसको मैंने पसन्द किया, जिसको मैंने अपना माना, जिसके आश्रय से मैंने संसार मे सुख लेना

पसन्द किया, वह मेरे नियन्त्रण में रहा नहीं। मेरी इच्छा के अनुसार उसने काम किया नहीं। देखने का सुख लेना पसन्द है, पर आँखों की रोशनी घट गई; सुनने का सुख लेना पसन्द है, लेकिन कान की शक्ति घट गई, बहुत अच्छा-अच्छा स्वादिष्ट भोजन पसन्द है, पर पचाने की ताकत खत्म हो गई। यह सब होता है। इन घटनाओं से विवेकशील मनुष्य जो है, वह दृश्य-जगत् के पार और क्या है-यह सोचने लग जाता है; समझने लग जाता है और वहाँ से मुक्ति की साधना आरम्भ होती है।

शरीर की शक्ति घट जाए, प्राण-शक्ति का ह्रास हो जाए और अपने में उसकी आवश्यकता बनी रहे, तो इसका नाम है मृत्यु। शरीर की जरूरत मैं महसूस करूँ और प्राण-शक्ति खत्म हो जाए, तो इसका नाम है मृत्यु। और शरीरों के रहते-रहते, शरीरों से परे अपने अविनाशी अस्तित्व का अनुभव कर लें और शरीर की आवश्यकता खत्म हो जाए तो इसका नाम है जीवन-मुक्ति। यह शरीरों के रहते-रहते होता है। प्राणों के रहते-रहते ही, इस प्रकार का पुरुषार्थ व्यक्ति करता है, और शरीरों के रहते हुए भी वह जीवन-मुक्ति का आनन्द लेता है। अब आप सोच करके देखिये ! शरीर की आवश्यकता अनुभव करते रहो, उसको पकड़कर रखना चाहो और प्राकृतिक विधान से उसका नाश हो जाए-इस प्रकार की बेबसी, इस प्रकार की पराधीनता आप पसन्द करेंगे ? नहीं पसन्द करेंगे। अच्छा ! अब अपनी ही भूल से प्राप्त-विवेक का अनुसरण हम न करें, उसका सदुपयोग न करें, तो बारम्बार जन्म-मरण का दुःख और पराधीनता सहन करनी पड़ेगी। लेकिन मनुष्य के लिए इसको सहन करना आवश्यक नहीं है। वह चाहे तो जन्म-मरण की बाध्यता को काट सकता है। वह चाहे तो प्राणों के रहते-रहते, शरीरों की आवश्यकता से मुक्त हो सकता है। इतनी स्वाधीनता बनाने वाले ने मनुष्य को दी है।

जीवनमुक्ति का अर्थ यही है। अब उसकी साधना क्या होगी ? उसका पुरुषार्थ क्या होगा ? सन्त की वाणी से जो कुछ समझ में आया और उनके साथ रहकर साधना की दृष्टि से जो कुछ अनुभव में आया, उसमें मैंने ऐसा पाया कि संसार के लगाव से अपने लिए कुछ भी लेने की इच्छा का अन्त कर दिया जाए तो शरीर की आवश्यकता खत्म हो जाती है। यह मत समझियेगा कि हम इसकी जरूरत नहीं समझेंगे तो इसका नाश हो जाएगा। सो नहीं होता है। सृष्टि में बहुत से उत्पत्ति और विनाश के क्रम चल रहे हैं, जिन्हें हम अपने लिए आवश्यक नहीं मानते हैं। तो हमारे आवश्यक न मानने से उनका नाश हो जाता हो, ऐसा नहीं है। प्राकृतिक विधान से सब कुछ अपने आप ठीक-ठीक समय से बनता रहता है, बिगड़ता रहता है। निर्माण और विनाश के अनवरत क्रम का नाम ही सृष्टि है। यह तो चलता ही रहेगा। इसमें केवल समझने की बात इतनी सी है, कि हममें सृष्टि को देखने का राग है, इसलिए शरीर धारण करना पड़ा। अन्यथा इसकी आवश्यकता नहीं रहती। न राग मिटे, न जन्म-मरण का बन्धन कटे-कैसा माया जाल है ?

ऐसी चर्चा मैं एक बार कर रही थी। स्वामी जी महाराज लेटे-लेटे सुन रहे थे। बहुत ही उत्साह में आकर, उठकर बैठ गए कि क्या बात करती हो देवकी जी ? तुम्हारी समझ में नहीं आती है। प्रकृति को अपना काम बढ़ाना नहीं है कि तुम्हारे जीवन-मुक्ति के पथ में बाधा डाल दे। प्रकृति को कितना काम करना पड़ता है, सोचो तो ! व्यक्ति संसार में आए, विवेक का प्रकाश रखे, फिर भी उसका सदुपयाग न करे, विषय वासनाओं से अपने को न हटाए, संसार की पराधीनता से अपने को न छुड़ाए, तो बार-बार उसको जन्म देना, बार-बार उसको धरती पर सँभाल कर रखना, बार-बार उसकी अंत्येष्टि का इन्तजाम करना प्रकृति को सब काम करना पड़ता है कि नहीं ? शक्तियाँ खर्च होती हैं कि नहीं ? मुझे इतनी अच्छी लगी यह बात कि मैं सोचने लगी।

माताओं को देखकर ध्यान में आया कि बच्चा जब छोटा होता है, तो माँ को कितना ध्यान देना पड़ता है। उसकी रक्षा भी करो, उसको खुश भी रखो, उसको शिक्षित भी करो। सभी प्रकार के कार्य माता-पिता को करने पड़ते हैं और बच्चे जब सयाने हो जाते हैं, तब माँ-बाप बहुत ही प्रसन्न हो जाते हैं, निश्चिन्त हो जाते हैं, Free हो जाते हैं। ऐसे ही प्रकृति माता की सन्तान हम लोग, विवेक का प्रकाश लेकर, कार्य करने की क्षमता लेकर, हृदय में प्रेम-रस का भाव लेकर, दुनियाँ में आए और अगर क्रिया-शक्ति, भाव-शक्ति और विचार-शक्ति का सदुपयोग करके, बार-बार जन्म लेने और बार-बार मरने की बाध्यता को जीत जाएँ, पार कर जाएँ अर्थात् इस तरह की बेबसी हमारी छूट जाए और एक शब्द मैं कहूँ कि हम सभी भाई-बहन जीवन-मुक्त हो जाएँ, तो प्रकृति माता का काम पूरा हो जाएगा कि नहीं ? हो जाएगा।

मेरी आदत थी कि मेरे भीतर जो कमी दिखाई दे, तो मैं तो कमी को ही जानती थी, विशेषता तो मैं जानती नहीं थी, अपनी कमी उनको सुनाती रहती थी कि महाराज ! मुझमें ऐसी कमी है, मेरा काम कैसे चलेगा ? बार-बार मुझे राजकुमार सिद्धार्थ का चित्र दिखाई देता और मैं कहती कि महाराज, वह वीर पुरुष कैसा था ? उसने एक बार मृतक को देखा तो सब जीवित शरीरों में उसे मृत्यु का दर्शन हो गया। वह जन्म-मरण के बन्धन को काटने के लिए खड़ा हो गया। सुना देती उनके वाक्य—

मैं त्रिविध दुःख, विनिवृत्ति हेतु,
बाधूँ अपना पुरुषार्थ सेतु,
सर्वत्र उड़े कल्याण केतु,
तब हो मेरा सिद्धार्थ नाम,
हे क्षण भंगुर भव ! राम राम।

खूब सुनाती स्वामी जी महाराज को, कि कैसे उन्होंने कर लिया। मैंने तो न जाने कितनी बार प्रियजनों को श्मशान-भूमि की ओर जाते

देखा है, फिर भी इस शरीर में से मेरा मोह नहीं घटता है। क्या बात है ? अपने पर मेरा ध्यान नहीं जाता। मैं बार-बार कहती कि शायद बनाने वाले ने राजकुमार सिद्धार्थ को बढ़िया मैटीरियल से बनाया था, हमको कुछ घटिया से बना दिया, इसलिए हमारे से नहीं होता है। ऐसे-ऐसे कहकर मैं शिकायत करती रहती। स्वामी जी महाराज ने मुझे सुझाव दिया, कहा कि ऐसी बात नहीं है। न प्रकृति की ओर से कोई बाधा है, न परमात्मा की ओर से कोई बाधा है। संसार भी चाहता है कि व्यक्ति बुराइयों से मुक्त रहे; माता-पिता और समाज को भी प्रसन्नता होती है, अगर कोई व्यक्ति वीतराग हो जाए, राग-द्वेष से मुक्त हो जाए; सेवा-भाव से भर जाए, ईश्वरीय प्रेम से भर जाए। कोई दूसरा बाधक नहीं बनता है। बाधा अगर है तो बस अपनी ही ओर से है। हमने बेबसी में हाय करके रोते हुए जन्म लेना पसन्द किया और बेबसी में हाय करके मरना पसन्द किया। इसी भूल से जीवन-मुक्ति का आनन्द अभी तक नहीं आया। और कोई दूसरा इसमें बाधक नहीं होता है।

अब साधना कहाँ से आरम्भ होगी ? पहली बात मुझे यह सूझती है कि अपने सम्बन्ध में हमें एक बहुत ही स्पष्ट दृष्टिकोण जीवन का बनाना चाहिए कि मुझे बेबसी में जीना और बेबसी में मरना पसन्द नहीं है। पराधीनता और पराश्रय को लेकर जीना भी पसन्द नहीं है और पराधीनता और पराश्रय को लेकर मरना भी पसन्द नहीं है। तो क्या हो सकता है ? बड़े आनन्द की बात यह हो सकती है कि शरीर और संसार के सम्बन्ध को निभाने के लिए, सर्वहितकारी भाव से, पूरी शक्ति लगाकर, बहुत अच्छी तरह कार्य किया जाए। उसमें कोई बाधा नहीं होगी, वह साधन बनेगा। और अपने लिए, स्वयं के लिए, शरीर और संसार को पसन्द न किया जाए। क्यों ? क्योंकि इनका निर्माण हुआ है अतः इनका विनाश हो जाएगा। अगर इन्हें हम पसन्द करेंगे और इनका सहारा लेते रहेंगे तो किसी भी समय बेसहारा होकर, अधीर होकर मर जाना पड़ेगा। अतः इनका सहारा अपने लिए न लिया जाए। इससे कोई क्षति नहीं होगी।

मनुष्य का मूल्य सारी सृष्टि से अधिक है, किसलिए ? कि वह सृष्टि के पार, दृश्य जगत् के मूल में जो अनन्त तत्त्व है, जो आनन्द स्वरूप, रस स्वरूप है उससे अभिन्न होकर, उसी अस्तित्व को, उसी व्यक्तित्व को, जिसे वह 'मैं' कहता है, उसी को वह आनन्दस्वरूप बना सकता है और प्रेम रस से भरपूर बना सकता है। आप अपने जीवन का सही मूल्यांकन करना आरम्भ कर दें तो सत्संग की योजना सफल मानी जाएगी। अपना मूल्य, संसार की दी हुई वस्तुओं के आधार पर करना, अपना मूल्य प्राकृतिक विधान से बनी हुई परिस्थितियों के आधार पर करना, मानव-जीवन का घोर अपमान है। कभी-कभी भ्रम हो जाता है तो अपनी दुर्बलताओं को औचित्य देते हुए कोई-कोई समझदार व्यक्ति ऐसा कहने लगते हैं कि भाई ! मनुष्य तो कमजोरियों से बना है। तो मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि अच्छा ! मनुष्य, और यह स्वीकार करे कि वह कमजोरियों से बना है। इसका अर्थ यह है कि उन कमजोरियों के नाश करने का तो कोई उपचार ही नहीं हो सकता। कोई-कोई कहता है कि बहुत अच्छी परिस्थिति हो जाए, बहुत सुन्दर सामाजिक पुनर्गठन कर दिया जाए, तो उसमें व्यक्तियों का बढ़िया विकास होगा। मनुष्य का विकास संसार के आधार पर कभी नहीं होगा। मनुष्य का विकास परिस्थितियों के आश्रित हो ही नहीं सकता। कभी-कभी मैं पूछती हूँ कि बड़ी-बड़ी कठिन परिस्थितियों में पड़े लोगों ने अपनी चेतना से, अपने ज्ञान से, अपने पुरुषार्थ से, अपने हृदय के भाव से, देश और संसार की परिस्थितियों को बदल देना पसन्द किया, वे कहाँ से आए ? अगर परिस्थितियों से ही मेरा विकास होना होता, तो गुलामी की परिस्थितियों में पैदा होने वाले लोगों में, आजादी के लिए दीवानापन कहाँ से आता ? यह बात गलत है कि मनुष्य परिस्थितियों के आश्रित हैं। ऐसा नहीं है।

मनुष्य के भीतर स्वयं अपने आप में ही संसार से बहुत अधिक मूल्यवान तत्त्व विद्यमान है कि जिसका कभी नाश नही होता। उन पर अपनी दृष्टि जानी चाहिए। हममें वह सत्य विद्यमान है कि जिसकी

अभिव्यक्ति मात्र से हम मृत्युंजय हो जायेंगे। मृत्यु के भय का नाश हो जाएगा। ऐसे तत्त्व आपके भीतर विद्यमान हैं। यदि आप उसका विकास करना पसन्द करते हैं तो फिर संसार और शरीर के आश्रित मत रहिए। इन पर दृष्टि पड़ेगी, जैसे अभी हम लोग बैठे हैं, सारा दृश्य-जगत् दिखाई दे रहा है तो कोई पाप नहीं है, कोई अपराध नहीं है। जगत् दिखाई देगा, शरीर और संसार के सम्बन्ध का निर्वाह किया जाएगा, लेकिन उसी को पूरा जीवन मान लेना, यह भूल है। जहाँ तक शरीर और संसार के सम्बन्ध का निर्वाह है, एक शरीर दूसरे शरीरों को सहयोग देता ही रहता है। इस प्रकार परस्पर के सहयोग के आदान-प्रदान में शरीरों का निर्वाह होता रहता है। वहाँ तक तो ठीक है परन्तु इसी को पूरा जीवन नहीं मान करके इन दोनों से परे अपने ही में जो अपना अविनाशी अस्तित्व है, उसके प्राकट्य की साधना करनी होगी। और वह साधना क्या है ? वह साधना यह है कि विवेक पूर्वक और भाव पूर्वक काम करें। विवेक पूर्वक काम करने का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह है कि किये हुए कार्य के बदले में, जो कुछ बनेगा वह शरीरों के काम आएगा, सृष्टि के काम आएगा। कार्य का जो फल होता है, वह किसी को अमरत्व प्रदान नहीं कर सकता। सोचिए इस पर। जैसे परिश्रम पूर्वक खेत में अनाज उपजाया गया, तो उपजा हुआ अन्न जो है, वह स्थूल शरीर के पोषण के काम आयेगा। उससे आगे उसका कोई अर्थ नहीं है। यदि भूखे शरीरों को खिलाने में उस अन्न को खर्च नहीं किया गया, बन्द करके रख दिया गया तो वह अन्न आपके साथ दुनियाँ के पार जाएगा क्या ? ज्यादा दिन तक सँभाल कर रख सकियेगा क्या ? नहीं रख सकिएगा। अगर समय पर उसका सदुपयोग नहीं किया गया तो प्रकृति के विधान से गोदाम में बन्द रहने पर सड़कर, वह मिट्टी के समान बन जाएगा। जिस मिट्टी में से निकला था वह उस मिट्टी में ही मिल जाएगा, अगर उसका सदुपयोग नहीं किया तो। स्थूल शरीर के पार अन्न नहीं पहुँचता है। वहाँ तक उसकी पहुँच ही नहीं है।

इस दृष्टि से आप देखेंगे तो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक श्रम तथा योग्यता के द्वारा जो कार्य किया जाता है उसका फल लोक-संग्रह के लिए, लोक-कल्याण के लिए, समाज की सेवा के लिए उपयोगी होता है। इतना ही उसका महत्त्व है। उसके आगे किये हुए कार्य का फल नहीं जाता है। आप सन्तों की भाषा में सुनते होंगे कि भाई ! निष्काम कर्म करो। इस विषय में स्वामी जी महाराज का कहना था, कि भैया ! कर्म तो अपने आप में न निष्काम होता और न सकाम होता है। कर्म को निष्काम क्यों कहते हो, तुम स्वयं निष्काम बनो। कर्त्ता निष्काम बने तो कर्त्ता का कल्याण हो जाए। इसका अर्थ क्या होगा ? इसका अर्थ यह है कि आप कार्य अवश्य करें और उससे सही परिणाम अवश्य निकलेगा। और कार्य का जो फल बनेगा वह समाज के लिए शरीरों के भरण-पोषण के काम आएगा। इतना ही महत्त्व उसका आपके जीवन में होना चाहिए। इसके आगे नहीं। किन्तु आप तो उसके आगे भी हैं। तो उसके बाद क्या होना चाहिए, कि कार्य को फलाफल का चिन्तन छोड़कर करें। अशुभ कर्म के लिए तो मनुष्य के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। शुभ कर्म, हितकारी कर्म ज्ञान पूर्वक किया जाए। किए हुए कार्य का फल मुझे मृत्युंजय नहीं बनाएगा, मुझे परम प्रेमास्पद परमात्मा से नहीं मिलायेगा। जो फल बनेगा वह संसार में रहेगा और शरीरों के काम आएगा। ज्ञानपूर्वक कार्य करने का अर्थ यह है, कि कोई भी कार्य जब आप आरम्भ करते हैं दैनिक जीवन में, तो एक बार उसके सम्बन्ध में सोच लीजिए कि मेरे इस कार्य के द्वारा संसार के किसी भी प्राणी की क्षति न हो : किसी को नुकसान न पहुँचे। फायदा तो पहुँचेगा ही, बुराई नहीं रहेगी जीवन में तो भलाई तो होगी ही। किस दायरे में होगी कि कुछ लोगों के साथ हम भला व्यवहार कर पायेंगे, लेकिन बुराई किसी के साथ नहीं करेंगे। तो पवित्र भाव से कार्य करने का अर्थ होता है कि मेरे कार्य के फल से किसी का भी नुकसान नहीं होगा। भाव की पवित्रता और विवेक के प्रकाश में, जी खोलकर पूरी शक्ति और पूरी योग्यता लगाकर काम कर डालिए,

लेकिन उसके फल को जीवन का आधार मत बनाइये। तब क्या होगा? काम पूरा होने के बाद आपको अपनी शान्ति में रहने की सामर्थ्य मिलेगी। आप जब स्वयं अपनी शान्ति में होंगे तो न शरीर से कुछ लेना है और न संसार से कुछ लेना है। शरीर और संसार का जो काम था वह पूरा हो गया। बहुत ही सहज भाव से ऐसे साधक इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लेते हैं। इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो जाती हैं, मन-निर्विकल्प हो जाता है, बुद्धि सम हो जाती है। अर्थात् उसमें हलचल बन्द हो जाती है। इस स्थान पर आकर बहुत ही शान्ति मिलती है अपने को। जैसे-जैसे हमारी जीवनीशक्ति का व्यय होना बन्द होता चला जाता है, बहिर्मुखी वृत्ति अन्तर्मुखी होती चली जाती है, तो अपने को बहुत विश्राम मिलता है। थकान का अनुभव तो हम सब लोगों ने किया है, लेकिन सामान्य दृष्टिकोण ऐसा ही है कि बड़ा परिश्रम करना पड़ता है, परिस्थिति ऐसी है कि बहुत काम करना पड़ा इसलिए हम थक गए।

लेकिन मुझे तो सत्संग के प्रकाश में ऐसा दिखाई देने लगा कि परिश्रम से आदमी उतना नहीं थकता है जितना लोभ के वशीभूत होकर काम करने वाला, क्रोध के वशीभूत होकर गलत-सलत प्रतिक्रिया करने वाला, कामनाओं से प्रेरित रहने वाला थकता है। जिन्दगी का भार ढोने जैसे लगता है इन विकारों का बोझ ढ़ोना। बड़ी दयनीय दशा मुझे दिखाई देती है कि आदमी किस प्रकार से क्रोध कर रहा है, लोभ और अभिमान को भी सँभाल रहा है, जाती हुई प्राण शक्ति को भी सँभाल रहा है और बिगड़ती हुई परिस्थितियों से भी जूझ रहा है। क्या करे बेचारा ! थके नहीं तो, कहाँ विश्राम मिले। उचित तरीके से कर्त्तव्य-पालन में थकान नहीं आती है। थकान तो विकारों से हो जाती है। आपको विश्राम चाहिए तो वह विश्राम किसी बाहरी सहायता से मिले, ऐसी बात नहीं हैं। आप अपने विकारों से अपने को मुक्त कीजिए। फिर देखिए कैसा विश्राम मिलता है ? आवश्यक कार्य करने के बाद, सब अनावश्यक कार्यों को छोड़ दीजिए। हम लोग तो अनावश्यक

चिन्तन में भी फँसे रहते हैं। काम करना है पाँच दिन के बाद और आज से ही उस चिन्तन में प्राण-शक्ति का ह्रास होता चला जा रहा है। पाँच दिन के बाद उस कार्य को करने की परिस्थिति रहेगी भी या नहीं रहेगी, कुछ मालूम नहीं है। उसकी जरूरत भी रहेगी या नहीं रहेगी सो भी पता नहीं है लेकिन जो समय मिला था, शान्त होकर शरीरों और संसार से अलग होकर अपने में अविनाशी अस्तित्व के आनन्द के अनुभव करने का, वह समय भी व्यर्थ के चिन्तन में खो दिया, इसी से थकान आती है। बैठे-बैठे सोच-सोच कर भी आदमी थक जाता है। कन्ट्रोल अपना है नहीं, कोई बात अपने हाथ में है नहीं। फिर भी सोच-सोचकर थक जाता है आदमी।

साधना की दृष्टि से क्या होना चाहिए ? श्री महाराज जी ने कुछ सूत्र बताए हैं ऐसे, कि विवेक पूर्वक, पवित्र भाव से, आवश्यक कार्य को पूरा कर दो और अनावश्यक कार्य को छोड़ दो। छोड़ सकते हैं आप। किये हुए काम के बदले में कुछ मिलेगा तो उसी से मेरा निर्वाह होगा इसी भ्रम के कारण हम लोग अनावश्यक कार्य को छोड़ नहीं पाते हैं। अगर यह भ्रम निकल गया आपके जीवन से कि किये हुए कार्य का जो फल बनेगा, वह शरीरों के काम आएगा और अपनी शान्ति में जो सत्य अभिव्यक्त होगा वह मेरे काम आएगा, तो कितना स्पष्ट हो जाए। इन शरीरों का निर्वाह जितना आवश्यक है, अपने में अविनाशी सत्य की अभिव्यक्ति उससे अधिक आवश्यक है कि नहीं ? दिन-रात धुन लगी है कि हाय-हाय ! ऐसी व्यस्तता, ऐसी व्यस्तता कि फुर्सत ही नहीं है किसी बात के लिए। पता ही नहीं चलता है कि अपने आप में कितना आनन्द भरा है। जीवन अपने आप में कितने आनन्द और रस से भरा-पूरा है-इस पर न कभी ध्यान जाता है, न इसकी कभी याद आती है, न इसके आश्रित होकर हम थोड़ी देर के लिए शान्त हो पाते हैं और जो कभी नहीं मिला, कभी नहीं मिलेगा, उसके पीछे दौड़-दौड़कर अनमोल जीवन गँवा देते हैं। बेमोल बिक जाते हैं-ऐसा बुरा हाल हो जाता है।

तो जीवन-मुक्ति का जिनको साधन पसन्द है, वे ऐसा करते हैं कि आवश्यक कार्य को पूरा कर लिया, अनावश्यक कार्य को रख दिया। कैसे रख दें ? ज्ञानी जन तो यूँ ही छोड़ देते हैं और मुझे जब जरूरत पड़ी, क्योंकि बहुत प्रकार के कार्य मैं एक साथ करती थी तो क्या करती थी कि डायरी और पैन्सिल साथ लेकर बैठती थी शान्त होने के लिए। और जरूरी काम खास समय के भीतर होता है, जितना होता है, जितना हम जानते हैं, सब थोड़े ही कर पाते हैं। तो बाकी जो रह गया, जो मस्तिष्क में भरा ही हुआ है, किसी तरह से मेरा पिण्ड छोड़ेगा ही नहीं, तो नम्बर लगाकर उन्हें डायरी में लिख लेती और फिर शान्त हो जाती। आप भी ऐसा कर सकते हैं। अनुभव करके मैंने देखा है कि शान्ति सम्पादन को जीवन का अनिवार्य अंग बना लीजिए, तो व्यावहारिक जगत् का भी काम करने में विस्मृति का दोष आपका मिट जाएगा। हलचल में पड़े रहना, लोभ में पड़े रहना, भय में पड़े रहना-इसी में तो हम लोग भूल जाते हैं। कागज कहीं रख दिया, ढूँढ़ रहे हैं कहीं, ताला डालकर चाबी कहीं छोड़ दी, समय पर मिले ही नहीं। दवा लेने जा रहे हैं प्रैसक्रिप्शन का पता ही नहीं-यह सब होता रहता है। क्यों ? क्योंकि अनेक प्रकार के विकार, संवेग, भय और लोभ में पड़ा हुआ है व्यक्ति। उसकी बुद्धि भ्रमित होती चली जाती है, स्मृति कमजोर होती चली जाती है, और शिकायत भी करते रहते हैं, उपाय भी खोजते रहते हैं और डॉक्टरों से सलाह भी लेते रहते हैं कि आजकल मेरी याददाश्त बहुत कमजोर हो गई। क्यों हो गई भाई ? apparatus तो तुम्हारे पास है, मशीन तो काम कर ही रही है, फेल क्यों हो रही है ? इसी अस्वाभाविक जिन्दगी से फेल होने लगती है। अगर आपने शान्त रहने को जीवन का अनिवार्य अंग बनाया, तो विस्मृति का दोष भी मिट जाएगा, कार्य करने की क्षमता भी बढ़ जाएगी। सब प्रकार की शक्तियों की वृद्धि होती है उसमें और सूक्ष्म शक्तियाँ भी बढ़ेगी। उनके आधार पर असत्य के संग का त्याग और सत्य की स्वीकृति आज अपने को बड़ी कठिन लग रही है, इसमें जो

असमर्थता अनुभव हो रही है, यह असमर्थता भी मिट जाएगी, यह कठिनाई भी चली जाएगी। शक्ति की वृद्धि होती जाएगी भीतर-भीतर से, और बल आता जाएगा और आप अपनी दुर्बलताओं पर विजयी होते हुए लौकिक व्यवहार में भी व्यवहारकुशल होंगे और लोक की आसक्ति को छोड़कर, बन्धन को तोड़कर जीवन–मुक्ति के भी अधिकारी होंगे।

बहुत सी बातें हैं और बहुत अधिक कहने से भी कोई लाभ नहीं होने का है, लेकिन जो आरम्भ करेगा, उसको इस दिशा में नया-नया प्रकाश अपने सामने आता जाएगा, अगला Step दिखाई देता रहेगा। आप अनुसरण करते जाइए और बिल्कुल स्वाभाविक बात है कि शान्ति जितनी गाढ़ी होती जाएगी, संकल्प-विकल्प का ताँता खत्म हो जाएगा। उस शान्ति में ही अपने आप से, बिना किसी प्रयास के शरीरों से तादात्म्य टूट जाएगा और यह दृश्य-जगत् जैसे दिखाई देता है, वह भी एक आकृति दिखाई देगी। इससे भिन्न आपका स्वतन्त्र आनन्दमय अस्तित्व है, इसका बोध हो जाएगा। इसका नाम है जीवन-मुक्ति।

अब भक्ति की अभिव्यक्ति सुनिए। यह बहुत ही सरस लगती है और मानव हृदय की रचना उस अविनाशी अलौकिक तत्त्व से हुई है, इसीलिए उस प्रेमरस की चर्चा हर कोटि के व्यक्ति को पसन्द आती है। जीवन का रस ही है वो। प्रेम-तत्त्व के आधार पर ही व्यक्तित्व सुगठित होता है। उसी से सिंचित और उसी से पोषित होता रहता है। हर व्यक्ति को यह तत्त्व पसन्द आता है। यह जीवन रस है, अलौकिक है, अविनाशी है। इसका नाश नहीं होता।

सुख भोग की तृष्णा में पड़े हुए व्यक्ति का रस–स्रोत सूख जाता है। भीतर से वह नीरस-सा हो करके संसार में कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है। धूल फाँकता फिरता है। कहाँ रस मिलेगा, कहाँ अच्छा लगेगा, कैसे सुख मिलेगा; पर सुख मिलता ही नहीं है। बाहर है नहीं, इसलिए मिलेगा नहीं। सत्संग के प्रकाश में, सन्तों के सम्पर्क में, भक्तों

के सम्पर्क में, जो लोग रहते हैं, उनको इस बात का पता चल जाता है कि मेरा हृदय जो है, वह उसी मधुर रस की आवश्यकता का अनुभव कर रहा है और जब तक वह रस नहीं मिलेगा, तब तक तृप्ति नहीं होगी। सुख की तृष्णाओं से हृदय कठोर बनता है, शुष्क बनता है, निर्बलता बढ़ती है। स्नायु के कार्य में विक्षेप होता है, तरह-तरह की मानसिक विकृति होती है। और जैसे-जैसे हृदय को परम पवित्र प्रेम की सरसता मिलती है, तो तन का रोग और मन का रोग, ये सब मिटने लग जाते हैं। शरीर और संसार का मूल्य घटने लग जाता है। परम प्रेमास्पद प्रभु से मिलने की उत्कण्ठा तीव्र हो जाती है। जीवनमुक्ति तो पहले ही आ जाती है और भगवद्भक्ति का रस मनुष्य को सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य कर देता है। भक्ति की अभिव्यक्ति भी मनुष्य के भीतर ही है।

अब वर्तमान दशा अपनी क्या है ? थोड़ी देर के लिए देख लो इसको। प्रेम-रस की आवश्यकता तो हम सब लोग महसूस करते हैं। मीठे वचन अच्छे लगते हैं, अपनापन अच्छा लगता है, दूसरों से प्रेम का व्यवहार हम लोग पाना चाहते हैं। नुकसान क्या हो गया कि जहाँ प्रेम तत्त्व को हम लोगों ने किसी प्रकार कामना, वासना या संकल्प के साथ जोड़ दिया, तो वह प्रेम-तत्त्व शुद्ध न रह कर, आसक्ति के विकार का रूप धारण कर लेता है। व्यक्तियों के साथ जोड़ दो, वस्तुओं के साथ जोड़ दो, तो जो स्वयं अपने आप में पूर्ण नहीं है, वह प्रेम का पात्र नहीं हो सकता, वह प्रेम देने वाला भी नहीं हो सकता। कभी-कभी श्री महाराज जी कहते कि भैया ! इस सारी सृष्टि में, तुम्हारी रचना इतनी सुन्दर है कि प्रेम का दान केवल तुम्हीं कर सकते हो और इस प्रेम का पान केवल परमात्मा ही कर सकता है। न और कोई प्रेम का दान देने वाला है संसार में, न और कोई प्रेम के पान की क्षमता रखने वाला है। मनुष्य ही एक अकेला इस सारी सृष्टि का ऐसा श्रृंगार है कि जो प्रेम का दान कर सकता है और परमात्मा ही अकेला, एक ऐसा समर्थ

अधिकारी है कि जो मानव-हृदय के प्रेम-रस का पान कर सकता है। और किसी में न देने की क्षमता है और न किसी में लेने की क्षमता है।

बाह्य दृष्टि से देखिए तो पशु-पक्षी, वनस्पति सबको प्रेम का रस प्रभावित करता है। करता है कि नहीं ? यह एक अनोखा तत्त्व है। इस नाशवान् जगत् में हम भाई-बहनों के व्यक्तित्व से अभिव्यक्त होने वाला, यह अविनाशी तत्त्व है। कोई कितना ही अज्ञान में जीता हो और भूतकाल में कितनी प्रकार की भूलों को कर चुका हो, फिर भी वर्तमान में आप उससे प्रेम का व्यवहार करिये, तो वह स्वीकार करने को राजी रहेगा कि नहीं ? कितनी भी कठोरता उसके जीवन में आ गई हो आपके द्वारा दी गई प्रेम की सरसता उसे अमृत के समान लगती है। बहुत पसन्द करता है उसे आदमी। मैं तो उसे जीवन-रस कहती हूँ। इतनी बढ़िया चीज है।

अब अभिव्यक्ति कैसे होती है ? तो लेने वाले तो सब प्रकार से लायक हैं ही, उनके बारे में, मैं क्या कहूँ ? विचार तो यह करना है कि हम देने वाले देने के लायक हैं कि नहीं ? ऐसा सोचना है। तो प्रेम रस का दाता कौन बन सकता है ? महर्षि बाल्मीकि जी की वाणी दोहरा लीजिएः--

'जिनहिं न चाहिए कबहुँ कछु,' यह पहली शर्त है। दूसरे, तुम सन सहज सनेह।' बार-बार मैं सोचती हूँ कि अदृश्य परमात्मा से प्रेम करने से जीवन का ताप मिटेगा, यह बात हम सब लोग जानते हैं। कभी भी किसी ने सन्त की, भक्त की वाणी को सुना होगा, कभी किसी ने सद्ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा, तो हर भाई-बहन को इस बात का पता है। लेकिन प्रश्न क्या रहता है ? अनेकों के मुख से मैंने सुना, स्वामीजी महाराज से प्रश्न करते और भी सन्तों से प्रश्न करते ही रहते हैं कि महाराज ! परमात्मा तो दिखाई ही नहीं देता है तो उसको कैसे प्यार करें ? दिखाई दे तो करें। मैंने बहुत सोचा इस बात पर कि हम ऐसा क्यों चाहते हैं कि दिखाई दे तो करें। अरे भाई, दिखाई देने वाला

तो प्यार करने के लायक निकला नहीं, उसको भी काहे को दिखाई देने वाले में शामिल करते हो। जो कुछ दिखाई दे रहा है, सब तुम्हारी आँखों से ओझल होता जा रहा है, भागता जा रहा है, वह तो काम के लायक निंकला नहीं। अब एक रह गया है जिसके बारे में भक्तजन कहते हैं कि वह सदा-सदा से तुम्हारा प्यारा है और कभी भी उसकी ओर से प्यार की रसधारा का आना बन्द नहीं हुआ। तो एक रह गया है ऐसा, उसको भी इसमें क्यों शामिल करना ? रहने दो अदृश्य, अपने वह काम आएगा। एक बात हो गई।

दूसरी बात मेरे ध्यान में आयी, बहुत सोचा मैंने तो मेरे ध्यान में यह बात आयी कि परमात्मा से भी प्यार करने का प्रश्न जब मनुष्य के जीवन में आता है तो वह सोचता है कि दिखाई देता तो अच्छा था। ऐसा क्यों सोचते हैं, हम क्यों चाहते हैं कि परमात्मा दिखाई दे, तो पसन्द करें ? इसका अर्थ यह कि अपनी जो पुरानी आदत है कि संसार पर दृष्टि पड़े तो देखो कि कहाँ से कुछ मिल सकता है, तब उससे नाता जोड़ो। किसी से कुछ सहायता मिल सकती है, तो उससे सम्बन्ध बढ़ाओ। यह जो कुछ लेने की बात मनुष्य के भीतर रहती है, उसी के कारण तो वह परमात्मा के सम्बन्ध में भी सोचता है कि दिखाई दे, तो देखें वह कैसा है ? मेरे काम आने के लायक हो, तो कुछ बात-चीत की जाए, और जब-जब ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति की बात सामने आयी, तब-तब मैंने सुना और बारम्बार सुना। सन्त कबीर ने कहा -

"यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुँहि धरे, सो पैठे घर माहिं।"

तो ईश्वरीय प्रेम से जीवन लहराता क्यों नहीं ? वह उतना आवश्यक मुझे क्यों नहीं लगता ? इन सब प्रश्नों को अपने सामने रखकर छानबीन करके मैंने देखा तो मुझे पता चला कि बढ़िया बात तो यह है कि भीतर में जितने विकार भरे पड़े हैं, जिनके कारण प्रेम-रस की अभिव्यक्ति में बाधा पड़ रही है, उन सब विकारों के सहित

अपने को अनन्त परमात्मा के आगे समर्पित कर दो। बड़ा अच्छा लगा। मैंने कहा कि आपका दिया हुआ सब बढ़िया था, शुद्ध था, पवित्र था, कोमल था, सरस था। मैंने अपनी ही भूल से सबको बिगाड़ दिया। फिर भी आपकी बड़ी कृपालुता है कि मेरी दुर्दशा को देखकर, मेरी पीड़ा को देखकर, आप करुणा–सागर की ही करुणा में लहरियाँ उठने लग जाती हैं। उन्हीं की करुणा द्रवीभूत होकर मुझे छूने लगती है। इस विविध रूप प्रवृत्तियों में फँसा हुआ व्यक्ति भी परमात्मा की याद करता है। मैं महाराज जी से कहने लगी कि महाराज जी ! बड़े अच्छे हैं आपके मित्र, बहुत प्रिय लगने लगे मुझे। इसलिए कि मैं तो उनको भूल गई थी, मैंने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। मुझमें सामर्थ्य कहाँ जो मैं उनको याद करूँ। लेकिन सुख-दुःख के द्वन्द्व में फँसे हुए पीड़ित जीवन को देखकर, उन करुणा सागर की करुणा में रस लहराने लगा, उन करुणा सागर की करुणा द्रवित होकर मुझे छूने लगी। उन्होंने याद किया मुझे, दुःख से मुझे निकालकर अपने प्रेम का पात्र बनाकर, मुझे सरस बनाने की बात उधर से पैदा हुई। पीछे मुझे उनकी याद आई। बड़ा अच्छा लगने लगा। बहुत बल मिलने लगा कि बहुत बढ़िया बात है।

ऐसा आप देखिए, कि भूतकाल में हम लोगों ने कुछ भी किया हो, परवाह मत करो, डरने की कोई बात नहीं है। महाराजजी ने कहा कि भूतकाल में तुमने पाप का पहाड़ बनाकर खड़ा कर दिया तो भी तुम्हारे पाप के पहाड़ को खत्म करने के लिए प्रभु की करुणा की एक बूँद पर्याप्त है। डरो मत। निश्चिन्त हो जाओ। भूतकाल में हमने कुछ भी किया हो, वर्तमान में जब ध्यान में आये कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व के भीतर मेरे पास एक अनमोल तत्त्व भी है, प्रेम तत्त्व। यद्यपि वह अनेक प्रकार के विकारों से दूषित हो चुका है, तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं। परमात्मा अनन्त सागर हैं प्रेम के। उनके यहाँ से प्रेम कभी नहीं घटेगा, उधर से उदारता का दरवाजा कभी संकीर्ण नहीं होगा।

निश्चिन्त रहो बिल्कुल और अपने को, सबके सहित, जो अच्छा किया, जो बुरा किया, जो विफल हुआ सबके सहित अपने को उनके समर्पित करके, उनकी शरणागति लेकर, शान्त हो जाओ। थोड़ी-थोड़ी देर की शान्ति में अनन्त की कृपा-शक्ति इतना काम कर देती है कि जितना बहुत दिनों के तप से नहीं हो सकता। इस प्रकार भक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है।

वे तो बड़े वीर पुरुष थे, जिन्होंने लोक का सुख और परलोक का मोक्ष सब परमात्मा पर न्यौछावर कर, उन्हें प्यार करना पसन्द किया। वे तो बड़े वीर पुरुष थे; हम तो अपने को निर्बल देखते हैं, निर्बलों के भी वे हैं अपने। और कभी तो अपनी असमर्थता से पीड़ित निर्बल साधक, परमात्मा को बहुत प्रिय लगने लगता है। जैसे अबोध और निरीह बालक, दुःख में पड़कर अधीर होकर, माँ-बाप को पुकारे तो माता-पिता उसकी योग्यता नहीं देखते, उसका दोष नहीं देखते, उसकी पुकार पर दौड़कर उसे उठा लेते हैं। ऐसे ही वर्तमान क्षण में अपना चित्र कितना ही बिगड़ा हुआ क्यों न दिखाई देता हो; अपने को न डरना है, न संकोच करना हे, न निराश होना है। अपने को सर्व समर्थ के सामने समर्पित कर दो। शान्त हो जाओ। उनकी कृपा शक्ति सब प्रकार से सँभाल लेगी और अपने प्रेम का पात्र बनाकर, प्रेम के आदान-प्रदान में समर्थ बना देगी।

(88)

उपस्थित महानुभाव, सत्संग–प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

सृष्टि में सब कुछ उत्पत्ति-विनाश युक्त है। बनता है, मिटता है, बदलता है, अर्थात् बिगड़ता है, दृश्य मात्र क्षण-भंगुर है, परन्तु सब उत्पत्ति के आधार एवं सर्व प्रतीति के प्रकाशक परमात्मा अविनाशी हैं। वे ही अव्यक्त, अविनाशी भगवान, कभी-कभी अपने व्यक्त विग्रह को

लेकर संसार में आते हैं तथा अपनी प्रीति भरी दिव्य लीलाओं से अपने भक्तों का रंजन करते हैं। उनकी दिव्य लीलाओं का कभी नाश नहीं होता। जब से मुझे इस बात का पता चला, तब से बहुत आनन्दित रहती हूँ। अपने को समझाती हूँ कि अगर तुम सुन्दर दृश्य ही देखना चाहती हो तो भुवन मोहन श्री श्याम सलोने की मधुर मूर्ति को देखो। उसको देखकर नेत्र सदा के लिए तृप्त हो जाएँगे। सोच कर ही बड़ा आनन्द आता है।

रामावतार और कृष्णावतार की ललित कथाएँ सुन-सुनकर मुझे बड़ा अच्छा लगता था बचपन से ही, कभी-कभी मैं गुरुजनों से पूछती थी कि जब भगवान् आए थे इस पृथ्वी पर और इतनी प्रेम भरी लीलाएँ उन्होंने की, तब मैं कहाँ थी। ऐसा मैं पूछती थी माताजी से, पिता जी से, दादी जी से और मन ही मन बड़ा दुःख लगता था कि न जाने मैं कहाँ थी ? अगर उस समय मुझे पता चला होता कि भगवान इस धरती पर आए हैं, तो मैं उनसे चिपट जाती उनको छोड़ती ही नहीं। अब क्या हो ? बाजी हार जाने की तरह एक पीड़ा भीतर-भीतर रहती थी।

एक बार सत्संग के क्रम में स्वामी जी महाराज के साथ मैं बैठी थी, एक संत के मुख से मैंने सुना कि बारम्बार प्रभु की लीलाएँ दोहराई जाती हैं। प्रत्येक कल्प में, प्रत्येक युग में, बारम्बार रामावतार होता है, बारम्बार कृष्णावतार होता है। जितनी बार त्रेता युग आएगा, उतनी बार रामावतार होगा और जितनी बार द्वापर युग आएगा, उतनी बार कृष्णावतार होगा। सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आशा जग गई कि chance है ! अभी लीला होने वाली है, बड़ी बढ़िया बात है। संसार के सम्बन्ध में नश्वरता के विचार से एक उदासी का भाव जगता था, वह उदासी दूर हो गई।

सृष्टि का कण-कण, प्यारे प्रभु की प्रियता एवं दिव्यता से अनुप्राणित मुझे अति प्रिय लगने लगा। दृश्यों की परिवर्तनशीलता में,

एकदम नवीनता बनाए रखने की कलाकृति को देखकर अनुपम अलौकिक कलाकार पर मैं बलिहारी जाती। इस दृश्य जगत् को भी वे कितना प्यार करते हैं, वे अपने अलौकिक रूप से इसकी सुन्दरता बढ़ाते हैं, अपने-अनन्त माधुर्य से इसकी मधुरिमा बढ़ाते हैं, अपने अनन्त ऐश्वर्य से इसका नियमन करते हैं। आह ! यह जगत् भी धन्य है। प्रेम स्वरूप की विहार-स्थली, इस लोक के वासी होकर रहने में भी बड़ा आनन्द है, जहाँ वे अगणित रूप बनाकर आते हैं, हमारे नयनों के विषय बनकर, सर्वेन्द्रियों सहित हमको अपने मधुर प्रेम के अथाह सागर में विलीन कर लेते हैं। धन्य हैं प्यारे प्रभु ! धन्य है मानव और धन्य है यह वसुन्धरा ! ये सब रहस्य की बातें सत्संग के प्रकाश में संत की वाणी में मुझे प्राप्त हुई। इस समग्र सृष्टि में अगर किसी दृश्य को, हम लोग दिव्य कह सकते हैं, नित्य कह सकते हैं, तो वह अवतारी पुरुष की लीला ही है। यह बात मुझे ठीक लगी, जँच गई। इस आधार पर कि उनकी लीलाएँ दिव्य हैं, उनकी दिव्यता का प्रमाण यह है कि प्रत्येक कल्प की पुनरावृत्ति में, प्रत्येक युग में वे अपने ढंग से आते ही रहते हैं, अपने बच्चों को प्रेम प्रदान करते ही रहते हैं। बारम्बार यह बात होती रहती है। चिरपुरातन, चिर-नवीन का विशेषण सिद्ध होता रहता है।

ईश्वर की दिव्य लीलाओं में और सृष्टि के अन्य दृश्यों में, बड़ा भारी अन्तर है। युग-युग के भोगी, संसार में आए गए, आए गए। अनेकों बार जन्म हुआ, मरण हुआ लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि एक जन्म में जो कुछ घटनाएँ घटित हुई हों, वो फिर दोहराई जाएँ, ऐसा कभी नहीं होता है। सब कुछ परिस्थितियों के साथ बदलता जाता है, समय के साथ बदलता जाता है, लेकिन प्यारे प्रभु ने जो यह नर लीला इस धरती पर की हैं, वे लीलाएँ दिव्य हैं। उनका एक उद्देश्य है और उनका एक आनन्ददायक परिणाम हम लोगों के लिए यह है कि आज भी उनके भक्त जिस भाव से उनको प्यार करते हैं, उस भाव का आदर करके उसी रूप में वे उनको दर्शन भी देते हैं और उनके साथ मे

विविध लीलाएँ भी करते हैं। अभी भी ऐसा हो रहा है। ऐसा होता रहता है।

एक उदाहरण मैं आपको सुनाती हूँ, सच्ची घटना है, वे सज्जन अभी सशरीर विराजमान हैं। पूर्णियाँ में एक सज्जन मिले थे, उन्होंने अपनी कथा सुनाई, कि "मैं बैठा था, रामायण का पाठ हो रहा था; खूब बाजा बज रहा था; झाँझ मंजीरा बजाकर स्वर के साथ पाठ किया जा रहा था। हनुमान जी का मन्दिर था। खूब रोशनी हो रही थी और बड़ा समारोह था। उसमें मैं बैठा पाठ कर रहा था। मैं ब्राह्मण हूँ, बैंक में नौकरी करता हूँ। मित्रों ने मुझे बुला लिया था कि चलो पाठ में शामिल हो। मैं सबके स्वर में स्वर मिलाकर गा ही रहा था कि इतनी ही देर में पता नहीं, सब दृश्य कहाँ गायब हो गया। न लाइट है, न गाजा-बाजा है, न धूम-धाम है, न लोगों की भीड़-भाड़ है, कुछ नहीं है। सब कहाँ गायब हो गया। मैंने देखा कि मैं बैठा हूँ मिथिलापुरी में, जनकपुर की सभा में, धनुषयज्ञ की भीड़ में, मैं बैठा हूँ। रंग-भूमि में उसी जगह बड़ा विशाल धनुष रखा हुआ है। और मैंने देखा कि गुरु जी महाराज के पास बैठे हैं राजकुमार कौशल किशोर। गुरु जी ने आज्ञा दी।

उठहु राम भंजहुँ भव चापा।
मेटहुँ तात जनक परितापा।

इस चौपाई के गाते ही शरीर और संसार, मन्दिर और पाठ सब खत्म हो गया। अब जनकपुर के धनुष यज्ञ का चित्र वहाँ उपस्थित हो गया। चारों ओर खूब भीड़ लगी है और राघवेन्द्र सरकार के प्रकाश से यज्ञ-भूमि में चारों ओर जगमग-जगमग हो रहा है। उसकें बाद मैंने देखा कि राम लला जी उठकर खड़े हो रहे हैं, उन्होंने गुरु महाराज को प्रणाम किया और मंच से उतरकर एक-एक कदम बड़े धीरज से बड़ी स्थिरता से रख रहे हैं। मैं देख-देखकर मोहित हो रहा था। इतना अच्छा लग रहा था, इतना अच्छा लग रहा था कि मैं क्या बताऊँ कि सभा में, सन्नाटे में सब लोग चुपचाप बैठे थे। श्री रामचन्द्र जी ने देखा,

कि बड़े-बड़े वीर वहाँ हार चुके थे। सब लोग स्तब्ध होकर देख रहे थे कि पन्द्रह वर्ष का राजकुमार, अति सुकुमार बालक, विकराल धनुष तोड़ने जा रहा है, इसीलिए सब लोग आश्चर्यचकित थे। इधर राजकुमार धीरे-धीरे अपनी राजसी चाल में बड़े ही आत्म-विश्वास के साथ आ रहे थे धनुष के पास। उनके दर्शन से इतना आकर्षण हो गया, उनके मुख के प्रकाश से, उनके मुख से फैलने वाली मधुरता से मैं इतना मंत्र-मुग्ध हो गया था माता जी, कि मैं क्या बताऊँ, पता नहीं कि मैं कहाँ था। आप सुन रहे हैं ? यह अनुभव है उस मानव का।

अब देखिए ! दिव्य-दर्शन के रस में अहं का पता कहाँ रहेगा। वह ब्राह्मण युवक लीन हो गया था उस प्रेम में, और संयोग की बात थी कि उसके साथ वहाँ के मानव सेवा-संघ के कार्यकर्त्ता बैठे थे। वे भाई उस पाठ-यज्ञ के आयोजक भी थे और इस ब्राह्मण युवक के साथ वे भी पाठ में शामिल थे। तो युवक अपने आनन्द की बात सुना रहे थे मुझको। उन्होंने उस आयोजनकर्ता की ओर बहुत ही अनासक्ति की दृष्टि से देखा और कहने लगे कि "माताजी, देखिए, यह यमुना प्रसाद जो है, जो आपके पास बैठा है, इसने बड़ा दुःख दिया मुझको। पाठ के बीच में इसने सोचा कि ब्राह्मण सो गया है तो मेरी बाँह पकड़कर मुझको हिला दिया। कहने लगा, कि पाठ करने आया है कि सोने ? उठो ! माता जी मैं सो नहीं रहा था। मैं तो अलौकिक आनन्द में था। क्या देख रहा था, मैं कहाँ था, कैसे क्या हो गया, मुझको कितना आनन्द था-कितना आनन्द था यह मुख से कहने की बात नहीं है। और मेरे उस भाई ने मुझको पकड़कर हिला दिया। पलक मारते ही दृश्य बदल गया। फिर तो वही झाँझ-मँजीरा सुनाई देने लगा, वही चौपाइयाँ सुनाई देने लगीं। बत्ती दिखाई देने लग गई, मन्दिर दिख गया और मैं कहाँ से कहाँ आ गया। तो वह रूप, उस दिन से मेरी आँखों से निकला नहीं है। मैंने उनको कहा नहीं, कि मुझको दर्शन देना, मैंने उनको कहा नहीं था अपनी मोहिनी मुझ पर डालना और बिना मेरे कहे, उन्होंने मुझे दर्शन दे दिया, अपनी मोहिनी मुझ पर डाल दी, माताजी ! अब तो मैं दुनियाँ के काम के लायक नहीं रह गया। किसी

प्रकार से घरबार चला रहा हूँ, किसी प्रकार से नौकरी चल रही है। दिन-रात यह मोहिनी मूरत मेरी आँख में बसी हुई है। अब मैं तड़प रहा हूँ कि प्यारे कब मुझको अपने प्रेम-स्वरूप में मिला करके, मेरे जीवन को पूरा करेंगे।"

देखिए ! इसी असार संसार में, उस युवक ने दिव्य चिन्मय का दिव्य दर्शन पाया। नाम-रूप, लीला और ध्यान की दिव्यता सिद्ध हो गई-यह एक उदाहरण है। और बाकी संसार का क्या हाल है ? कि ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से, जगत् के सम्पर्क से, जिन दृश्यों को हम देखते हैं उनको दोबारा नहीं देखा जा सकता, क्योंकि पलक के उठने और गिरने के बाद आप भी बदल जाते हैं और वह दृश्य भी बदल जाता है। इतना परिवर्तनशील दृश्यमान जगत् है, जिसमें निरन्तर परिवर्तन है और जरा सी देर के लिए भी ठहराव नहीं है। ऐसे अनित्य जगत् में वे लीलामय दिव्य रूप लेकर आते हैं, दिव्य लीलाएँ करते हैं और हमारे आपके बीच अद्भुत-अद्भुत क्रीडाएँ कर जाते हैं, जो बड़ी ही मनभावनी हैं। ये लीलाएँ इस मृत्यु-भुवन में होती हैं, परन्तु लीलाएँ स्वयं दिव्य होती हैं। उनका नाश नहीं होता। इसलिए हमारे ऋषियों, मनीषियों, महापुरुषों ने संसार के कल्याण का मार्ग दिखाने वालों ने, हम लोगों को बताया कि यदि तुमको दृश्य ही पसन्द आता है, तो दिव्य दृश्य पर दृष्टि डालो। अगर तुमको नाता-रिश्ता, सम्बन्ध जोड़ना ही पसन्द आता है, तो उस दिव्य अवतारी से सम्बन्ध मानो।

राम विवाह की कथा आप लोगों ने सुनी होगी। मिथिलापुरी में विदाई के पहले, सखी-सहेलियों की बात हो रही थी तो उन्होंने बहुत प्रीति भरी बातें कहीं और प्रीति के ग्राहक रसिक शिरोमणि कौशल किशोर सुन-सुनकर प्रेम विभोर होते जा रहे थे। प्रेमियों की प्रेम भरी बात सुनना उनको अत्यन्त प्रिय लग रहा था। सखियों का अनुरोध था कि हे लालन ! आप चले जाएँगे, तो दर्शनों के बिना हम कैसे रहेंगी। हम नहीं रह सकेंगी। सबको मालूम था कि ये मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। एक

विवाह इनका हो गया, अब तो हम इनके महल में प्रवेश नहीं क
सकती हैं, फिर भी वे मधुर प्रीति से पगी हुई सखियाँ प्रवाह में क
चली जा रही हैं कि हे लालन ! हम किशोरी जी की दासी होक
रहेंगी, हम आपके राज्य में महल के बाहर फूँस की झोंपड़ियाँ बनाक
रहेंगी। अब आप देखिए, ऐसा कह रही हैं राजमहल की राजकुमारियं
किशोरीजी के साथ थोड़े समय के आगे-पीछे तेरह सखियाँ मिथिलापु
में अवतरित हुई थीं। उन्होंने कहा कि हम आप दोनों के दर्शन के बि
किसी प्रकार नहीं रह सकतीं। बड़े से बड़ा त्याग, बड़ी से ब
कठिनाई उठाने की बात उन्होंने कही और कहा कि बस अब इत
ही है कि हमारी प्यारी किशोरी जी के सम्बन्ध से आप हमें, अप
करके मानें। यह अपनापन अवश्य निभाना। इतना कहाँ सहन होत
उस प्रेम-स्वरूप से। सखियों के हृदय में अगर सीमित प्रेम-भाव उम
रहा है तो उस असीम अनन्त में असीम भाव उमड़ रहा है। और व
उन्होंने कह दिया कि अच्छी बात है सखियों, आपने जो किया मे
लिए, सो किसी ने नहीं किया। मैं आप ही का हूँ, मैं सदा-सदा
आपका हूँ और आपका होकर रहूँगा। आपको छोड़कर नहीं जाऊँग
ऐसा कह दिया उन्होंने। और जैसे कहा, वैसा किया।

आज भी उस क्षेत्र में कई भक्त लोग मुझे मिले, जिन्होंने मु
बताया कि वहाँ पर इस भाव से, आज भी अनेकों भक्त, युगल सरक
की उपासना करते हैं और इस बात को मानते हैं कि वे रसि
शिरोमणि मिथिला छोड़कर गए नहीं हैं। आज भी उन लोगों को व
पर युगल जोड़ी का दर्शन होता रहता है, मुलाकात होती रहती है
कलिकाल में भी ऐसा हो रहा है, ऐसा हो सकता है, ऐसा होना सम्भ
है और इन सारी बातों के ध्यान में आने से मुझे यह बहुत अच्छी ब
लगती है कि अगर दृश्य देखे बिना अपने को सूना-सूना लगता
यदि देखना ही पसन्द है, तो उस दिव्य लीला को ही क्यों न दे
जिसका कभी नाश नहीं होगा। नाम लिए बिना यदि नहीं रहा जा
है, तो उस दिव्य नाम को क्यों न लो, जो सब प्रकार से तुम्हारा लो

परलोक सुधार देगा। सम्बन्ध माने बिना यदि अकेले तुम से नहीं रहा जाता है, तो उस नित्य सम्बन्धी से सम्बन्ध क्यों न मानो जो सब समय साथ देगा। बहुत अच्छी बात है। यह सब हो सकता है, परन्तु कब, जब हम पसन्द करें तब। अगर कोई नापसन्द करे तो भगवान को कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन अपने से रहा कहाँ जाता है।

और भी बढ़िया बात है देखिए ! अगर बिना देखे, बिना जाने, प्रेम स्वरूप परमात्मा से (direct) सीधा विश्वास करके सम्बन्ध आप न मान सकें, तो किसी भगवद्-भक्त, अनुरागी संत के कहने से मान लेना चाहिए। ऐसा भी होता है। जीवन की आवश्यकता देख कर भी उनको अपना मानता है आदमी, गुरु के वाक्यों को सुनकर भी मानता है, सद्ग्रन्थों के वाक्यों को पढ़कर भी मानता है, ये तीनों ही आधार हैं। अपने में आवश्यकता है, रहा ही नहीं जाता बिना सम्बन्ध माने, तो नित्य सम्बन्धी से ही सम्बन्ध मानना अच्छा है। उसके अतिरिक्त इस जगत् में ऐसा सम्बन्ध क्या माने, जो बन भी जाता है, बिगड़ भी जाता है। मीरा जी ने कहा था कि --

ऐसे वर को क्या वरूँ रे, जो जन्मे मर जाए।
वर वरिये एक साँवरिया रे, चुडलो अमर हो जाए।

मीरा जी ने ऐसे नित्य सम्बन्धी को अपना माना था, तो वे चिर सुहागिन हो गईं। अचल सुहागवती हो गईं हमेशा के लिए। फिर कभी उनको दुःख देखना नहीं पड़ा। इसी प्रकार भक्त जन जो हैं, सन्त जन जो हैं, हम लोगों को दुःख से छुड़ाने के लिए, अमर आनन्द देने के लिए, अनन्त रस का पान कराने के लिए, सलाह देते हैं कि सम्बन्ध माने बिना तुमसे रहा नहीं जाता है, तो उस नित्य सम्बन्धी को अपना मानो, जो लोक-परलोक सब निभा देगा। यहाँ का भी, और शरीर के त्यागने के बाद का भी, सब कुछ पूरा कर देगा, क्योंकि समर्थ हैं वो। अब मनुष्य की बड़ी भारी बहादुरी है कि वह बिना देखे, बिना जाने को अपना मान करके स्वीकार कर ले और उस पर अपने को समर्पित कर

दे। उसकी इसी बहादुरी पर रीझ करके परमात्मा उसकी सारी जिम्मेदारी अपने हाथ में ले लेते हैं। वे कभी भी हमारा साथ नहीं छोड़ते। जिसके सम्बन्ध की स्वीकृति मात्र से अपनी सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं, उसी से सम्बन्ध मानना सार्थक है।

हाँ! प्राकृतिक विधान से, जो मनुष्यों से सम्बन्ध बन गए हैं अपने, जुट गए हैं, उनमें से कुछ हमने जान बूझकर सचेत होकर जोड़े और कुछ शरीर के जन्म से सम्बन्ध जुट गए तो इनको साधन रूप दे दिया जाए। इनको सत्य नहीं माना जाए। थोड़े दिनों के लिए संयोग बना है-ऐसा जानकर इनके साथ जितना अच्छा बन पड़े सद्व्यवहार किया जाए और फिर सम्बन्ध कभी न माना जाए। हमारा इनसे सीधा सम्बन्ध नहीं है-इस सत्य को स्वीकार किया जाए। शरीर के नाते भौतिकवाद की दृष्टि से सभी प्राणी एक हैं, अध्यात्मवाद की दृष्टि से सब निज स्वरूप हैं, ईश्वरवाद की दृष्टि से सब मेरे प्यारे के प्यारे हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण लेकर, पति, पुत्र, सन्तान, माता-पिता, भाई-बहन सबके साथ सद्व्यवहार करो तो उनका चिन्तन छूट जाएगा और याद किसकी रहेगी ? जिसके नाते से आपने उनकी सेवा की थी, उसकी याद रह जाएगी। फिर तो आप इस रस में पगे रहेंगे कि सब कुछ तेरा, केवल तू ही मेरा। बड़ा आनन्द रहेगा।

अब कोई कहे कि कुटुम्बियों का मोह और सम्पत्ति का लोभ हम छोड़ ही नहीं सकते, तो इतना भी साहस हम नहीं कर सकते, तो कैसे काम बनेगा भाई ? आप चाहते हैं कि मरणशील शरीर को लेकर मृत्यु भुवन में रहते हुए उस अजन्मा, अनादि, उस परमात्मा के परम प्रेम के पात्र हम बन जाएँ और वे प्यारे प्रभु आकर हमको लाड़ दुलार करें गोद में बैठाएँ, सँभालें जैसे अन्य भक्तों के साथ उन्होंने किया। इतनी बात यदि आप चाहते हैं कि अशरीरी, त्रिगुणातीत, प्रेम के वश होकर मेरे लिए दो हाथ, दो पाँव बनाकर, मेरे पास आ जाएँ और रूप-माधुरी का पान कराएँ, इतनी ऊँची अभिलाषा आप रखते हैं ! लेकिन अपनी

ओर देखिए ! अपने माने हुए मिथ्या सम्बन्धों को छोड़ने के लिए राजी नहीं हैं। बड़ी हास्यास्पद बात है।

एक बार महाराज जी कहने लगे कि देखो ! मनुष्य के हृदय के प्रेम-भाव का आदर करने के लिए वह ब्रह्म, ब्रह्मभाव को छोड़कर जीव भाव स्वीकार करता है और उस प्रेम का आदर करने के लिए तुम अपनी तुच्छ ममताओं को नहीं छोड़ सकते और फिर कहते हो हम ईश्वर विश्वासी हैं, हम ईश्वर भक्त हैं। भैया ! इस प्रकार प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। अतः मैं अपने आत्मीय सभी भाई-बहनों से बड़ी नम्रता से निवेदन करती हूँ कि अनमोल अवसर है, हम लोग चूकें नहीं। जिन्होंने अपने प्रेम के विस्तार के लिए ही हमें रचा है, वे तत्पर हैं हमें अपनाने में। मानव हृदय ही तो वह माध्यम है, जिससे प्रेम-स्वरूप की मधुरता विश्व में प्रकट होती है। अपना हृदय पट हम खोलें। उन प्रेम स्वरूप में रस उमड़ रहा है, हमें भरने के लिए। अब आप शान्त हो जाएँ।

(89)

सत्संग.प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो,

हम सब लोग मानव जीवन की उच्चतम उपलब्धि की चर्चा कर रहे हैं। सबसे ऊँचे जीवन का चित्र कैसा है ? कि जिसमें शान्ति, स्वाधीनता और परम प्रेम भरपूर हो अर्थात् जिससे व्यक्ति शान्ति, स्वाधीनता और परम प्रेम के रस से अभिन्न हो जाए। यह हमारे जीवन का उच्चतम चित्र है।

वर्तमान की दशा कैसी है ? वर्तमान की दशा ऐसी है कि निज विवेक के प्रकाश में हमने प्रतीत होने वाले जगत् की परिवर्तनशीलता को देखा है। इसके नश्वर स्वरूप को हम लोग पहचानते हैं। अतः इस आधार पर प्रतीत होने वाले जगत् की ओर से सहारा टूट जाता है।

कैसा भी व्यक्ति हो, अनपढ़ हो या पढ़ा-लिखा हो, उच्चवर्ग में जन्मा हो अथवा निम्न वर्ग में जन्मा हो, इससे कोई मतलब नहीं है। मनुष्य को जन्मजात विवेक का प्रकाश मिला है, जिसमें वह बनने, बदलने, बिगड़ने और मिटने वाले संसार के चित्रों को अच्छी तरह से देख सकता है और समझ सकता है कि इधर निश्चिन्त होने लायक कोई बात मिलती ही नहीं है। मनुष्य के भीतर बड़ी भारी आवश्यकता इस बात की है कि वह शान्तिपूर्वक रह सके, सब प्रकार की पराधीनताओं से, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सके और परम प्रेम के रस से भरपूर हो सके। यह उसकी माँग है।

शान्ति, स्वाधीनता और परम प्रेम की सरसता, आज इस वर्तमान में, हम भाई-बहनों के जीवन में माँग के रूप में विद्यमान है। एक ओर बदलने-बिगड़ने वाला जगत् है जिसकी प्रतीति हो रही है। दूसरी ओर कभी न बिगड़ने वाले, सदा-सदा तक रहने वाले, कभी अप्रिय न लगने वाले जीवन की माँग है। इन दोनों के भीतर से होकर हम लोग आगे बढ़ रहे हैं। जीवन के विधान से, सन्त जनों के अनुभव से और सद्-ग्रन्थों के वाक्यों से हम लोगों को एक बड़ी अच्छी बात मालूम हो गई। क्या ? कि जो सत्य नहीं है, नित्य नहीं है, जिसकी प्रतीति हो रही है, परन्तु प्राप्ति नहीं होती है, उसकी आसक्ति हम छोड़ सकते हैं, उसके तादात्म्य से ऊपर उठ सकते हैं, इसकी सम्भावना है।

दूसरी क्या बात सुनने को मिली ? कि जो देखने में नहीं आता, जो इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता, जो बुद्धि की सीमा में नहीं समा सकता-ऐसा एक है और वही नित्य तत्त्व है, वही अनादि-अनन्त है, वही आनन्दस्वरूप है, वही प्रेम-स्वरूप है। उसी की हम लोगों को माँग है और वह माँग पूरी हो सकती है। तो जिससे सम्बन्ध जोड़कर अनेक प्रकार के दुःख हमने उत्पन्न किए, उसके सम्बन्ध को तोड़कर दुःखों से मुक्त हम हो सकते हैं। इस सम्भावना को सन्तजनों ने कहकर सुनाया, लिखने वालों ने लिखकर रख दिया। हम पढ़ते हैं, सुनते हैं और इसकी आवश्यकता भी अनुभव करते हैं।

'नहीं' को नहीं कहकर, अस्वीकार करने की सामर्थ्य जीवन दाता ने हम भाई-बहनों को दी है। 'है' को है कहकर स्वीकार करने की योग्यता और सामर्थ्य भी जीवन-दाता ने हम लोगों को दी है। आप इसको मानेंगे कि नहीं ? जिसमें नाश दिखाई देता है, जिसमें स्थिरता नहीं है, उससे सम्बन्ध रखना अपने को पसन्द है या उससे सम्बन्ध तोड़ना चाहते हैं ? (श्रोता) तोड़ना चाहते हैं। और तोड़ने की सामर्थ्य जीवन-दाता ने, जन्म-दाता ने दी है हम लोगों को, इसीलिए दायित्व आया अपने पर। और वह जो सदा-सदा से है; अलख-अगोचर है; अनादि-अनन्त है उसके सम्बन्ध में हम सोचते ही रहें, चिन्तन ही करते रहें, कल्पना ही करते रहें, उसका प्रतीक बनाकर, उसका पूजन ही करते रहें। ऐसा नहीं है, कुछ लोगों को ऐसा भ्रम हो जाता है।

आज के युग में कुछ कच्चे वैज्ञानिक हैं, So called scientists वैज्ञानिक कहना चाहिए, उनको ऐसा भ्रम हो गया है कि वे बड़े वैज्ञानिक हैं, बड़े दार्शनिक हैं। वे कह देते हैं कि भाई ! लोग कहते हैं कि भगवान ने मनुष्य को बनाया, यह बात तो सन्देहास्पद है। क्या जाने कि किसने बनाया ? लेकिन यह बात पक्की है कि मनुष्य ने भगवान को बनाया-ऐसा भ्रम है उनको। God created man यह सुनी हुई बात तो सन्देहास्पद है, परन्तु man created God यह बात पक्की है। कैसे भाई ? भगवान है कि नहीं है, कहाँ है, कौन जाने ? आदमी ने कहीं दो हाथ बनाकर, कहीं चार हाथ बनाकर, तो कहीं अष्ट भुजा बनाकर खड़ा कर दिया। यह तो आदमी की ही रचना है। उसने अपने मन से, अपनी मर्जी के अनुसार, जगह-जगह विविध रूप में, भगवान बनाकर खड़े कर दिए-ऐसा भ्रम भी हो जाता है लोगों को। उनकी बात छोड़ दीजिए। हम लोग अपनी चर्चा कर लें।

अपने को सामने रखकर सोचें, तो आप देखेंगे कि दिखाई देने वाले जगत् में भ्रम-वश सद्‌बुद्धि रखने के कारण इसकी ओर बड़ी घनी आसक्ति हमने अपने में उपजा लीं। और यह दिखाई देने वाला जगत्

जो है इसकी वस्तुएँ और इसके व्यक्ति किसी भी प्रकार से हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर ही नहीं सकते। इस दृष्टि से इधर से निराशा होती है, इधर का सहारा छूटता है। और बेसहारे रहने का साहस अपने में है नहीं।

जीवन में जो अपूर्णता अनुभव करता है, अभाव अनुभव करता है, शरीर और परिस्थितियों की पराधीनता में बँधा हुआ अनुभव करता है, वह अकेला रह नहीं सकता ? बे सहारे रह नहीं सकता। उसको एक अचल सहारा चाहिए। जिसको पकड़कर वह सदा-सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय हो सके, ऐसी जरूरत मनुष्य की है। उसकी इस आवश्यकता की पूर्ति सारी सृष्टि मिलकर नहीं कर सकती। ऐसी हालत में घुमा फिरा करके, किसी-न-किसी ढंग से, व्यक्ति को उस अदृश्य, अनजानी, अलख, अगोचर, नित्य सत्ता पर विश्वास करना ही पड़ता है। मैं तो ऐसा मानती हूँ कि हम से रहा ही नहीं जाता। अपने में अधूरापन अनुभव होता ही है। और सन्त जनों ने बताया कि सर्व प्रतीति का प्रकाशक, सर्व उत्पत्ति का आधार एक है जरूर, जिससे यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है और जिससे यह सब कुछ प्रकाशित हो रहा है। तो हम लोगों को भीतर से यह माँग मालूम होती है कि हमको ऐसा चाहिए और बाहर से सन्त जनों के वचनों में सुनाई देता है कि 'ऐसा है' और सद् ग्रन्थों में लिखा हुआ भरा पड़ा है कि 'ऐसा है।'

इस आधार पर भाई-बहनों के जीवन में ईश्वर–विश्वास का एक तथ्य पाया जाता है। जहाँ संसार से काम चल गया वहाँ उससे काम चला लिया। जहाँ इधर से काम नहीं चला तो भगवान को याद कर लिया। इस दुविधा में जीवन का बहुत बड़ा भाग निकल गया। अब इस दशा को मिटाना है हमें। दुविधा में क्यों रहेंगे। दो स्वतंत्र सत्ताएँ हो नहीं सकतीं। एक ही को मानेंगे हम। दिखाई देने वाले ने हमें सन्तुष्टि नहीं दी; निश्चिन्त नहीं किया; निर्भय नहीं किया; हमारे अभावों को दूर नहीं किया। इसलिए जो सजग भाई-बहन होते हैं, वे जीवन के विधान

के आधार पर, सन्त महापुरुषों के वचनों के आधार पर, सद्ग्रन्थों के वाक्यों के आधार पर, बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को स्वीकार कर लेते हैं। तो इस स्वीकृति मात्र से हम आस्तिक हो जाते हैं।

अब आगे चलकर हम लोगों को भक्तों की श्रेणी में आना है। हमने बड़े ऊँचे-ऊँचे भक्तों के जीवन को पढ़ा है, सुना है, पसन्द किया है। उससे बड़ा उत्साह बढ़ता है, एक सहज आकर्षण उनकी ओर होता है तो उनके पास हम जाते हैं। अपने को आधुनिक ढंग से, वैज्ञानिक भाषा में समझना चाहती हूँ तो इस प्रकार से समझाती हूँ कि जिन संत जनों के व्यक्तित्व में सत्य की अभिव्यक्ति हो गई अर्थात् जिनके व्यक्तित्व में परम प्रेमास्पद प्रभु की विभूतियाँ प्रकट हो गईं। उदारता, स्वाधीनता, परम प्रेम के रस के रूप में, उन सन्त महात्माओं के प्रति हम भाई-बहनों का एक सहज आकर्षण होता है। तो जो जीवन का मूल स्रोत है, परम स्वाधीन, परम उदार, परम प्रेम का अथाह सागर है, उसमें अगर इतना आकर्षण है कि हमारी भूली भटकी हुई दशा में भी वो हमें अपनी ओर खींचे ही रहता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। उनके दिए हुए सद्गुणों के आधार पर जब मनुष्य का व्यक्तित्व समाज में इतना आकर्षक हो जाता है तो जो स्वयं सब सद्गुणों का उद्गम है, उसमें आकर्षण कम होगा ? जी ? कम नहीं हैं।

तो होता क्या है कि निज विवेक का अनादर करके, अपने जाने हुए असत्य के संग का त्याग करने में भी हम थोड़ी देर लगाते हैं, कि अच्छी बात है नाशवान है तो सही, लेकिन आज अच्छा संयोग बना है, सुखद परिस्थिति दिखाई दे रही है तो आज तो उसका सुख ले लो, फिर नश्वरता के बारे में सोच लेंगे-ऐसा करके पता नहीं कितनी अनमोल घड़ियाँ हम खो चुके हैं। जिन घड़ियों में परम प्रेमास्पद प्रभु के अत्यन्त आकर्षक, अत्यन्त मधुर रस के प्रवाह से हम आप्लावित हो सकते थे, उन घड़ियों में भी हमने तृष्णा भरी दृष्टि से जगत् की ओर

देखा। अपने को पराधीन पाया; अपने को दीन-हीन पाया तो घाटा लगा कि लाभ हुआ ? बहुत बड़ा घाटा लगा। तो अब क्या करें ? वे जीवन-दाता परम उदार हैं। वे हमें क्षमा भी कर देते हैं, आगे बढ़ने का साहस भी देते हैं और मार्गदर्शन भी करते हैं जितना हम चल सकते हैं, उतना चल लेते हैं। जहाँ सामर्थ्य खतम हो जाती है, वहाँ आकर, अपने करुणा भरे हृदय से लगाकर सँभाल भी लेते हैं। ये सब बातें वे करते हैं मनुष्यों के प्रति, साधकों के प्रति, सामर्थ्यवानों के प्रति, असमर्थों के प्रति। सब उनके प्यारे हैं, सबको वे अपना मानते हैं और सभी की इस दिशा में सब प्रकार से सहायता करते हैं। ऐसा मैंने अनुभवी संतों की वाणी में सुना और सुनने से जीवन के प्रति एक बहुत ही आशा जनक दृष्टिकोण बन गया कि सारी जिम्मेदारी उन्होंने हम पर नहीं डाली। कुछ जिम्मेदारी हम पर है बाकी सब कुछ वे कर सकते हैं, परन्तु एक बड़ी जोरदार बात है कि यदि आप आवश्यकता अनुभव करें तो। नहीं तो नहीं। ऐसा क्यों है ? ऐसा भी मैंने प्रश्न किया था महाराज जी से कि यदि प्रारम्भ में ही मुझे बता दिया जाता कि यह सब असत् का संग है तो क्यों मैं इनके संग में लिपट करके अपनी दुर्दशा करती ? क्यों हमें बुराई में प्रवेश करने की अभिरुचि उत्पन्न होती ?

तो महाराज जी ने कहा कि देखो, पशु-पक्षी आदि योनियों में जो शरीरधारी हैं, उनमें स्वाधीनता कम है। वे केवल प्रकृति के विधान से बँधे हुए चलते हैं, देह-जनित सुख-दुःख का भोग करते हैं और मर जाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके भीतर और कोई जिज्ञासा, और कोई सामर्थ्य नहीं होती। परन्तु मनुष्य एक ऐसा विलक्षण प्राणी है कि इसमें संसार का आकर्षण भी है, और संसार से परे जो अनादि, अनन्त तत्त्व है उसके प्रति जिज्ञासा भी है, उसके परम प्रेम की प्यास भी है। शरीर से अतीत जो कुछ है, उसके बारे में वह सोच सकता है, उसके लिए पुरुषार्थ कर सकता है-इतनी स्वाधीनता मनुष्य को दी गई है। अगर

परमात्मा ने नियम बनाकर बाँध दिया होता, कि वाणी की शक्ति तो तुम्हें मिली है, लेकिन तुम मिथ्या बोल नहीं सकते-इस तरह से प्रकृति के विधान में बाँधकर उन्होंने हम लोगों को पराधीन बना दिया होता तो अपनी स्वतन्त्र सत्ता का भास ही नहीं होता, नित्य जीवन की खोज ही आरम्भ नहीं होती और परम प्रेमास्पद प्रभु को रस प्रदान करने की जो गरिमा है, महिमा है, मनुष्य के जीवन में, वह भी कभी चरितार्थ नहीं होती। इसलिए उन्होंने यह स्वाधीनता दी कि संसार के साथ रहकर उसके अनुभवों को जान कर भी तुम उसी में फँसे रहना पसन्द करते हो, या उसके बन्धन से मुक्त होना पसन्द करते हो। तो यह पसन्दगी की स्वाधीनता उन्होंने हमें दी।

अब अपनी ओर से हमें केवल अपने लक्ष्य को निर्धारित करना पड़ेगा कि हम किसको पसन्द करें और किसको पसन्द नहीं करें। बाकी जो कुछ चाहिए, उनके मंगलमय विधान से सभी प्रकार के साधकों को स्वतः मिलता ही रहता है। तो मनुष्य की यह महिमा है कि वह दिखाई देने वाले सुहावने, लुभावने संसार को इन्कार कर देता है, कि नहीं, नहीं, यह मुझे नहीं चाहिए। और मनुष्य की ही यह हृदय शीलता है कि वह बिना देखे, बिना जाने परमात्मा पर बिना किसी शर्त के अपने को समर्पित कर देता है। किसलिए ? उसकी प्रसन्नता के लिए। उसको रस प्रदान करने के लिये। स्वामी जी महाराज कभी. कभी अपने मौज में आकर कहते, "जाओ यार तुम भी क्या कहोगे, तुम भी आजाद रहो, मैं भी आजाद हूँ।" तो अर्थ क्या निकला ? कि मनुष्य में प्रभु के प्रति प्रेम के भाव की जो प्रचुरता होती है, उससे रस की वृद्धि होती है और उसका लक्ष्य होता है कि जिसने मुझे कर्म—सामग्री दी संसार की सेवा के लिए, जिसने मुझे विवेक का प्रकाश दिया जन्म—मरण का बन्धन काटने के लिए, जिसने मुझे प्रेम का भाव दिया रस से भरपूर होने के लिए, वह प्रेम भरा जीवन, मैं उस पर न्यौछवर करता हूँ; वह प्रेम भरा जीवन मैं उसको समर्पित करता हूँ उसकी प्रसन्नता के लिए। तो इतना ऊँचा हो सकता है मानव का जीवन, जो सेवा करके संसार

के लिए उपयोगी हो जाए; निष्काम और अचाह होकर स्वाधीन हो जा
और प्रेमी होकर प्रभु को रस प्रदान करने वाला हो जाए। इतना ऊँच
जीवन उन्होंने स्वयं अपने में से ही बनाया है।

अपने जीवन की महिमा को हमने स्वयं स्वीकार नहीं किया औ
उनकी उपस्थिति में हमने आस्था नहीं की। उनके दिए हुए प्रेम–भा
को आसक्ति से हमने दूषित कर दिया, तो उसके अभाव में जीवन
नीरसता भर गई, दुःख भर गया, बहुत बुरा हाल हो गया। अब आज
हम सब लोग उस दुर्गति को मिटाकर जीवन के उच्चतम महत्त्व क
पूरा करने के लिए विचार–विमर्श करने के लिए बेठे हैं।

तो अब साधन के स्तर पर हम क्या करें? पिछले कई दिनों से
अप्रयत्न होने की बात चल रही है। सारा प्रयत्न और सारा श्रम कब
सार्थक होता है ? जब हम प्राप्त सामर्थ को जगत् की सेवा में लगा देते
हैं। जितनी सामर्थ्य मिली, जितनी जिन्दगी मिली और जो कुछ सामग्री
मिली, वह सब सेवा में लगा दी तो उस सबका सदुपयोग हो गया। अब
अपनी माँग कैसे पूरी हो ? तो माँग की पूर्ति के लिए सब सामग्री और
परिश्रम से अपने को थोड़ी–थोड़ी देर के लिए अलग रखना है। उसका
साथ छोड़ना है। उससे असंग होना है। उसका तादात्म्य तोड़ना है।
यह पुरुषार्थ किसलिए? अपने लिए। जगत् का जो अंश अपने पास है
वह जगत् की सेवा के लिए है। उसमें से कोई हिस्सा अपने काम नहीं
आएगा। इसलिए सबसे असंग हो जाना ही अपने लिए उपयोगी है।
इसमें ईश्वर–विश्वास की दृष्टि से समर्पण योग की चर्चा चल रही थी,
जिसके सम्बन्ध में काफी बातचीत हो चुकी है। अब जो थोड़ा सा अंश
रह गया है वह अहं शून्य होने, अप्रयत्न होने की बात है।

आप देखिए, स्थूल कर्म के स्तर पर अथवा सूक्ष्म चिन्तन के स्तर
पर, कुछ भी करते रहने की दशा में, शरीरों से सम्बन्ध तोड़ नहीं
सकते। करने का संकल्प शेष ही रहा, तो अप्रयत्न होते कैसे बनेगा?
और करने का संकल्प शेष ही रहा, तो अप्रयत्न होते कैसे बनेगा? और

करने का संकल्प रहेगा तो अहंकृति और उसमें से स्फुरित होने वाली सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृति खत्म ही नहीं होगी। तो बहुत ही आवश्यक बात है कि हम चाहते हैं अविनाशी जीवन, और जितने कारक अंग है हमारे स्थूल अथवा सूक्ष्म, वे नाशवान हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण को तीनों शरीरों का समूह ले लीजिए। इन शरीरों की रचना नाशवान तत्त्व से हुई है तो इन तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ने का प्रश्न हम लोगों के सामने है।

देहातीत जीवन का अनुभव, उसका प्राकट्य कैसे हो, उसमें कितनी स्वाधीनता है ?– इस बात का पता तो तब चले, जबकि सीमित नाशवान से तादात्म्य टूटे। वहाँ तक अपने को पहुँचना है। तो किसलिए है कि अभी तक शरीरों के माध्यम से भौतिक जगत् का सम्पर्क स्थापित करके सुख लेना पसन्द किया था, तो शरीरों के साथ ऐसा तादात्म्य जुट गया कि अपने को कभी पता ही नहीं चला कि शरीरों के अतिरिक्त हमारा स्वतन्त्र अस्तित्व भी है। पता ही नहीं चला।

सत्संग के प्रकाश में, सन्तजनों के सम्पर्क में बैठकर हमको इस बात का पता चला कि हमारा तो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। हम तो उस अनादि, अनन्त के धातु से रचे गए हैं। हमारे जीवन में पूर्णता तो उससे अभिन्न होकर ही आएगी। अब इस प्रोग्राम को पूरा करने में हमको लगना है। तो क्या करना चाहिए ? प्रवृत्ति और निवृत्ति को समान रूप से महत्त्व देना चाहिए और ईश्वर–विश्वास की दृष्टि से काम करते समय भी यदि आपको जीवन का सत्य याद है, तो बड़ा मजा आएगा कार्य–क्षेत्र में रहते हुए, शरीर से काम करते हुए। अगर यह भाव आपके भीतर जाग्रत है कि मेरे प्रभु की दी हुई परिस्थिति, उनकी दी हुई सामग्री, उनकी बनाई हुई सृष्टि तो सामर्थ्य और सामग्री का सदुपयोग सृष्टि की सेवा में कर रहे हैं, प्रभु प्रसन्नता के लिए। उनकी प्यारी–प्यारी सृष्टि की सेवा के द्वारा अपने को प्यारे की

प्रसन्नता का पात्र बनाते हैं तो आगे चलकर, एक क्षण को ऐसा भी भा
बन जाता है कि क्या जाने, मेरे सामने विविध रूप जो दिखाई दे र
हैं, इन विविध रूपों में हमारा बहुरूपिया ही खड़ा हो। उसको एक
अनेक होने में देर लगती है क्या ? नहीं लगती है। एक से अनेक हो
में उनको देर नही लगती है।

अब तो मैं, सन्त–कृपा से, भगवत् कृपा से, बड़ी दृढ़ता के सा
कहती हूँ कि सत्य है तो वही है और बाकी जो कुछ हम लोगों के
आँखों के सामने हो रहा है, वह क्या है ?– इसको जान कर क्या करें
इसको जानकर उससे अपने को अभिन्न होना है। कार्य–काल में भी
वह सत्य और उसके प्रति आपके भीतर का भाव याद आ गया, तो वहीं
पर, जहाँ के तहाँ, उस सत्य की अभिव्यक्ति से आप आनन्द में ऐसे
विभोर हो जाते हैं कि क्रिया भी छूट जाती है, कार्य भी छूट जाता है
कार्य के क्षेत्र का दर्शन भी लुप्त हो जाता है और एक आनन्द, एक
रस– रोम– रोम में प्रसन्नता भर देता है और आपकी सारी शक्तियाँ
उस आनन्द में विलीन होकर अलौकिक जीवन का अनुभव करा देती
हैं। यह साधन–काल की चर्चा है, यह सिद्ध जीवन की चर्चा नहीं है
साधन–काल में भी ऐसा होता है।

अब बार–बार चित्र बदलता रहता है। थोड़ी–थोड़ी देर में प्रती
होने वाले जगत् की प्रधानता अपने पर आ जाती है। जो साधक जा
हैं, वे जगत् की प्रधानता आने पर केवल सेवा के लिए आँखें खोलते
हैं। केवल पुराने राग को मिटाने के लिए प्रवृत्ति में हाथ डालते हैं
उसका एक शुभ परिणाम यह होता है कि कार्य की अवधि समाप्त होने
पर ज्ञान– पन्थ के साधकों को निज स्वरूप की याद आएगी बड़े जो
से और प्रेम–पन्थ के साधकों को अपने प्यारे प्रभु की याद आएगी बड़े
जोर से। और जब एकान्त हो जाओ, कार्य क्षेत्र से हट जाओ तो अकेले
बन्द हो जाओ। उसके लिए आश्रम में बैठना या गंगा जी के तट पर
बैठना या महल में sound proof room बनाकर बैठना जरूरी नहीं है

जहाँ आप हैं जिस परिस्थिति में हैं, मामूली मकान है तो, विशेष है तो, टूटा है तो झोंपड़ी है तो, महल है तो–जो कुछ भी है, थोड़ी देर के लिए अपने को प्रवृत्ति से अलग करके, शान्त रहने में अपने को डालकर आप अहंकृति शून्य हुए नहीं, कि विविध प्रकार की अलौकिक अनुभूतियों से जीवन भर जाएगा। पुराने सब संस्कार मिट ही गए हैं, किये कराए का फल जो अहं में अंकित हो गया है, वह रह गया है तो उसकी कृपा–शक्ति उसको मिटा देती है। हमारे प्रयास से हमें सफलता नहीं मिली है, तो कृपा–शक्ति का आश्रय ले लेने पर सफलता अवश्य मिल जाएगी। एक बार आश्रित होकर देखिए तो सही।

ऐसे वीर पुरुष संसार में आए, जिन्होंने ज्ञान के प्रकाश में एक साथ ही सब असत् के सम्बन्ध का त्याग कर दिया। उनमें अविनाशी जीवन के प्रति इतना जोरदार उत्साह था ; उसके प्रति पूरी जीवनी शक्ति उनकी ऐसे सम्बन्धित हो गई थी, कि उन पर शरीरों के स्तर पर बने हुए विकारों का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। एक बार इन्कार किया, तो सदा के लिए हो गया। मै। अपने जैसे साधकों के लिए कहती हूँ कि जिनके भीतर अविनाशी जीवन की माँग भी है और समाज में भले आदमी कहलाने का सुख भी है। अनन्त जीवन का रस इतना गहन होता है, इतना गहन होता है कि उसमें सब कुछ डूब जाता है। उसकी बराबरी इस दुनियाँ में कोई कर ही नही सकता। संत कबीर की वाणी मुझे याद आती है। एक जगह पर उन्होंने कहा कि:–

तन थिर, मन थिर, वचनथिर, सुरति निरति थिर होय।
कहें कबीर वा क्षणक को, कल्प न पावे कोय।।

सब प्रकार की गतिशीलता से मुक्त होते ही, अपने जीवन के मौलिक शान्ति तत्त्व में स्थित होते ही ऐसा अलौकिक अनुभव होता है। तो कबीर जी कहते हैं कि उस एक क्षण के अनुभव की बराबरी संसार के कल्पों का समय भी नहीं कर सकता। ऐसा होता है।

अनुभवी सन्तों ने सांकेतिक भाषा में अपने अनुभवों को बताया

है। हम लोगों के लिए उसका उपयोग क्या है ? उसका बड़ा अच्
उपयोग है कि आपके भीतर आज जो एक चेतना जगी है, ए
जिज्ञासा, एक अभिलाषा उठी है कि भाई ! अब तो हम जन्म–मर
के फेर में पड़े नहीं रहेंगे, तो आपकी अभिलाषा को सजीव बनाने
लिए, दृढ़ बनाने के लिए मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि पूरी आशा
साथ, पूरी दृढ़ता के साथ आप आगे बढ़ें। आपके साधन–काल में
जो सत्य है, जो अविनाशी है, जो वास्तविक जीवन है, उसव
विभूतियाँ प्रकट हो जाएँगी। जरूर हो जाएँगी। यदि थोड़ी सी
झलक मिल गई उस जीवन की, कि जिसमें शरीरों का सहारा नहीं
जिसमें बाहर से किसी प्रकार की कोई मदद नहीं है, जिसमें किसी व
अपेक्षा नहीं है– ऐसे जीवन की एक क्षण के लिए भी अगर आपक
झलक मिल जाए, तो सदा के लिए सन्देह खत्म हो जाएगा। इतन
दृढ़ता आ जाती है कि उसके बाद सारी सृष्टि मिलकर भी कहे वि
नहीं–नहीं बडे–बड़े ऋषि–मुनियों को नहीं मिला, तुम्हारे लिए कैसे
होगा ? तो भी हम डरते नहीं हैं। दया आती है, उन कहने वालों पर
पर भगवान से मैं प्रार्थना करती हूँ, हे प्रभु इनकी मदद कर दो, इनक
सन्देह मिटा दो, देखों ये अभी भी दूर हैं। अपनी निष्ठा में कमी नह
आ सकती। क्यों ? क्योंकि वह अपनी जानी हुई बात हो जाती है
सन्देह रह ही नहीं सकता। अब इस प्रकार का विधान, इस प्रकार की
योजना, ऐसा संयोग, वे परम कृपालु, वे करूणा सागर, स्वयं अपनी
ओर से ही कर देते हैं, ये मेरी बहादुरी नहीं है। यह भी उनकी कृप
का प्रसाद ही है। तो उनकी कृपा मान लिजिए–उधर जितनी तत्परत
है, मै सच कहती हूँ उतनी तत्परता हमारे में नहीं है। अपनी दुर्दश
से हमें जितना दुःख है, उससे सहस्र गुणा, असंख्य गुणा अधिक करुणा
उस करुणा–सागर में उमड़ रही है। हाय ! मेरा बच्चा, परम प्रेम क
अधिकारी, अविनाशी जीवन का अधिकारी, कहाँ भटक रहा है ? उसे
बहुत करुणा है और हमारे सुधार के लिए, उधर बहुत तत्परता है
इसलिए डरने की कोई बात नहीं है।

हमारी जो रचना है उसमें, हम में अपने अस्तित्व existence का एक भास है कि " मैं हूँ"। इसकी स्वाधीनता को, इसके स्वाधीन भास को सुरक्षित रखने के लिए, उन करुणा सागर ने हम लोगों को इतना दायित्व दिया कि भाई, तुम वास्तविकता की आवश्यकता अनुभव करो और पूर्ति का सारा प्रबन्ध जीवन के मंगलमय विधान से हो जाता है। तो आप, खूब आशा रखिये, खूब विश्वास रखिये। चारों ओर से उन्हीं की महिमा हम लोगों को सँभालने में लगी हुई है। बस कमी केवल इतनी सी है कि हम आशापूर्ण होकर, निश्चय पूर्वक कदम नहीं उठाते हैं। थोड़ा करते हैं, थोड़ा पछताते हैं। अब इतना इतना हो गया, अगले साल आऐंगे और थोड़ा सीखेंगे। अरे भाई ! अगले साल आने का सोचकर जा रहे हो, आओगे, कोई जरूरी है ? इतना लम्बा प्रोग्राम क्यों बनाओ और इसी बीच राम नाम सत् हो जाए तो ? तो सबं रह जाएगा। सब काम पीछे। और किसी को भक्ति भावे तो बहुत महत्त्वपूर्ण मान करके, अभी आज जो कर सकते हैं, इसमें अपने को लगाइये। सहायता मिलेगी और आप स्वयं ही, अपने आप में सन्तुष्ट हो जाएँगें। अब थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाइये।

(90)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

हम सब लोग मानव जीवन की सफलता की चर्चा कर रहे हैं। सत्संग के प्रकाश में जाने हुए असत् के संग का त्याग अपने द्वारा कर सकते हैं। जीवन के सत्य को अपने द्वारा स्वीकार भी कर सकते हैं। इसमें एक बड़ी जोरदार बात यह है कि हम भाई बहिनों का अपना ' मैं पन जो हैं ; अहं रूपी अणु, अपना Self जिसको हम लोग कहते हैं, इसमें बड़ी शक्ति है। प्रारम्भिक दिनों में मैंने ऐसा सुना था स्वामी जी महाराज के मुख से, कि सारी सृष्टि में जितनी शक्ति है, उससे

अधिक शक्ति मनुष्य के 'मैं पन' में है। तो मेरी समझ में नहीं आती थी बात, कि ऐसा कैसे कहते हैं महाराज ! मैं दुःखी हूँ, मैं भूखा हूँ मुझे यह चाहिए, ' मुझे वह चाहिए – ऐसा लगता है कि संसार की छोटी–छोटी चीजों के अधीन हम हैं। कैसे माने कि बड़ी शक्ति है ? लेकिन सच्ची बात है। जो मनुष्य निज विवेक के प्रकाश में देखकर, नाशवान शरीरों से सम्बन्ध तोड़कर अशरीरी जीवन के अखण्ड आनन्द में स्थित हो सकता है, जो अमर जीवन का आनन्द ले सकता है, वह जड़ जगत् की वस्तुओं के अधीन बना रहे, तो इसमें उसकी अपनी भूल है और कुछ नहीं। अपनी भूल मिटाने का नाम है सत्संग।

विवेक के प्रकाश में जीवन को देखिए और जहाँ जो भूल दिखाई दे, उसको छोड़ते जाइये। भूलों को छोड़ देने से, उनके परिणाम से उत्पन्न होने वाले विकार मिट जाते हैं। अहं में से अशुद्धि समाप्त हो जाती है और जब वह शुद्ध हो जाता है तो उसका पूरा आकर्षण एक ही दिशा में रह जाता है– केवल अपने उद्‌गम की ओर। उसी उद्‌गम से जुट जाने को नित्य–योग कहते हैं। उससे अभेद हो जाने को तत्त्व–बोध कहते है। और उससे अभिन्न हो जाने को 'प्रेम' कहते हैं। जीवन का एक ही उद्‌गम है, तत्त्व कहिए, परमात्मा कहिए, वास्तविक जीवन कहिए, नित्य कहिए– किसी भी शब्द से सम्बोधित करिये, है वह एक ही। और वही हम सबकी उत्पत्ति का मूलाधार है। उसी से विमुख हो जाने के कारण देखे हुए, जगत् के प्रति हमारा बड़ा खिंचाव हो जाता है। उस खिचाव में पड़कर न जाने हम कहाँ–कहाँ विवेक का अनादर, और बल का दुरुपयोग करके बड़े भारी दुःख में फँस जाते हैं। इतने दुःख में, कि फिर उस दुःख का भार सहा नहीं जाता, ढोया नहीं जाता, ऐसी दशा हो जाती है।

सत्संग के प्रकाश में अपने जीवन का अध्ययन करने से इस बात का पता चलता है कि कोई भी कार्य अखण्ड रूप से नहीं हो सकता। हर गति का आरम्भ शान्ति की भूमि में से होता है और हर गति जा

करके उस शान्ति में लय होती है। वस्तुतः जीवन में अगर कहीं Stability है स्थिरता है, Security है तो उस तत्त्व के आश्रित होने में है, उससे अभिन्न होने में है, कि जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसका आदि– अन्त नहीं है, तो कभी अप्रिय नहीं लगता।

एक बड़े विद्वान पुरुष से स्वामी जी महाराज की बातचीत हो रही थी। उन्होंने स्वामी जी महाराज से कहा कि 'मुझे तो जिन्दगी में ईश्वर की आवश्यकता नहीं मालूम होती, अब देखिए, ईश्वर इतने मौजी हैं और इतने स्वाधीन हैं कि वे अपने ही द्वारा हम लोगों को बनाते हैं, लेकिन जबरदस्ती करके अपने अधीन रखना पसन्द नहीं करते। प्रेमी स्वभाव है उनका। स्वाधीनता पूर्वक प्रेम का आदान–प्रदान तो उनको बहुत अच्छा लगता है, लेकिन दबाव नहीं डालते किसी पर। उन्होंने हम लोगों को इतना बुद्धिमान बना दिया कि बुद्धि के सहारे हम उनको इन्कार कर देते हैं। तो उन भले आदमी ने कहा कि मुझे जिन्दगी में ईश्वर की आवश्यकता नहीं मालूम होती है। इस पर स्वामी जी महाराज ने कहा कि "श्री माली जी; मुझे तो जिन्दगी में केवल ईश्वर की ही आवश्यकता मालूम होती है और किसी की नही।' केवल ईश्वर की आवश्यकता ! तो बड़ा रहस्य है, इस वाक्य में।

स्वामी जी महाराज ने जब मुझे बताया, तो क्या भाव उनके भीतर रहा होगा, यह तो वे ही जाने, लेकिन मैंने जब से ईश्वरवाद के आधार पर, विश्वास–पथ की साधना का साधक अपने को बनाया, तब से मुझे ऐसा लगा कि सचमुच जो सारी सृष्टि का मूल आधार है, उसकी आवश्यकता जो अनुभव करेगा, उसके आश्रित होकर जो रहेगा, उसके चरणों पर तो सारी सृष्टि ही लोटेगी, वह और किसी को मानकर क्या करेगा, और किसी की आवश्यकता क्यों रहेगी उसको ? वह तो एक अकेला अपने भाव में ही इतना है कि वह हर प्रकार से भरपूर कर देगा और आगे चलकर मैंने ऐसा देखा है कि जो असीम, अनन्त जीवन तत्त्व है, उस असीम, अनन्त में से छोटी छोटी इकाई के

रूप में एक–एक जिन्दगी बनती है तो वही धातु अपने में भी विद्यमान है। उसी सत्ता से हम सब लोग सत्तावान है। यदि नाशवान की ओर से अपने को हटा कर उस जीवन के मूल उद्‌गम से किसी प्रकार हम जुट जाएँ, योग–बोध अथवा प्रेम के द्वारा, किसी तरह से भी अगर हम उससे जुट जाएँ तो अपने आप में इतनी सन्तुष्टि, इतनी पूर्णता, इतनी सरसता, इतना आनन्द भर जाता है कि जो एक छोटा सा Unit अलग बन गया था; एक इकाई बन गई थी, जिसको सीमित अहं–भाव कहते हैं। उस सीमित अहं–भाव की सीमा समाप्त हो जाती है, उस अनन्त आनन्द स्वरूप के जुटते ही।

उस अनन्त प्रेम स्वरूप के जुटते ही, इस सीमित अहं–भाव की सीमा का लोप हो जाता है। अनुभवी जनों ने उसको मनुष्य के जीवन का पूर्ण विकास माना है। एक सीमा बनी हुई है हमारी, और हमने इस सीमित अहं–भाव का अभिमान अपने में पाला है ' मैं हूँ। ये मेरी बुद्धिमता है' यह मेरा प्रारब्ध है,' यह मेरे भाग्य से मिला ' ' यह मेरे परिश्रम से मिला है– तो सबमें 'मैं और मेरे' का विस्तार हो गया। उस सीमा में बँध जाने पर और उस सीमित अहं–भाव के अभिमान में आबद्ध हो जाने पर, उसके भीतर जो परम स्वाधीन तत्त्व विद्यमान है, उसमें से स्वाधीनता के लिए एक चेतना जगती रहती है। उससे प्रेरित होकर मनुष्य सीमित जिन्दगी के पार निकल कर असीम से जुट जाना चाहता है। तो एक ओर अहं का अभिमान है और दूसरी ओर जीवन की माँग है। जहाँ अभिमान है वहाँ सीमा है और जहाँ वह सीमा टूट जाती है वहाँ वास्तविक जीवन का अनन्त आनन्द है, अनन्त रस है और वहाँ जन्म–मरण की कोई बाधा नहीं है, कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

अब हम लोगों के सामने ये दोनों बातें इसी क्षण में विद्यमान हैं। शरीर को लेकर हम लोगों को यह दिखाई दे रहा है कि हम जल्दी जल्दी मृत्यु के मुख में जा रहे हैं। जैसे आपकी जन्म पत्री पर जन्म के आधार पर एक तिथि लिखी होगी। ऐसे ही इस शरीर के नाश की

तिथि का भी एक निशान बनने बाला है। तो शरीर को लेकर के यह दिखाई दे रहा है कि जल्दी–जल्दी हम मृत्यु के मुख मे प्रवेश कर रहे है। काल का आधार यह शरीर बना हुआ है। जैसे जैसे समय बीतता चला जा रहा है, इसके अणु परमाणुओं में ह्रास होता चला जा रहा है। तो काल के प्रभाव से, समय के प्रभाव से बनी हुई आकृति में क्षति होती जा रही है। इस काल को हम लोग जानते हैं कि नहीं। तो एक हिस्सा समाप्त हो गया।

अब दूसरा हिस्सा देखो। यहाँ क्यों आकर के बैठे हैं? यहाँ आकर जिस समय हम बैठे तब से उठने के समय तब उस एक घण्टे के क्रम में, शरीर मृत्यु की ओर कुछ और आगे पहुँच जाएगा। कुछ और आगे खिसक जाएगा मृत्यु की ओर। फिर भी हमने यहाँ आकर बातचीत करना, कुछ कहना–सुनना पसन्द किया। कौन सी बात को? सत्य की बात को, सनातन की बात को, आनन्द–स्वरूप, प्रेम स्वरूप की चर्चा को, समग्र उत्पत्ति के आधार की बातचीत करना हम लोगों ने पसन्द किया। तो देखिए, कैसे बहादुरी है कि मरणशील शरीर को लेकर मृत्यु की ओर दौड़े चले जा रहे हैं, उस काल में भी अमर जीवन को भूल नहीं गए। अविनाशी परमात्मा हम लोगों के अस्तित्व में से निकल नहीं गया। इस समय, इस क्षण में, कोई भाई– कोई बहन यहाँ ऐसे हैं क्या, जो कहें कि हमने थोड़ी देर के लिए परमात्मा को हटा दिया है। हटा सकते हैं हम लोग ? नहीं हटा सकते। और कभी– कभी स्वामी जी महाराज अपने शरण्य के भाव में जब बहुत मस्त होते तो खूब मजा लेते और कहते कि ठीक है " हमारे जैसे निकम्मे की मित्रता का नाता तुम पसन्द नहीं करोगे तो क्या होगा लाला ! रह जाओगे ठन–ठन पाल, मदन गोपाल। अकेले रह जाओगे। तुमसे मित्रता करने के लिए तुम्हारी तरह का दूसरा कोई तो मिलेगा ही नहीं। स्वीकार करोगे तो हम ही को स्वीकार करोगे। हम ही को मित्र बनाओगे, और कहाँ से लाओगे ?" फिर कभी मौज में आतो तो कहते, " तुम्हारी हिम्मत नहीं

है कि अपने से हमको अलग निकाल कर फेंक दो।" तो यह तो उनके प्रेम की अटपटी भाषा थी। वह अपने ढंग से बोलते थे।

दार्शनिक दृष्टिकोण से भी आप देखिए ! वो जो सर्व की उत्पत्ति का आधार है, उस आधार में से हम जो उत्पन्न हुए, सो कभी विच्छिन्न भी हो सकते हैं? नहीं हो सकते। कभी अलग हो सकते हैं? उस तत्त्व से कभी शून्य हो सकते हैं नहीं हो सकते हैं तो देख लीजिए, कैसी विलक्षण रचना है हम लोगों की। मरणशील शरीर को लेकर बैठे हैं, और उसी के साथ अनन्त परमात्मा का अनन्त तत्त्व भी, उसी अलौकिक का अलौकिक तत्त्व भी हमारे अहं–रूपी अणु में विद्यमान है। कभी कोई इन्कार कर ही नहीं सकता है।

अब देखो ! दुःख की बात क्या है ? दुःख की बात यह है, कि उसके रहते हुए उसका प्रभाव अपने लोगों पर कम है, और जो कभी था नहीं, है नहीं , होगा नहीं, उस माया रचित दृश्य जगत् का प्रभाव अपने पर ज्यादा है। दुःख की बात है न ? जो सत्य है, जिसके बिना व्याकुल–व्याकुल न जाने कितने जन्म बिताए। भूखे प्यासे रोते–रोते पैदा हुए, भूखे प्यासे रोते–रोते मरते रहे, हाय ! हाय ! करते रहे– न जाने कितने जन्म ऐसे बिता दिए, पता ही नहीं चला। तो मरणशील शरीर का प्रभाव अपने पर चढ़ जाए और आनन्द स्वरूप, रस स्वरूप अमरत्व जो अपना जीवन है उसका प्रभाव अपने पर से घट जाए, तो यह बड़े दुःख की बात है, और इसी गलत दृष्टिकोण को बदलने के लिए सत्संग का प्रोग्राम होता है। जब तक हम लोग अपना गलत दृष्टिकोण जीवन के प्रति बदलेंगे नहीं, तब तक बढ़िया से बढ़िया सिद्धान्त और ऊँची से ऊँची साधना, हमारे जीवन में सफल होगी ही नहीं। गलत दृष्टिकोण क्या है ? विचार करो तो कहना पडेगा कि यह दृश्य जगत् कभी था ही नही, है नहीं, होगा नहीं। यह दिखता ही दिखता है, इसकी प्रतीति ही प्रतीति है और यह बात केवल ग्रन्थों में से पढ़ने की नहीं है, सुनने की नहीं है, करने की नहीं है, वह तो मनुष्य

का अपना जाना हुआ सत्य है। साधन–काल में भी यह सत्य प्रकट होता है और साधकों के अपने अनुभव में यह बात आ जाती है कि दृश्य जगत् से असंग होते ही सृष्टि लापता हो जाती है। जो कभी था नही, है नहीं, होगा नहीं, उसमें इतना विश्वास करना, कि दिन–रात उसके चिन्तन में पड़े रहो– काम करो तो उसी के साथ, सोचो तो उसी के बारे में, नींद में, स्वप्न में, उसी संसार में विचरण कर रहे हैं। तो यह कितने दुःख की बात है, सोचो ! जहाँ किसी प्रकार का कोई दुःख नहीं, कोई प्रवृत्ति, कोई दौड़–धूप, थकान, मृत्यु है ही नही, उस चिर विश्राम का अधिकारी मनुष्य सारा दिन धुन में लगा हुआ है, थक रहा है, परेशान हो रहा है, बीमार हो रहा है। प्रकृति ने दया की और थोड़े–थोड़े घण्टों पर उसको सुला देने का इन्तजाम कर दिया। स्नायु को dull बना दिया आदमी सो गया। तो निद्रा में भी स्थूल शरीर पड़ा है और कुछ न करें तो भी संसार ही चक्कर काट रहा है।

इसी संदर्भ में साधना के रूप में आपकी सेवा में यह निवेदन किया गया, ज्ञान–पन्थ की दृष्टि से, कि सभी प्रकृति के बाद सहज निवृत्ति को महत्त्व प्रदान करो। संसार का प्रभाव होने से क्या होता है? कि अधिक से अधिक काम करेंगे, अधिक से अधिक लाभ उठायेंगे, तो अधिक से अधिक आराम मिलेगा। तो आराम उड़ जाता है, काम, बुढ़ापा और मृत्यु रह जाती है। सत्संग के प्रभाव से क्या होता है ? कि नहीं– नहीं, मुझे चाहिए विश्राम, ऐसा विश्राम कि जिसमें वह अलौकिकता हो, जो कभी खण्डित नहीं हो, कभी मिटे नहीं, कभी टूटे नहीं, ऐसा विश्राम चाहिए। तो अनुभवी जनों ने कहा कि ऐसा विश्राम पाने के लिए तुम , क्रिया–शक्ति, विचार–शक्ति, और भाव–शक्ति का सब तरह से सदुपयोग करते हुए, जीवन को साधनमय बना लो। तुम्हें विश्राम मिल जाएगा।

कर्त्तव्य–निष्ठा की दृष्टि से कर्त्तव्य–पालन में कर्त्तव्य–निष्ठ व्यक्ति को विश्राम मिलता है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से राग–निवृत्ति की साधना के रूप में, सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति स्वतः आती है जिसमें तीनों शरीरों से असंग होने की सामर्थ्य है। शरीरों की

असंगता में चिर विश्राम मिलता है। उस विश्राम में अविनाशी जीवन के आनन्द से अभिन्नता होती है। उसमें कुछ भाई– बहनों को इस बात की तकलीफ रहती है कि बाहर से काम छोड़ देने के बाद भी, भीतर से शान्ति नहीं मिलती, हलचल रहती है। उसकी वैज्ञानिक व्याख्या, उसका आध्यात्मिक उपाय समर्पण योग की साधना के द्वारा निराकरण की यह सब क्रियाएँ कई दिनों से चल रही थीं।

अब दो मुख्य बातें और रह गई हैं जो अभी इस बैठक में, सेवा में निवेदन करना चाहती हूँ। एक तो यह कि आप निश्चय मानिए कि शान्ति–काल में जो कुछ हो रहा है, उसको देख करके उसको अपना दृश्य मानकर, सर्वसमर्थ प्रभु को समर्पित कर दें। अब उससे मेरा कोई मतलब नहीं है– ऐसा मानकर अगर आप निश्चित रहेंगे तो वह हलचल जल्दी से जल्दी शान्त हो जाएगी, खत्म हो जाएगी। उसको देखकर साधक जब भीतर–भीतर थोड़ा घबरा जाता है, तो मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि यह केवल निशान है, काम नहीं है। अब शान्ति काल में वह बात आपके मस्तिष्क में आ जाती है तो मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि जिस समय तुमने क्रोध के आवेश में आवाज निकाली थी, उस समय यह निशान बन गया था। अब शान्ति काल में प्रकृति जो है, वह निशान बनाए रखना नहीं चाहती है क्यों कि उसकी वजह से कष्ट होता है आदमी को, उसकी वजह से मानसिक दुर्बलता आती है, साधना घटती है। तो प्रकृति ने उस बात की याद दिलाई, उसकी Conscious level पर ले आई, इसलिए कि उसको मिटा कर खत्म किया जाए। तो आप शान्त रहिये और आप अपने से कहिये कि यह तो उस समय की बात थी कि जिसकी याद अभी आ रही है। इस समय मैं कोई अशिष्टता का व्यवहार कर नहीं रहा हूँ। यह तो भूतकाल के किए हुए दुर्व्यवहार की निशानी है। यह तो मिटने के लिए उदित हुई है, मिट जाएगी, मेरा उससे कोई मतलब नहीं है। इस वैज्ञानिक आधार पर भी, अगर आप चुपचाप अपनी शान्ति सुरक्षित रखेंगे, तो वह चीज निकल जाएगी। अपराध भाव भी

निकल जाएगा। वह निशान भी मिट जाएगा। और नहीं तो क्या होता है ? उसको देखकर अगर आप फिर से emotional हो जाते हैं; फिर से पश्चाताप में अथवा क्रोध में आ जाते हैं तो आपका जो यह emotional tinge है, आपकी जो यह संवेगात्मक प्रतिक्रिया है; यह आपके मस्तिष्क को निर्विकार नहीं रहने देगी।

भूतकाल की भूल को, जो वर्तमान में आप कर नहीं रहे हैं, बिना किए, उसको करने के समान अपराधी भाव आपने बना लिया। समझ में आता है? बिल्कुल वैज्ञानिक बात है यह । किसी घटना को घटे पाँच दस साल बीत गए। उसके बाद पाँच बरस के, दस बरस के बाद की घटना खत्म हो गई। सब बातें सही हो गई। अब प्रकृति ने शान्ति काल में आपको उन सारे विकारों के भीतर से पार कराके, निर्विकार बनाने के क्षेत्र में ले जाने का काम आरम्भ किया, आपको अशरीरी अलौकिक तत्त्वों से जुटाने के लिए सब जगह के बन्धनों को काटना शुरू किया। तो जहाँ–जहाँ वह पुराना चिन्ह दिखाई देता है उसे देख– देखकर, यदि अच्छी बात है जो आप हर्षित होने लगते है और बुरी बात है तो दुखित होने लगते हैं, तो आपको हर्षित होना, दुखित होना, पुरानी बात को नई बना देता है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

इसलिए अनुभवीजनों ने क्या कहा? कि अध्यात्मवाद की दृष्टि से, दृश्यमात्र से तुम्हारा त्रिकाल में भी सम्बन्ध नहीं है। इस तथ्य को जानकर, जैसे बाहर के चित्र देखकर शान्त बने रहते हो, ऐसे ही भीतर के चित्रों को देखकर भी तुम शान्त बने रहो तो तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आ जाएगी। और समर्पण वाले साधकों के लिए तो कोई चिन्ता की बात ही नहीं है। हम लोगों ने, भगवान के आगे बड़े भोलेपन से कह दिया, ' हे प्रभु ! यह मन तेरा, यह तन तेरा, यह बुद्धि तेरी, यह चित्त तेरा, ये इन्द्रियाँ तेरी, यह सब कुछ तेरा, मैं भी तेरा।'बड़ी सरलता से, बड़े सहज भाव से विश्वास–पंथ के साधक,

सर्वस्व समर्पित कर देते है। अब जब मैं ऐसा कहती हूँ कि अपना सब कुछ समर्पित कर दिया, तो ऐसा कहने में भी मुझको बेईमानी मालूम होती है। मैं अपनेसे कहती हूँ कि तुम्हारा था क्या, जो तुमने दे दिया। अपना करके तो कुछ था ही नही। बड़ी विचित्र बात है, मैं क्या बताऊँ? जितना जितना मुझको संत की शरण में बैठकर, अपनी बुद्धि खोलने का अवसर मिला, उतना अधिक आनन्द बढ़ता चला गया जीवन में। भाई ! तुम्हारा था क्या जो तुमने दे दिया। तुम्हारी गाँठ का कुछ हो और वह किसी को देने जाओ और कहो कि हमारी चीज थी, मैंने तुमको दे दी तो वह मनुष्य तो भले तुम्हारे आगे नत–मस्तक हो जाए, कृतज्ञ हो जाए। पर जो तुमको जन्म जन्मान्तर से जानता है, तुम्हारी उत्पत्ति से पहले जो था, उसको भी पूरी और पक्की तरह मालूम है कि इसके पास जो कुछ है, सब मैंने दिया; अब उसक आगे तुम कहने जाते हो कि हे प्रभु! यह मन तेरा, यह तन तेरा, यह सब कुछ तेरा तो वे यह भी मान लेंगे।

एक माँ ने अपने बच्चे के बारे में बताया है कि वह इतना प्यारा है कि जब मैं इसको खिला चुकती हूँ, और बच्चों को वह अन्य सबको खिला कर, मैं खाने को बैठती हूँ तो यह हमारे ही पास आकर बैठ जाता है और अपने छोटे–छोटे हाथों से रोटी उठाकर, कहने लगता है कि माँ ले लो, तो माँ को भूख न भी हो, तो भी बच्चे की प्यार भरी वाणी सुनकर वो ले लेती है। अच्छा दे दे। स्वामी जी महाराज ने सुना। सुनकर कहने लगे कि देखो, ऐसे ही प्रभु विश्वासी, जब प्रभु की दी हुई सामग्री प्रभु के अर्पित करने लगता है तो प्रभु जानते हैं कि यह हमारा ही दिया हुआ है, फिर भी छोटे बच्चे के समान, भोले भाले मन से आप कहते है कि हे प्रभु ! यह धन तेरा, हे प्रभु यह तन तेरा, तो प्यारे इस बात को जानते हैं कि मेरा दिया हुआ मुझको दे रहा हे, फिर भी आपकी प्यार भरी वाणी का आदर करने के लिए, स्वीकार करते हैं। *तो यह रास्ता बताया।*

कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को भी विश्राम मिलता है, अध्यात्मवादी ज्ञान – पन्थ के साधकों को भी विश्राम मिलता है और प्रेम–पंथ के साधकों को भी विश्राम मिलता है। कैसे ? कि सारी जिम्मेदारी सर्व समर्थ को सौंप दो। उसके बाद उसी शान्ति काल में, उसी समर्पण योग काल में, आपको मन में कुछ–कुछ दिखाई दे, तो कभी मत कहो, कि मैं क्या बताऊँ, साधना को करते हुए, इतने दिन हो गए और अभी भी मेरा मन साफ नहीं हुआ । यह शिकायत हम लोगों में से कुछ साधकों की है। है कि नहीं ? है। तो देखो गलती क्या हो गई ? जब बैठे थे शान्ति काल में, तो कहा था कि हे प्रभु! यह सब कुछ तेरा– और वहाँ से जब उठे और आपस में बातचीत करने लगे, तो कहने लगे कि क्या करें, समर्पण योग तो आरम्भ किए छः महीने बीत गए अभी भी मेरा मन साफ नहीं हुआ। गलती समझ में आयी ? अरे भैया ! कुछ देर पहले कहा था कि "हे प्रभु यह सब कुछ तेरा"– अब कैसे कहते हो मेरा मन साफ नहीं हुआ? साधना कट गई तो सिद्धि कैसे मिले ? भूल समझ में आयी ?

जब मैंने ऐसी भूल की , जब मैंने ऐसी शिकायत की तो स्वामी जी ने कहा कि देवकी जी ! तुम्हारा मन और शान्त हो जाए। कभी नहीं होगा– देवकी जी पर तो वज्रपात हो गया। सब करने कराने का फल कुछ नहीं मिला। कुछ नही होगा, क्या बात, है– महाराज ! तो कहते, कि लाली! तुम दी हुई चीज उनकी बार–बार वापिस ले लेती हो। तुमने भगवान को कुछ करने कहाँ दिया। उनकी कृपाशक्ति को काम करने कहाँ दिया। दे देती हो और फिर वापिस ले लेती हो।"

तो मेरा मेरा कहने से हमने तन को, मन को, परिवार को, समाज को, सामाजिक वायु–मण्डल को सबको दूषित और विकृत बना दिया हौ और सच्ची बात तो यह है कि कुछ भी मेरा नहीं। तो इस बेईमानी से मन में विकार हो गया, तन में विकार हो गया, परिवार में कलह, संघर्ष हो गया, समाज में संघर्ष हो गया, संसार में अशान्ति हो गई,

भीतर से बाहर तक सबको सब उथल–पुथल में पड़ गया, हाहाका मच गया है। भीतर झाँककर, देखों, तो पता चलता है कि कई बरस हो गए भगवान को मानते हुए, पर मन में शान्ति नहीं मिली और बाह देखो तो जहाँ जाओ वहीं पर धोखा जहाँ जाओ वहीं पर अविश्वास जहाँ जाओ वहीं पर झगड़ा। जब मनुष्य ने उस परमात्मा का आसर छोड़ दिया, सच्चाई का आसरा छोड़ दिया, ऊपर–ऊपर क्रियात्मक साधनाओं की स्वीकृति ले ली, भीतर से अपने को बदलना बन्द कर दिया तो सब जैसे के तैसे, जहाँ के तहाँ हैं और फिर भी दुःख का कुछ अन्त नहीं है।

तो अब क्या करें? अब इस भूल को मिटाइये समर्पण काल में समर्पण तो एक ही बार होता है लेकिन उस समर्पण का भावात्मक रूप तब होगा जब जगत् का सारा काम छोड़कर आप अकेले बैठेंगे। उस समय जब आप याद करेंगे प्यारे प्रभु को, अपने शरण्य को, और उसकी शरणागति के भाव में जब विश्राम मिले तो उस काल में अगर मन में बुद्धि में, चित्त में, इन्द्रियों में चिन्तन दिखता हो, तो उसको कभी अपना मत मानो। उसकी जिम्मेदारी अपने हाथ में मत लो। उसे समर्थ हाथों में सौंप दिया है तुमने।

एक बात हो गई। दूसरी बात इतनी सी और है जब आप समर्पित हो करके उस शान्ति काल में, इस भाव को सजीव करेंगे, कि मैं समर्थ प्रभु की कृपालुता की गोद में हूँ, तो उनकी याद आने मात्र से भीतर से एक हर्ष और सरसता का संचार होने लगता है उसके प्रभाव से, जब भीतर बिल्कुल शीतल–शीतल होने लगता है, ऐसा कि जैसे किसी ने जले हुए घाव पर मरहम लगा दिया हो। मैं कल्पना नहीं कर रही हूँ, यह जीवन का अनुभूत सत्य है। कृपा–शक्ति जब आपके भीतर–बाहर रोम–रोम को शान्त और प्रेम से आप्लावित करने लग जाती है, तो वह अलौकिक अनुभव इतना जोरदार है, कि शान्ति में प्रवेश करने के पाँच मिनिट पहले तक आपके भीतर कितनी कठोरता

कितने ही विकार भरे पड़े थे, सबका सब उस शान्ति की वास्तविकता में डूब जाता है। बड़ा आनन्द आता है।

स्वामी जी महाराज ने समर्पण–योग के साधकों को याद दिलाते हुए ऐसे कहा था, देखो भैया! जितना तुमसे बन पड़े अपने को अपनी साधना में एकनिष्ठ रखो। थोड़ी–थोड़ी देर के लिए भी अपनी विकृतियों को न देखो। महामहिम की महिमा याद हो जाए तो इस बात को याद कर लो कि जन्म जन्मान्तर में इतने विकार तुम पैदा कर ही नहीं सकते हो कि जितने विकारों का नाश करने की सामर्थ्य प्रभु की कृपा–शक्ति की एक बूँद में है। उतने विकार तुम इकट्ठा कर ही नहीं सकते। तुम विकारों का पहाड़ बना दो, तो करुणा सागर की करुणा की एक बूँद उसको समाप्त करने में समर्थ है। तो करुणा का आश्रय लेने में अपने को लाभ है कि एक–एक विकार को बैठकर स्वयं काटने में लाभ है ? अच्छी बात है कि करुणा का आश्रय ले लो।

समर्पण योग के साधकों में जब दिमाग में हलचल हो तो उसे देखते ही सन्त की यह वाणी याद कर लें कि मैंने तो उस समर्थ के हाथों में अपने को सौंप दिया है, चाहे विकृत हो, चाहे कुछ हो, अब तो वह उस परम् पवित्र का है, अब तो यह उस प्रेमास्पद प्रभु का है, तो जब सब उसी का है तो क्यों चिन्ता करूँ? अगर इतना सा ख्याल आपके भीतर आ जाए तो सारी विकृतियों से सम्बन्ध टूट जाएगा। महामहिम की महिमा की याद आपके भीतर आएगी। उस याद में इतना रस उपजेगा कि एक दम नख से शिख तक सब पूरा ही भर जाएगा, आनन्द की लहर से, प्रेम की लहर से। और एक ही बार यह लहर आपको छू ले, तो एक ही स्पर्श में इतनी सफाई हो जाएगी जितनी सफाई वर्षों की कठोर तपस्या में नहीं हो सकी।

उपस्थित महानुभाव, सत्संग–प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

मानव जीवन का सर्वोच्च विकास है, सम्पूर्ण व्यक्तित्व में प्रेम की अभिव्यक्ति। यह सबसे ऊँची बात है। प्रारम्भिक दिनों में जब मुझे विकसित जीवन की अभिलाषा जगी थी तो बचपन में ऐसा ख्याल मे आया कि शरीर बहुत स्वस्थ होना चाहिए और पढ़ाई लिखाई करके शिक्षा के द्वारा मस्तिष्क को खूब विकसित करना चाहिए। मैं ऐसा समझती थी कि शारीरिक स्वास्थ्य खूब ठीक रहे और बौद्धिक स्तर पर खूब विकास हो जाए तो जीवन बहुत सुखी होता है। और यही व्यक्तित्व का विकास कहलाता है ऐसा ध्यान में था। जैसा ध्यान में था उसी प्रकार खूब चेष्टा करके शरीर को स्वस्थ और बुद्धि को विकसित करने के प्रयास के बाद मुझे ऐसा लगा कि इतना ही पूर्ण जीवन नहीं है, क्योंकि उससे मुझे सन्तुष्टि नहीं हुई। ऐसा लगा कि जैसे अभी बहुत कुछ बाकी है।

आज आप भाई–बहिनों की सेवा में यह निवेदन करते हुए बड़ा हर्ष है मुझे कि मरणशील शरीर को साथ में लेकर इन सीमाओं के सहित, इस धरती पर रहते हुए भी, आप सभी भाई–बहन, उस अनन्त, असीम के प्रेम के पात्र हो सकते हैं और सम्पूर्ण व्यक्त्वि का जो तत्त्व है, वह प्रेम की धातु में परिवर्तित हो जाए, यही इसका सर्वोच्च विकास संत जन मानते हैं। स्वामी जी महाराज के साथ श्री जे • कृष्णमूर्ति जी की एक बार बातचीत हो रही थी। महाराज जी ने उनसे कहा कि आप हर बात का निषेध करते जाते हैं कि यह भी नहीं, यह भी नहीं तो अन्त में क्या आप शून्य को स्वीकार करेंगे ? उन्होंने कहा कि ऐसी बात नहीं है। शून्य नहीं है, लाइफ है। महाराज बहुत प्रसन्न हो गए। कहने लगे कि भैया ! जिसको आप लाइफ कहते हैं, उसे मैं अगर भगवान कहता हूँ तो आपको एतराज नहीं होना चाहिए। तो अन्तिम बात यह है कि अब आखिरी दिनों में जे.कृष्णमूर्ति जी की जो किताब निकली है, उसमे

लिखा है उन्होंने कि प्रेम की अभिव्यक्ति ही मानव जीवन का सर्वोच्च विकास है। विचारकगण भी जिन्होंने परमात्मा का नाम नहीं लिया, जो ईश्वर को मानकर चलने वाली पद्धति की चर्चा ही नहीं करते हैं, उन्होंने भी असत् का निषेध करते करते, सत्य की अभिव्यक्ति में सबसे ऊँची उपलब्धि प्रेम की अभिव्यक्ति को ही माना, कितनी बढ़िया बात है यह।

अब अपनी वर्तमान दशा को हम लोग देखें, क्योंकि साधना की दृष्टि से विचार करना है। जो हमारे जीवन का सबसे ऊँचा और अनमोल' अविनाशी तत्त्व' है, उसके विकसित होने तक, हम लोगों को पहुँचना है, केवल चर्चा ही नहीं करनी है। केवल इस बात को जान लेने मात्र से वर्तमान की समस्याएँ हल नहीं होगी कि मनुष्य के जीवन का सर्वोच्च विकास प्रेम–तत्त्व है। अब देखना पड़ेगा कि अपनी वर्तमान दशा क्या है ? और यह निश्चित करना पड़ेगा कि मुझे कौन सी ऐसी साधना को अपनाना है, कौन सा ऐसा पुरुषार्थ करना है कि वर्तमान दशा की जो अप्रिय बातें है, उनका अन्त हो जाए और कभी न मिटने वाला और कभी न घटने वाला प्रेम–तत्त्व अभिव्यक्त हो जाए। इस ढंग से जीवन के सम्बन्ध में विचार करना है।

हमारी दशा कैसी है ? वर्तमान दशा ऐसी है कि प्रेम हम लोगों को पसन्द आता है और प्रेम की सरसता में बहुत प्रकार की तकलीफों को हम लोग भूल जाते हैं और सहन भी कर लेते हैं। यहाँ तक तो ठीक है। फिर भी परस्पर एक– दूसरे के साथ व्यवहार करते समय, कुछ दूसरी बातें इस प्रकार हमारे जीवन में घुली–मिली हुई हैं कि अनेक अवसरों पर हम संकल्प–पूर्ति को प्रधानता देकर, प्रेम के आदान–प्रदान को गौण बना देते हैं। कटुता भले आ जाए लेकिन मैं जो चाहूँ वह जरूर होना चाहिए। बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध संसार में जिसको हमने माना, वह सम्बन्ध भले ही टूट जाए, लेकिन मेरी सम्पत्ति सुरक्षित रहनी चाहिए। संकल्प–पूर्ति के लालच में पड़कर, धन के

उपस्थित महानुभाव, सत्संग–प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

मानव जीवन का सर्वोच्च विकास है, सम्पूर्ण व्यक्तित्व में प्रेम की अभिव्यक्ति। यह सबसे ऊँची बात है। प्रारम्भिक दिनों में जब मुझे विकसित जीवन की अभिलाषा जगी थी तो बचपन में ऐसा ख्याल आया कि शरीर बहुत स्वस्थ होना चाहिए और पढ़ाई लिखाई करके शिक्षा के द्वारा मस्तिष्क को खूब विकसित करना चाहिए। मैं ऐसा समझती थी कि शारीरिक स्वास्थ्य खूब ठीक रहे और बौद्धिक स्तर पर खूब विकास हो जाए तो जीवन बहुत सुखी होता है। और यही व्यक्तित्व का विकास कहलाता है ऐसा ध्यान में था। जैसा ध्यान में था उसी प्रकार खूब चेष्टा करके शरीर को स्वस्थ और बुद्धि को विकसित करने के प्रयास के बाद मुझे ऐसा लगा कि इतना ही पूर्ण जीवन नहीं है, क्योंकि उससे मुझे सन्तुष्टि नहीं हुई। ऐसा लगा कि जैसे अभी बहुत कुछ बाकी है।

आज आप भाई–बहिनों की सेवा में यह निवेदन करते हुए बड़ा हर्ष है मुझे कि मरणशील शरीर को साथ में लेकर इन सीमाओं के सहित, इस धरती पर रहते हुए भी, आप सभी भाई–बहन, उस अनन्त असीम के प्रेम के पात्र हो सकते हैं और सम्पूर्ण व्यक्त्वि का जो तत्त्व है, वह प्रेम की धातु में परिवर्तित हो जाए, यही इसका सर्वोच्च विकास संत जन मानते हैं। स्वामी जी महाराज के साथ श्री जे • कृष्णमूर्ति जी की एक बार बातचीत हो रही थी। महाराज जी ने उनसे कहा कि आप हर बात का निषेध करते जाते हैं कि यह भी नहीं, यह भी नहीं तो अन्त में क्या आप शून्य को स्वीकार करेंगे ? उन्होंने कहा कि ऐसी बात नहीं है। शून्य नहीं है, लाइफ है। महाराज बहुत प्रसन्न हो गए। कहने लगे कि भैया ! जिसको आप लाइफ कहते हैं, उसे मैं अगर भगवान कहता हूँ तो आपको एतराज नहीं होना चाहिए। तो अन्तिम बात यह है कि अब आखिरी दिनों में जे.कृष्णमूर्ति जी की जो किताब निकली है, उसमें

लिखा है उन्होंने कि प्रेम की अभिव्यक्ति ही मानव जीवन का सर्वोच्च विकास है। विचारकगण भी जिन्होंने परमात्मा का नाम नहीं लिया, जो ईश्वर को मानकर चलने वाली पद्धति की चर्चा ही नहीं करते हैं, उन्होंने भी असत् का निषेध करते करते, सत्य की अभिव्यक्ति में सबसे ऊँची उपलब्धि प्रेम की अभिव्यक्ति को ही माना, कितनी बढ़िया बात है यह।

अब अपनी वर्तमान दशा को हम लोग देखें, क्योंकि साधना की दृष्टि से विचार करना है। जो हमारे जीवन का सबसे ऊँचा और अनमोल, अविनाशी तत्त्व है, उसके विकसित होने तक, हम लोगों को पहुँचना है, केवल चर्चा ही नहीं करनी है। केवल इस बात को जान लेने मात्र से वर्तमान की समस्याएँ हल नहीं होगी कि मनुष्य के जीवन का सर्वोच्च विकास प्रेम–तत्त्व है। अब देखना पड़ेगा कि अपनी वर्तमान दशा क्या है ? और यह निश्चित करना पड़ेगा कि मुझे कौन सी ऐसी साधना को अपनाना है, कौन सा ऐसा पुरुषार्थ करना है कि वर्तमान दशा की जो अप्रिय बातें है, उनका अन्त हो जाए और कभी न मिटने वाला और कभी न घटने वाला प्रेम–तत्त्व अभिव्यक्त हो जाए। इस ढंग से जीवन के सम्बन्ध में विचार करना है।

हमारी दशा कैसी है ? वर्तमान दशा ऐसी है कि प्रेम हम लोगों को पसन्द आता है और प्रेम की सरसता में बहुत प्रकार की तकलीफों को हम लोग भूल जाते हैं और सहन भी कर लेते हैं। यहाँ तक तो ठीक है। फिर भी परस्पर एक– दूसरे के साथ व्यवहार करते समय, कुछ दूसरी बातें इस प्रकार हमारे जीवन में घुली–मिली हुई हैं कि अनेक अवसरों पर हम संकल्प–पूर्ति को प्रधानता देकर, प्रेम के आदान–प्रदान को गौण बना देते हैं। कटुता भले आ जाए लेकिन मैं जो चाहूँ वह जरूर होना चाहिए। बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध संसार में जिसको हमने माना, वह सम्बन्ध भले ही टूट जाए, लेकिन मेरी सम्पत्ति सुरक्षित रहनी चाहिए। संकल्प–पूर्ति के लालच में पड़कर, धन के

लोभ में पड़कर, देह के अभिमान में फँसकर, क्रोध के आवेश में आकर हम सब लोग प्रेम तत्त्व के विकास से वंचित हो जाते हैं, फिर क्या होता है ? कि संकल्पपूर्ति का जो सुख है और अभिमान की सुरक्षा करने का दम्भ जो है, वह जीवन में कठोरता, शुष्कता, नीरसता उत्पन्न कर देता है। थोड़ी देर के लिए बहुत अच्छा लगता है कि अच्छा ! इनको तो मैंने नीचा दिखा ही दिया, हमारी जो बात थी, वह पूरी हो गई। बहुत ठीक है भाई ! अभिमान थोड़ा और पोषित हो गया।

व्यक्तित्व के अभिमान के पोषण से, हृदय का रस–स्रोत सूख जाता है। हृदय की कोमलता, कठोरता में बदल जाती है। इस पर उस समय ध्यान नहीं जाता। थोड़ी देर के बाद, जब आवेश ठण्डा होता है तो भीतर सूना–सूना लगने लगता है। अच्छा नहीं लगता है और कुछ और करने की आवश्यकता महसूस होने लगती है। मुझे दो वर्ष पहले एक सज्जन मिले, तीस बत्तीस वर्ष की उम्र है, बहुत ही जीनियस बहुत ही असाधरण मेधावी व्यक्ति। इन्जीनियर थे, अमेरिका में काम करते थे, लगभग तीस हजार तो उनका मासिक वेतन था। वे मिले मुझे और बातचीत हुई। उनके माता–पिता ने बताया कि पत्नी से बनी नहीं और इन्होंने विदेश में जितना भी कारोबार फैलाया था, जो भी कुछ किया था, वह सब छोड़ दिया, नौकरी भी छोड़ दी और अब हिन्दुस्तान आ गए। तो अब तो ये केवल साधु संगति और साधना में रहना चाहते हैं।

मैंने कहा कि ठीक है भाई ! सत्संग में आते रहें, सुनते रहें, विचार करते रहें। बहुत ही शान्त और स्नेही स्वभाव के थे। मुझे बहुत दुःख होता था, उनकी तकलीफ को देख कर। धीरे– धीरे करके उनके घर का और उनकी पत्नी का हाल –चाल मालूम हुआ। तो अब कुछ दिन के बाद मैं फिर गई थी, उस दिशा में। गुजरात के हैं वो, भेंट हुई तो माँ, भाई और परिवार के सब लोग कहने लगे कि पत्नी तो बहुत दुःखी हो गई है। उस समय तो उसने claim कर लिया और जितनी सम्पत्ति

उन्होंने माँगी, इन्होंने दे दी, अब पछता रही है कि मैंने बड़ी भूल की। सम्पत्ति के लिए पति को छोड़ दिया उनसे लड़ाई कर ली। अब अच्छा नहीं लग रहा है। जीना बहुत भार हो रहा है। अब किसी भी प्रकार से हम लोग फिर जुट करके रह सकें तो अच्छी बात है। और ये सज्जन जो हैं, इन्होंने तो साधु जीवन पसन्द कर लिया, अब गृहस्थी की बात न सुनते हैं, न मानते हैं, न इस विषय पर कोई ध्यान देते हैं, पत्नी अलग दुःखी है, उसका परिवार अलग दुःखी है, माता पिता अलग दुःखी हैं। देख–देखकर मेरे ध्यान में आता है कि अहं के अभिमान में आकर, अपनी योग्यता और प्रभु–प्रदत्त शक्ति जो है, उस शक्ति को निजी मानकर, व्यक्ति अनेक प्रकार के विकारों का शिकार बन जाता है। अपनी जिद पर आ जाता है और उस समय थोड़ी देर, उसे संकल्प–पूर्ति का सुख अच्छा लगता है। कुछ समय के बाद फिर वही सूनापन, वही नीरसता, वही कठोरता ! ऐसा जो अपना वर्तमान हाल है, उससे हम सब भाई–बहनों को मुक्त होना है।

संतजन सलाह देते हैं कि मनुष्य के व्यक्तित्व की रचना ऐसे अलौकिक और ऊँचे तत्त्व से हुई है कि तुम संकल्प–पूर्ति के फेर में पड़कर, कितनी भी सम्पत्ति इकट्ठी कर लो, कितना भी यश कमा लो, कितने भी मित्र बना लो, जब तक तुम्हारे हृदय को वह अनमोल तत्त्व मिलेगा नहीं, तब तक वह किसी भी प्रकार से भरपूर नहीं होगा। वह अनमोल तत्त्व कौनसा है, जिससे कि मानव हृदय को सन्तुष्टि मिलती है ? वह अनमोल तत्त्व है– प्रेम तत्त्व। जब हमने इस प्रेम तत्त्व का उपयोग इच्छाओ की पूर्ति के सुख के रूप में पसन्द किया, वस्तुओं और व्यक्तियों पर इसको केन्द्रित किया तो परिणाम में आसक्ति मिली, असन्तुष्टि मिली, अभाव मिला और नीरसता मिली। यह परिणाम मिला। होना क्या चाहिए ? कि प्रेम का केन्द्र वह हो सकता है, जो सदा–सदा के लिए हम लोगों का साथ दे सके। प्रेम का आधार वह ही हो सकता है जो सिवाय प्रेम के और कुछ न चाहे। सांसारिक सम्बन्धों में, प्रेम की मिठास में कटुता क्यों आ जाती है? इसलिए कि

जो व्यक्ति एक दूसरे के प्रेमी बनते हैं, वह अचाह नहीं होते हैं उनके भीतर किसी न किसी प्रकार की कामना रहती है, और वे अपना मन रखते हैं, अपना संकल्प रखते हैं एक दूसरे से कुछ न कुछ चाहते हैं प्रतिदान माँगते हैं, आशा रखते हैं। और जब उसमें बाधा पड़ती है तो प्रेम की मिठास घट जाती है। विरोध की कटुता बढ़ जाती है।

संतजन कहते हैं कि प्रेम–तत्त्व की माँग भी तुममें है और बीज रूप से यह अविनाशी तत्त्व तुम्हारे ही में विद्यमान भी है। भूल क्या हो जाती है ? कि जो इसका सही पात्र है, उसकी तरफ न लगा करके अन्य स्थानों पर अन्य केन्द्रों पर केन्द्रित कर दिया जाता है। इसलिए तकलीफ हो जाती है। अब क्या होना चाहिए ? अब यह होना चाहिए कि शुद्ध प्रेम का पात्र तो केवल वही हो सकता है जो सदा के लिए हमारा साथ दे सके और सिवाय प्रेम के और कुछ हमसे माँगे नहीं किसी प्रकार की आशा हम से न रखे।

ऐसा तो वही हो सकता है भाई ! जो स्वयं अपने आप में सब प्रकार से पूर्ण है। कोई और दूसरा, ऐसा हो ही नहीं सकता। कभी कभी मैं मन ही मन सोचती हूँ कि यह अच्छी बात तो है, पर मनुष्य के लिए कितनी कठिनाई हो जाती है कि संसार दिखाई देता है और उसी से हम अनेक प्रकार की आशाएँ करते हैं आशाओं में, निराशा मिलती है; इस निस्सार दृश्य में तुमको सन्तुष्ट करने के लायक कुछ नहीं है। इस बात का पाठ अगर हम पढ़ लेते, तो अपने प्रेम भाव को केन्द्रित करने के लिए, परमात्मा को छोड़कर और किसी पर ध्यान जाता ही नहीं।

श्री स्वामी जी महाराज ने एक सुझाव दिया। उन्होंने तो ऐसा ही सुझाया मुझे कि सचमुच मनुष्य का जीवन तो अपने आप में, आनन्दमय अस्तित्व ही है, प्रेममय अस्तित्व ही है। परन्तु जो उद्‌गम है प्रेम का – अनन्त सागर, उस उद्‌गम से विमुख हो जाने के कारण, भीतर में नीरसता भरी रहती है। नीरसता से पीड़ित होकर व्यक्ति, संसार की

ओर देखता रहता है। जहाँ–तहाँ दौड़ता रहता है। जिस–तिस से संयोग बनाता रहता है। सोचता है कि ऐसे कपड़े पहनूँ, तो नीरसता मिट जाएगी। ऐसे भोजन का इन्तजाम हो जाए, तो जीवन सरस हो जाएगा। ऐसी मित्र मण्डली मिल जाए, तो नीरसता मिट जाएगी। इस प्रकार का काम मिल जाए तो समय कट जाएगा।

जब मैं सुनती हूँ किसी के द्वारा, कि ऐसा तो हम इसलिए करते हैं कि समय कट जाए, तो भीतर–भीतर मुझे इतना दुःख होता है कि हाय रे मनुष्य ! एक–एक क्षण आनन्दमय हो सकता था। एक–एक क्षण अनन्त परमात्मा को लाड़ लड़ाने में रसमय हो सकता था और आदमी उन क्षणों को मुश्किल से काटने की सोचता है। बड़ा दुःख होता है। भार ढोते हो भाई ! कि ऐसा ऐसा करें तो समय कट जाए। अरे ! समय है कहाँ? किसके पास समय है भार ढोने के लिए। भार ढोने के लिए जीवन नहीं है भाई ! भूल हो गई। भीतर से नीरसता का उद्वेग होता है। नीरसता शब्द का प्रयोग मैं कर रही हूँ। कुछ भाई बहन ऐसे भी सोचते होंगे कि हमारे पास तो नीरसता है नहीं। अनुकूल परिस्थितियों में आदमी को भ्रम रहता हे, पता नहीं चलता है। लेकिन अगर पता चलाना हो तो थोड़ी देर के लिए अपने को अकेले बन्द करके देखों कि अपने भीतर जो रक्त की लहरियाँ उठ रही हैं, उसमें अपना आपा डूब रहा है कि भीतर से जी ऊब रहा है ? monotony लग रही है। घबराहट मालूम हो ही है। बाहर निकलने की इचछा हो रही है दृश्य जगत् से संयोग बनाने की आवश्यकता महसूस हो रही है, देखों तो पता चल जाए कि नीरसता है कि नहीं ! तो यह तथ्य है, हमारी वर्तमान दशा का और सब इसका अधिक विस्तार न करके, जरूरत नहीं है अधिक विस्तार की। भुक्त भोगी हैं हम सभी अब इससे मुक्त होकर , उसको सरस बनाने का पुरुषार्थ अपने को करना चाहिए।

एक बात पक्की हो गई कि जो प्रेम तत्त्व से भिन्न कुछ भी

चाहेगा वह प्रेम दे नहीं सकेगा और प्रेम तत्त्व से भिन्न जो कुछ भी चाहेगा, वह प्रेम ले नहीं सकेगा। प्रेम का आदान प्रदान दो ही के बीच में संभव है। एक हैं भगवान् और दूसरे हैं उनके भक्त। इन दोनों के अतिरिक्त और कहीं भी प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति संभव नहीं है। जहाँ किसी भी प्रकार की कामना शेष है, वहाँ प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। तो हमलोग आरम्भ कहाँ से करें ? अनुभवी संतजन सलाह देते हैं कि भूतकाल की भूलों को वर्तमान में याद मत करो। आज तुम्हारी समझ में यह बात आ गई कि मेरे ही भीतर प्रेम की प्यास है और इस दृश्य जगत् में जाने हुए में, अनजाने में, सबमें एक अविनाशी अलौकिक विद्यमान है तो उससे विमुख हो जाने के कारण ही अनेक प्रकार के कष्टों में फँस गए और अब दुःख का निवारण चाहते हो, और हृदय की शुष्कता का , कठोरता का नाश करना चाहते हो, सदा– सदा के लिए उस परम् प्रेमास्पद से अभिन्न होना चाहते हो, तो अब यह पुरुषार्थ आरम्भ करो कि भाई! दिखाई देगा संसार, तो उसकी सेवा करेंगे, परन्तु अपने लिए अपना प्रेम–पात्र, परम प्रेमास्पद उस अनन्त परमात्मा को ही रखेंगे, जो प्रेम स्वरूप ही है। अब यहाँ किसी से कुछ माँगने, चाहने की आवश्यकता नहीं है। जगत् को देने की बात है। जितना बने, देते जाओ। जल्दी जल्दी दे डालो, जिससे जल्दी फुर्सत मिल जाए। जल्दी जल्दी ममता और कामना का नाश होता जाए तो हृदय की कठोरता जल्दी मिट जाती है। उस अनन्त परमात्मा से, जिससे कि हमारा सदा सदा का सम्बन्ध है, अपनी ओर से केवल सम्बन्ध स्वीकार करने की बहादुरी करनी है।

बड़ा भारी पुरुषार्थ है मानव जीवन का, कि देखे हुए संसार को इन्कार कर देना और बिना देखे हुए परमात्मा को सदा के लिए अपना मान लेना। और उसमें मैंने अपनी ओर से थोड़ा सा और जोड़ लिया, आगे चलकर विस्तार तो सभी लोग करते हैं, तो मैं ऐसा कहती हूँ कि एक बड़ी भारी बहादुरी हम लोगों को करनी है कि देखे हुए जगत् को अपने लिए इन्कार कर देना; बिना किसी शर्त के, unconditional

surrender सुना होगा आपने बहुत सारे सन्तों ने कहा है, उसको मैं इसी के साथ जोड़ लेती हूँ– हे प्रभु ! मैं तुम्हारी शरण हूँ, हे प्रभु ! मैं तुम्हारे समर्पित हूँ, हे प्रभु ! मैं तुम्हारी दासी हूँ, हे प्रभु! मैं तुम्हारा बालक हूँ,– जो जी में आए, कह दीजिए। सब नाते उनको पसन्द हैं। गोस्वामी जी ने कह दिया :–

'मोहि तोहि नाते अनेक, मानिए जो भावै'

तो परमात्मा भी यह वाक्य हम लोगों से कहते हैं कि 'तू तो मेरा सदा– सदा का है ही अपना।' और महाराज जी मुझे समझाते तो कहते कि देवकी जी! परमात्मा तो जानते ही हैं कि तुम उनकी अपनी हो। तुम्हारी ओर से कमी रह गई है; तुम उनको अपना मान लो। वे सर्वज्ञ हैं, उन्हें यह बात मालूम हैं वे जानते हैं, हम लोग अल्पज्ञ हैं, इस बात को जानते नही हैं भूल गए है; तो अब मान लो। मानने के सिवाय भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए और कोइ दूसरी साधना है नहीं । मानना ही होगा। मानने के बाद, वही परमात्मा जाना हुए भी हो जाता है और देखा हुआ भी हो जाता है, और भेंट मुलाकात भी हो जाती है। प्रेम तत्त्व की वृद्धि में ऐसी विलक्षणता है कि दोनों मिलकर जब एक हो जाते हैं, तो पहचान भी खत्म हो जाती है।

एक दिन एक संत प्रेम तत्त्व के बारे में कहने लगे कि कृष्ण के प्रेम में राधा कृष्णाकार हो जाती हैं और राधा के प्रेम में कृष्ण राधाकार हो जाते हैं। राधाजी सखियों से पूछ रही हैं कि हे सखियों! राधा कहाँ गई ? क्या हो गया कि प्रेम के बाहुल्य में अपना जो भास है कि ' मैं हूँ वह भास भी उस प्रेम में जाकर विलीन हो जाता है। वे दो, दो नहीं रह जाते हैं, एक हो जाते हैं। कृष्ण के प्रेम में राधा का अहं कृष्णाकार हो गया तो राधे ! राधे !! राधे !!! पुकारती फिर रहीं है। राधा के प्रेम में कृष्ण राधाकार हो गए, तो कृष्ण ! कृष्ण !! कृष्ण !!! पुकारते फिर रहे हैं। ऐसा होता हैं श्री महाराज जी ने सिद्धान्त बताया कि देखों, सम्पूर्णता से अद्वैत जो हैं, वह प्रेम तत्त्व में जाकर सिद्ध हो जाता है।

उसके पहले नहीं। यह हिसाब बड़ा अनोखा है। प्रेम के साम्राज्य मे गणित ऐसा है कि एक और एक मिलकर दो नहीं होते। एक और एक मिलकर एक ही होता है। ऐसा यह विलक्षण गणित हैं उस अन्तिम ऊँचाई तक हम लोगों को पहुँचना है।

आरम्भ कहाँ से करें ? आरम्भ आज से करें। पहली बात क्या स्वीकार करें कि मेरा नित्य सम्बन्ध केवल परमात्मा से हैं। नित्य सम्बन्ध और किसी से नहीं है। माना हुआ सम्बन्ध संसार में बहुतों से है। इस माने हुए सम्बन्ध का सदुपयोग करो। मान्यता के अनुसार कर्त्तव्य पालन करो ओर प्रेम के लिए केवल परमात्मा को अपना नित्य सम्बन्धी मानो। तो पहला कदम हो गया।

दूसरी बात क्या होगी ? कि केवल उसी का स्वतन्त्र अस्तित्व है, उससे भिन्न किसी और का अस्तित्व नहीं है। इसलिए इस समग्र जगत् सहित अपने पास, जो कुछ अपने को दिखाई दे रहा है, ये सब कुछ उसका है। तो परमात्मा है, उसी से अपना नित्य सम्बन्ध है और अपने सहित सब कुछ उनका है। तीन बातें हो गई अभी तक कोई खतरा नहीं है। अभी तक हम सभी लोग, बहुत अच्छी तरह सुरक्षित है। परमात्मा हैं, इसको मानने से इन्कार नहीं कर सकते हैं हम। और संसार में क्योंकि हमारा सम्बन्ध सदा के लिए निभता नहीं है, बनता है और टूटता हैं, इसलिए यहाँ के सम्बन्धों को तो हम नित्य सम्बन्ध कह ही नहीं सकते। तो कहीं न कहीं से हमारी उत्पत्ति हुई है। किसी न किसी में से हम निकले हैं, तो उसी के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध है उसी से हमारा अटूट सम्बन्ध है और मेरी आवश्यकता ऐसी है कि मुझको ऐसा नित्य साथी चाहिए कि जिसका साथ कभी भी छूटे नहीं। जिसके वियोग में मुझे कभी भी निराधार न होना पड़े ऐसे नित्य सम्बन्धी की आवश्यकता मनुष्य मात्र अनुभव करता है और इसी के उत्तर में संतजन हम लोगों को सलाह देते हैं कि भाई ! इस बनने बिगड़ने वाले संसार में तुमको नित्य साथी कोई नहीं मिलेगा। हम लोगों के

साथ क्या है? हम लोगों को अभी चिर पुरातन सम्बन्ध की याद नहीं है, लेकिन उसकी आवश्यकता है। तो गुरु के वाक्य में श्रद्धा करके, ग्रन्थ के वाक्यों में विश्वास करके, अपने जीवन के अधूरेपन को मिटाने की आवश्यकता अनुभव करके, हम लोगों को स्वीकार कर लेना चाहिए।

चिर पुरातन सम्बन्ध सदा–सदा के लिए होता है। तो इस शरीर के उत्पन्न होने से पहले भी परमात्मा मेरे नित्य सम्बन्धी थे। जब यह शरीर चिता पर जलता हुआ होगा तब भी वह मेरा नित्य सम्बन्धी मेरे साथ रहेगा – इस सत्य को स्वीकार करके सदा सदा के लिए निश्चित और निर्भय हो जाना, यह भक्ति–पंथ के साधकों का पुरुषार्थ है। आगे क्या होगा ? आगे बहुत अच्छी बात होती है। ज्यादा कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता। एक बार गुरु के वाक्य में आस्था करके, मैले कुचैले, विकारों से भरे रोगी शरीर जो भी कुछ है, उन्हें ले करके उस सामर्थ्यवान अनन्त के समर्पित हो जाने के पश्चात् फिर अपनी ओर न देखना चाहिए न अपनी योग्यता और विशेषता की चिन्ता करनी चाहिए; कुछ नहीं। उसके समर्पित हो करके बिल्कुल अपने को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। चौबीस घंटे में कई बार। हे प्रभु ! यह सृष्टि तुम्हारी है, इसकी सेवा का अवसर दिया आपने, ऐसा याद करके यदि किसी प्यासे को एक गिलास जल पिला दिया, तो ये हाड–मांस का बना हुआ स्थूल शरीर जो है, यह पवित्र हो जाएगा।

जब मैं छात्रावास में थी पढ़ाई के दिनों में, तो बीमारों की सेवा में कुछ कुछ काम करने की रुचि थी, ऊँचा जीवन जीने की लालसा बचपन से थी, तो जहाँ जो सूझे सो करती रहती थी। राम कृष्ण मिशन के एक डाक्टर हम लोगों के छात्रावास में आते थे, बड़े ऊँचे, अच्छे संत थे। भक्त थे। जिस रोगी के पास वे जाएँ देखने के लिए, मैं वहीं खड़ी मिलती। टैम्परेचर मैंने नोट कर रखा होता, उसको क्या तकलीफ है सो मुझे मालूम होता, और उनको मैं बताती। दो चार, दस बार देखा

होगा उन्होंने, तो एक दिन दोनों हाथ हमारे पकड़ लिए और पकड़ कर कहने लगे कि बच्ची का यह हाड़–मांस का हाथ तो पवित्र हो गया। बहुत पहले की बात है जब आठवीं–नवीं में पढ़ती थी मैं तब की। तब से मुझको याद है कि इतना सा भी संसार के प्रति कर सको तो बड़ी बात है। अगर बहुत ही सामान्य परिस्थिति के व्यक्ति आप हैं और बहुत बड़ी बड़ी सेवा का कार्य नहीं कर सकते हैं, तो उससे कुछ नहीं घटेगा। अगर शरीर भी नहीं चल रहा है तो हृदय से ही मनाओ कि प्यारे प्रभु की प्यारी सृष्टि ! तुम आबाद रहो। हे संसार! तुम्हारा कल्याण हो।

स्कूल के दिनों की बात है कि एक बार एक थियोसोफिकल सोसायटी के संत आए तो उनको भी कुछ दिखा होगा, उन्होंने मुझको बुलाया और पास बैठाया और Head Mistress से कहने लगे कि इस लड़की को मैं कुछ सिखाऊँ। उन्होंने कहा कि सिखाइये महाराज। आशीर्वाद दीजिए। तो उन्होंने सिर पर हाथ रखा और कहा कि बेटी कुछ अनुभव हो रहा है तुम्हें ? तो मैं बहुत ही उग्र प्रकृति की थी। सहज से किसी बात में आने वाली नहीं थी मैंने कहा कि नहीं, नहीं हमको कुछ नहीं हो रहा है। थोड़ी देर तो उन्होंने चेष्टा की पर कुछ प्रभाव नहीं हुआ। तो फिर उन्होंने कहा कि बहुत अच्छी बात है, बड़ा पक्का विचार मालूम होता है। भविष्य इसका कल्याणमय होगा, ऐसा कह करके आशीर्वाद दिया। कहने लगे कि देखो ! दुनियाँ में अगर कुछ न कर सको तुम, तो जहाँ कहीं किसी दुःखी पर दृष्टि पड़े तो तुम हृदय से यह भाव ही प्रकट करना कि हे संसार! तुम्हारा कल्याण हो। हे प्रभु! तुम दुःखी का दुःख दूर करो। तो केवल इतनी सी सद्भावना के बल पर ही, हमारे जन्म–जन्म का अशुद्ध चित्त शुद्ध हो सकता है।

संसार निस्सार है लेकिन जब तक हम लोगों को दिखाई दे रहा है तब तक इसको बेकार मत कहना। समझ में आता है? निस्सार है। रहने वाला नहीं है। बन रहा है, बदल रहा है, मिट जाएगा। लेकिन

जब तक इसका ज्ञानेन्द्रियों से तादात्म्य है, अभी टूटा नहीं; जब टूट जाएगा तब तो एक अकेला ही रह जाएगा, एक से भिन्न किसी के अस्तित्व का भास ही नहीं होगा, उस सतह पर तो जब हम पहुँचेंगे तब्र पहुँचेंगे। साधना तो आज आरम्भ करनी है वर्तमान में। तो इस वर्तमान में संसार दिखाई दे रहा है अपने लोगों को, तो इसको निस्सार तो हम जानते हैं निस्सार जानना, परन्तु बेकार मत मानना। यह जो दिख रहा है, आपको ऊँचे उठाने में सहयोगी हो सकता है। कैसे ? कि इससे लेने की आशा को छोड़कर, जो देना है वह देना आरम्भ कर दो, कुछ भी तुम्हारे पास बचा नहीं देने के लिए। न शरीर में बल रहा है, न धन सम्पत्ति रही, ये कुछ भी नही रहा तो हृदय का सद्भाव तो नहीं घट गया। तो हृदय से ही भला मनाओ। इतनी सी बात है। और फिर जुट जाओ अपने नित्य साथी के साथ उस अनन्त परमात्मा के साथ, उस प्रेम सागर के साथ जुट जाओ। उन्ही के नाते, संसार की ओर कल्याणमयी भावना से दृष्टिपात करो और उन्ही के नाते इस ओर से आँखे बन्द करके, थोड़ी थोड़ी के देर के लिए उनकी शरणागति लेकर शान्त हो जाओ। यहाँ तक आपको कोई कठिनाई नहीं है। इतना सा साधन हर भाई—बहन जिसकी इच्छा हो प्रेम तत्त्व के विकास की, वह अपना सकता है। अब आगे चले।

मनुष्य के भीतर एक जीवन तत्त्व है। केवल शरीर के द्वारा अपने को मत देखिए। शरीरों से भी ऊँचा, अविनाशी, अभौतिक, अलौकिक, एक तत्त्व आपके भीतर है। उसमें प्रेम बीज रूप से विद्यमान है। उसमें ज्ञान का प्रकाश है। जिस समय मनुष्य संसार को 'पर' जान करके, इसके आश्रय को छोड़ कर उस नित्य सम्बन्धी परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता है, उसी समय उसके सूक्ष्म अतिसूक्ष्म अहं रूपी अणु में एक परिवर्तन आरम्भ होता हे।

पहले क्या था? कि आँखें खोलो तो विविध रूप आकृति, दिखाई देंगी और आँखें बन्द करो तो भीतर घोर अन्धकार हो जाएगा। यह

है स्थूल शरीर के साथ जुटकर रहने का परिणाम! और अब आपने बहुत ही सहज भाव से, बड़ी ही सरलता के साथ, बिना किसी तैयारी के, बिना किसी विद्वत्ता के, बिना किसी जप–तप के केवल जीवन की निराधार अवस्था को अनुभव करके उस अनन्त परमात्मा को जीवन का आधार स्वीकार कर लिया और उसकी शरणागति लेकर रहना आपने पसन्द कर लिया तो केवल इतने मात्र से उस अहं रूपी अणु में, एक विचित्र परिवर्तन होता है, दृढ़ता आती है। मैंने तो बड़ी कठोरता के स्तर से आरम्भ किया था। सूक्ष्म से सूक्ष्म विकास जो ईश्वर विश्वास के आधार पर होता है, उसका थोड़ा–थोड़ा सा रिपोर्ट मेरे पास है। आदत थी Introspection की आँख से दिखता रहता था। अभी भी दिखता है। वह मैं सेवा में निवेदन कर रही हूँ, बाहर से कोई परिश्रम, पराश्रय लेने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। आपने उस अनन्त परमात्मा की शरणागति को स्वीकार किया और पाँच, दस बीस मिनिट का समय निकालकर थोड़ी थोड़ी देर के लिए, निरहंकार होकर कर्त्तव्य का अभिमान छोड़कर, माता–पिता की गोद में जेसे शान्त रहते हैं, वैसे छोड़ दीजिए अपने को, तो आप काले हो, विकारों से भरे हो, क्रोधी हो, कुछ चिन्ता की बात नहीं है, उनमें इतनी सामर्थ्य है कि उनकी कृपा–दृष्टि से ये सब शान्त हो जायेगा, शुद्ध हो जाएगा, मिट जाएगा।

उनकी महिमा में विश्वास करो, उसकी प्रधानता रखो, अपनी नालायकी को भूल जाओ। जरूरत नहीं है, उसको देखने की। तो अहं रूपी अणु में एक ऐसा विलक्षण परिवर्तन होता है कि पहले आपने गुरु के कहने से माना था कि तुझी में तेरा प्रेमास्पद है। संत कबीर ने कहा–

तेरा साईं तुझ में, ज्यों पुहुपन में बास।

पुष्पों में जैसे सुगन्ध होती है, वैसे ही तुम्हारे ही में परमात्मा है। तो गुरु ने कहा था कि तुम्हारा प्रेमास्पद तुम्हीं में हैं, गुरु के कहने से

आपने सुन लिया, मान लिया। मानने के बाद आपके भीतर भाव की ऐसी आँखें खुलती हैं कि अपने ही में उस परम प्रेमास्पद का दर्शन होने लगता है। किया नहीं जाता। मानव सेवा–संघ की पद्धति में प्रयास करके, अभ्यास करके इष्ट का चित्र ध्यान के केन्द्र में लाने की बात सिखाई नहीं जाती। स्वामी जी कहते कि यदि तुम अपनी ओर से बनाओगे तो तुम्हारी कल्पना का चित्र बनेगा। मुझको बहुत सावधान किया उन्होंने कि देवकी जी ! भगवान का कार्टून मत बनाना दिमाग में। सुना हुआ होता है तो प्रभाव रहता है कि भगवान चतुर्भुजी हैं, भगवान घनुषधारी हैं, मुरली मनोहर हैं, अष्टभुजा हैं, महाशक्ति हैं यह सब सुनी हुई बातों का प्रभाव होता है। जिस जिसको जो जो रूप पसन्द आता है वह मस्तिष्क में भगवान का वही रूप बनाना पसन्द करता है। तो बार बार महाराज जी ने मुझको समझाया कि देवकी जी तुम भगवान का कार्टून मत बनाना। तुम्हारा बनाया हुआ बन जाएगा और अपने आप से बिगड जाएगा। इसलिए तुम बनाना मत। तुम अपने को समर्पित करके छोड़ दो। जो रूप तुम पसन्द करती हो और जिस रूप के दर्शन से तुम्हारा कल्याण हो सकता है, जिसमें तुम्हारी लगन लग सकती है यह बात तुमको मालूम नहीं है, लेकिन उनको मालूम है।

तुम अपने को छोड़ दो। वे परम् प्रेमास्पद, हम सबके हित चिन्तक, है अपने से अधिक हमारे हित की चिन्ता उनको है, अपने से अधिक हमारे उद्धार की बात उनके शुद्ध संकल्प में है। तो वे सत्य संकल्प शुद्ध–संकल्प, परमहित–चिन्तक, जगत्–पिता, जगत्–जननी अपनी ही करुणा से अभिभूत होकर हमारा सुधार आरम्भ करेंगे, तो इतना आनन्द होगा, इतना आनन्द होगा, प्रेमतत्त्व की अभिव्यक्ति की ऐसी अजस्र धारा फूट पड़ेगी कि जिसे तुम सँभाल नहीं सकोगी। सीमित अहं भाव उसमें गल जाएगा और कब मिलकर तुम और वे एक हो गए, उस क्षण की कोई पहचान नहीं रहेगी।

मैंने कहकर सुना दिया, आपने आभार प्रदर्शित कर दिया, हम
आपके मिलन का अन्त नहीं हो गया। हम सभी एक एक ज्वलन्त
हैं, उस अविनाशी जीवन की किरणें हैं हम। जहाँ भी रहे, शरीर
अलग तो सदैव ही हैं, लेकिन हम सभी उस प्रेम–नगर के पथिक,
भी एक दूसरे से भाव में अलग नहीं होगें। प्रार्थना की घड़ी में, शा
के क्षणों में बाहरी कठिनाइयों की उलझन में, हम सब एक दूसरे
साथ हैं प्रार्थना में हम सब एक दूसरे के कल्याण के लिए प्रार्थना
जब कभी एकान्त का अवसर मिले, उस प्रभु की कृपा की भिक्षा सब
लिए माँगे। यह क्रम हमारा, यह अनन्त मिलन हमारा, यह पथ
पाथेय हमारा, तब तक साथ देता रहे हम सभी भाई–बहिनों को
तक हम जाकर अपने उस अनन्त जीवन में समाहित न हो जाएँ

अब शान्त हो जाएँ। ॐ श्री हरि शरणम्।।

(92)

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयो,

हम सब लोग अध्यात्म जीवन की चर्चा कर रहे हैं।
सम्बन्ध में आज इस विषय पर हम विचार करें कि जो सत्य है,
अपने से बहुत दूर मालूम होता है और जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व
है, वह अपने को निकट मालूम होता है। जिससे त्रिकाल में भी
सम्बन्ध नहीं है, वह अपने को प्राप्त हुआ जैसा प्रतीत होता है और
सदा सदा से अपने में विद्यमान है, जिससे सम्बन्ध कभी छूटा ही
वह अपने को अत्यन्त रहस्यमय मालूम होता है। पता नहीं कहाँ
कब मिलेगा ? कैसे मिलेगा ? यह एक समस्या है हमारे आपके सा
इस समस्या का समाधान, सत्संग के प्रकाश में हम लोगों को क
है।

अहं रूपी अणु की रचना पर विचार करना बहुत ही सहायक होता है। शरीर की रचना हुई है भौतिक तत्त्वों से और मैं–पन की रचना हुई है अलौकिक तत्त्वों से। श्रीमहाराज जी की वाणी है। एक जगह पर बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा कि गेहूँ उपजा खेत में और सेवार उपजी जल में, ''मैं'' कहाँ उपजा ? बताओ कोई स्थान? जल में, कि थल में ? कहाँ मैं की उत्पत्ति हुई ? सोचने से तो ऐसा लगता है कि जल में से या थल में से ''मैं'' नही निकला है।

श्री महाराज जी कहते हैं कि जल से, थल से और वायु से 'मैं' की रचना हुई होती अगर, तो आज के वैज्ञानिक युग में ऐसे यंत्र बना लिए जाते, जिससे बहुत से ' मैं' का उत्पादन हो जाता, लेकिन ऐसा नहीं हुआ ऐसा नहीं हो सकता, ऐसा सम्भव नहीं है। इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह है कि हमारा– आपका व्यक्तित्व जो है, उसमें शरीरों का भाग भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है और ' मैं पन' जो है, वह अलौकिक तत्त्व से रचा गया है। ऐसा हम क्यों कहते हैं ? ऐसा इसलिए कहते हैं कि शरीरों के साथ रहते हुए भी, मनुष्य के भीतर अलौकिक जीवन की माँग होती है। अनन्त तत्त्व की जिज्ञासा रहती है। इसलिए यह 'मैं पन' जो है हमारा आपका, यह भौतिक तत्त्वों का रचा हुआ नहीं है, अलौकिक तत्त्व का रचा हुआ है। हम लोग देख रहे हैं, परस्पर एक दूसरे के साथ व्यवहार कर रहे हैं, यह सब इसी सत्य के प्रकाश में होना चाहिए था। इस सत्य का प्रभाव अगर हम लोग ग्रहण करें तो हमें यह सत्य भी मान लेना चाहिए कि भाई ! शरीर की आवश्यकता संसार से पूरी होगी, परन्तु 'मैं' की आवश्यकता की पूर्ति में संसार सहायक नहीं होता है, कारण कि शरीर और संसार की जाति एक है।

किसी शरीर–विज्ञान के जानकार व्यक्ति से आप पूछिए और आपके शरीर के भीतर की धातुओं की वह जाँच करें, तो कोई डाक्टर कहेगा कि शरीर में लोहा कम हो गया, कोई कहेगा कि इसमें शक्कर

की मात्रा बढ़ गई। ये सब धातुएँ जो शरीर के भीतर हैं और जिनकी क्षति–वृद्धि की चर्चा आप करते है, ये धातुएँ संसार की हैं, संसार के बाहर की नहीं है। इसका मतलब यह है कि शरीर का विश्लेषण अगर कीजिए, तो शरीर में संसार ही मिलेगा। संसार से परे की धातु नही मिलेगी। समझ में आता है ?

अब 'मैं' का विश्लेषण करो कि उसमें क्या है ? उसमें संसार की धातु नहीं मिलेगी। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर ये पाँच तत्त्व "मैं" में नहीं मिलेंगे। 'मैं' क्या है ? 'मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? इस पर जिन महापुरुषों ने विचार किया, उन्होंने विचार की सीमा के भीतर आने वाली सब बातों को अस्वीकार किया। 'मैं' मिट्टी नहीं है, 'मैं' पानी नहीं है, 'मैं' हवा नहीं है, 'मैं' अग्नि नही हैं, 'मैं' में यह सब नही है। जो नहीं है, उसको नकार देने से अर्थात् जो नहीं है, उसको अस्वीकार कर देने से, जो है उसका अनुभव हो जाता है। उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है और समस्या हल हो जाती है। एक रास्ता यह है।

दूसरा है विश्वास का मार्ग जो आस्तिकवाद कहलाता है। व्यक्तित्व की रचना में विचार भी एक अनिवार्य तत्त्व है, तो आस्था, श्रद्धा, विश्वास भी जीवन का एक अनिवार्य पहलू है। उसको भी हटाया या मिटाया नहीं जा सकता। किसी मनुष्य के व्यक्तित्व को लेकर आप विचार करें, तो उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास– ये सब घटा दीजिए, तो उसको आप मनुष्य नहीं कह सकेंगे। अनिवार्य तत्त्व किसको कहते हैं ? जिसको हटा दो, तो संज्ञा समाप्त हो जाए। प्रेम भाव से शून्य आपने किसी मनुष्य को देखा है ? अरे भाई ! स्नेह देने की क्षमता उसमें न हो, परन्तु लेने की प्यास तो रहती है कि नहीं ? इसका मतलब है कि बीज रूप से यह तत्त्व विद्यमान है। यह मनुष्य के व्यक्तित्व का एक अनिवार्य तत्त्व है कि उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास का पक्ष होता ही है। उसके बिना मनुष्य बनता ही नहीं। इस

आधार पर साधन की एक प्रणाली चलती है, जिसमें यह माना जाता है कि शरीर के माध्यम से और इस संसार की सहायता से अपनी सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकीं। अपनी आवश्यकता उस अनन्त जीवन की है, जिस पर मृत्यु की छाया न पड़ सके। अपनी आवश्यकता उस आनन्द की है, जो किसी अन्य पर आश्रित न हो।

पराश्रय और परिश्रम से मिलने वाली चीज, 'सुख' कहलाती है, आनन्द नहीं कहलाती। पराश्रय और परिश्रम से मिलने वाले सुखों का सब कुछ हम लोगों ने देख लिया। इतने से अपने को सन्तुष्टि नहीं हुई। अपनी माँग उस आनन्द की है, जो पराश्रय और परिश्रम पर आधारित न हो। आँखों का सहारा लिए बिना दृश्य जगत् के सुन्दर दृश्यों की सुन्दरता का मजा क्या आप ले सकते हैं ? नहीं ले सकते हैं। कान की सहायता लिए बिना, मधुर स्वर सुनने का सुख क्या किसी को मिल सकता है ? नही मिल सकता है। तो कानों का सहारा लेकर, मधुर स्वर सुनने का सुख हम लेते ही रहेंगे, इस बात में हम लोग स्वाधीन नहीं है। जीभ में स्वाद की ग्रन्थियाँ हैं, उसमें से स्वाद के रस निकलते रहते हैं Salivarty glands कहते हैं, उनको। उनकी क्रिया कि आधार पर, सुस्वादु वस्तुओं के खाने का सुख व्यक्ति को मिलता है। यह सुख सदा के लिए आप लेते रहें, इसमें स्वाधीनता नहीं है। अनेक प्रकार की पराधीनता है, कहाँ तक मैं वर्णन करूँ! शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान के आधार पर, इन्हें जानने में मैंने बहुत समय गँवाया। आपका समय इस विवेचन में मैं गँवाना नहीं चाहती हूँ। अब इसे यहीं पर छोड़ दीजिए। इसमें पराधीनता है।

अपनी माँग में ऐसी बात है कि अपने को वह आनन्द चाहिए, जिसमें शरीर और संसार की पराधीनता लेनी न पड़े। परम स्वाधीन जीवन का आनन्द अपने को चाहिए। इस माँग की पूर्ति शरीर और संसार की सहायता से नहीं हो सकती। अपने को ऐसा परम पवित्र–प्रेम का रस चाहिए कि जो कभी घटे नहीं, कभी खत्म न हो और हम सदा

की मात्रा बढ़ गई। ये सब धातुएँ जो शरीर के भीतर हैं और जिनकी क्षति–वृद्धि की चर्चा आप करते है, ये धातुएँ संसार की हैं, संसार के बाहर की नहीं है। इसका मतलब यह है कि शरीर का विश्लेषण अगर कीजिए, तो शरीर में संसार ही मिलेगा। संसार से परे की धातु नहीं मिलेगी। समझ में आता है ?

अब 'मैं' का विश्लेषण करो कि उसमें क्या है ? उसमें संसार की धातु नहीं मिलेगी। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर ये पाँच तत्त्व "मैं" में नहीं मिलेंगे। 'मैं' क्या है ? 'मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? इस पर जिन महापुरुषों ने विचार किया, उन्होंने विचार की सीमा के भीतर आने वाली सब बातों को अस्वीकार किया। 'मैं' मिट्टी नहीं है, 'मैं' पानी नहीं है, 'मैं' हवा नहीं है, 'मैं' अग्नि नही हैं, 'मैं' में यह सब नहीं है। जो नहीं है, उसको नकार देने से अर्थात् जो नहीं है, उसको अस्वीकार कर देने से, जो है उसका अनुभव हो जाता है। उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है और समस्या हल हो जाती है। एक रास्ता यह है।

दूसरा है विश्वास का मार्ग जो आस्तिकवाद कहलाता है। व्यक्तित्व की रचना में विचार भी एक अनिवार्य तत्त्व है, तो आस्था, श्रद्धा, विश्वास भी जीवन का एक अनिवार्य पहलू है। उसको भी हटाया या मिटाया नहीं जा सकता। किसी मनुष्य के व्यक्त्वि को लेकर आप विचार करें, तो उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास– ये सब घटा दीजिए, तो उसको आप मनुष्य नहीं कह सकेंगे। अनिवार्य तत्त्व किसको कहते हैं ? जिसको हटा दो, तो संज्ञा समाप्त हो जाए। प्रेम भाव से शून्य आपने किसी मनुष्य को देखा है ? अरे भाई ! स्नेह देने की क्षमता उसमें न हो, परन्तु लेने की प्यास तो रहती है कि नहीं ? इसका मतलब है कि बीज रूप से यह तत्त्व विद्यमान है। यह मनुष्य के व्यक्तित्त्व का एक अनिवार्य तत्त्व है कि उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास का पक्ष होता ही है। उसके बिना मनुष्य बनता ही नहीं। इस

आधार पर साधन की एक प्रणाली चलती है, जिसमें यह माना जाता है कि शरीर के माध्यम से और इस संसार की सहायता से अपनी सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकीं। अपनी आवश्यकता उस अनन्त जीवन की है, जिस पर मृत्यु की छाया न पड़ सके। अपनी आवश्यकता उस आनन्द की है, जो किसी अन्य पर आश्रित न हो।

पराश्रय और परिश्रम से मिलने वाली चीज, 'सुख' कहलाती है, आनन्द नहीं कहलाती। पराश्रय और परिश्रम से मिलने वाले सुखों का सब कुछ हम लोगों ने देख लिया। इतने से अपने को सन्तुष्टि नहीं हुई। अपनी माँग उस आनन्द की है, जो पराश्रय और परिश्रम पर आधारित न हो। आँखों का सहारा लिए बिना दृश्य जगत् के सुन्दर दृश्यों की सुन्दरता का मजा क्या आप ले सकते हैं ? नहीं ले सकते हैं। कान की सहायता लिए बिना, मधुर स्वर सुनने का सुख क्या किसी को मिल सकता है ? नही मिल सकता है। तो कानों का सहारा लेकर, मधुर स्वर सुनने का सुख हम लेते ही रहेंगे, इस बात में हम लोग स्वाधीन नहीं है। जीभ में स्वाद की ग्रन्थियाँ हैं, उसमें से स्वाद के रस निकलते रहते हैं Salivarty glands कहते हैं, उनको। उनकी क्रिया कि आधार पर, सुस्वादु वस्तुओं के खाने का सुख व्यक्ति को मिलता है। यह सुख सदा के लिए आप लेते रहें, इसमें स्वाधीनता नहीं है। अनेक प्रकार की पराधीनता है, कहाँ तक मैं वर्णन करूँ ! शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान के आधार पर, इन्हें जानने में मैंने बहुत समय गँवाया। आपका समय इस विवेचन में मैं गँवाना नहीं चाहती हूँ। अब इसे यहीं पर छोड़ दीजिए। इसमें पराधीनता है।

अपनी माँग में ऐसी बात है कि अपने को वह आनन्द चाहिए, जिसमें शरीर और संसार की पराधीनता लेनी न पड़े। परम स्वाधीन जीवन का आनन्द अपने को चाहिए। इस माँग की पूर्ति शरीर और संसार की सहायता से नहीं हो सकती। अपने को ऐसा परम पवित्र–प्रेम का रस चाहिए कि जो कभी घटे नहीं, कभी खत्म न हो और हम सदा

ही, उस रस की मस्ती में छके रहें। ऐसा परम पवित्र रस, ऐसा अनन्त माधुर्य से भरा हुआ रस, इस संसार में है भी नहीं और इस संसार की सहायता से ऐसे रस का अनुभव भी नहीं हो सकता। जिन साधकों को उस रस का मजा आया, जो उस रस में छके, वे शरीर और संसार को भूल गए। और जिन्होंने शरीर और संसार को पकड़कर रखा है उनको वह अनन्त रस मिला ही नहीं। इससे पता चलता है कि अपने को जो रस चाहिए, वह शरीर और संसार की सहायता से नहीं मिल सकता।

अपने जीवन को देखिए तो सही, शरीर और संसार की सहायता लेकर, हम लोगों में से किसी ने चालीस वर्ष, किसी ने साठ वर्ष और किसी ने अस्सी वर्ष बिताए। इतनी लम्बी अवधि का अनुभव काफी है इस सत्य को स्वीकार करने के लिए कि सचमुच मुझे जिसकी माँग है, वह शरीर और संसार की सहायता से पूरी नहीं हो सकती। अतः निज स्वरूप का बोध और परम प्रेम का रस, जगत् की सहायता से नहीं मिल सकता। इस सत्य की स्वीकृति मात्र से, साधकों के साधन– पथ की बहुत सी बाधाएँ सहज ही हट जाती है। साधक प्रचलित रूढ़ियों से मुक्त हो जाता है, अन्यथा अपनी मौलिक माँग की पूर्ति के लिए भी, वह शरीरों की पराधीनता मे आबद्ध रहता है। साधकों को साधन–पथ पर स्वाधीनता पूर्वक आगे बढ़ाने के लिए श्री स्वामी जी महाराज ने कहा कि देखो भाई ! सत्य को स्वीकार करने के लिए किसी विशेष परिश्रम और पराश्रय की आवश्यकता नहीं है।

सामान्यतः साधक यह सोचते हैं कि शरीर की ममता और संसार की कामनाओं का नाश करने के लिए भी कुछ परिश्रम करना पड़ेगा, कुछ अनुष्ठान करना पड़ेगा, ऐसा सोचना भ्रम है। ममता और कामना का नाश, जीवन के सत्य को स्वीकार करने से होता है, परिश्रम से नहीं। ममता और कामना की उत्पत्ति, सुख–भोग की प्रवृत्ति से होती है।परन्तु उनका नाश किसी प्रवृत्ति से नहीं होता है।

कामनाओं की उत्पत्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण कीजिये। मनोविज्ञान

का सिद्धान्त है कि आपने इन्द्रियदृष्टि से दृष्टि दृश्य जगत् को देखा और किसी चीज को पसन्द किया कि यह बड़ी बढ़िया है, तो उस पसन्दगी के कारण उसका चित्र आपमें अंकित हो गया। जैसे खाने की कोई चीज पसन्द की आपने। दुकानों में से बढ़िया–बढ़िया सुगन्ध आ रही है। खाने की वस्तु पक रही है, बिक रही है। आपके मन में उसको खाने की कामना उत्पन्न हो गई उसको खाने का सुख मिलेगा कि नहीं मिलेगा, यह तो प्रकृति का विधान जाने। मिल भी सकता है और नहीं भी मिल सकता है। कभी पैसे नहीं होंगे, कभी टाइम नहीं होगा; साथी नापसन्द करेंगे। सुख लेने के लिए विधान ने आपको allow किया है या नहीं, यह तो विधान जाने, लेकिन अगर आपने पसन्द किया कि यह तो बड़ी बढ़िया चीज है, मुझे मिल जाए तो खाने में बड़ा मजा आयेगा। केवल इस पसन्दगी के आधार पर आपमें उसका राग अंकित हो जायेगा। फिर जब आप ध्यान करने बैठे तो इष्ट के स्थान पर जिस वस्तु को आपने पसन्द किया था, उसका चित्र दिखाई देने लगा। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।

बहुत साधारण स्तर का वैज्ञानिक विश्लेषण है, ऊँचा दर्शन मैं नहीं बोल रही हूँ। दुनियाँ में रहकर दिन–रात इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं को हम लोग, अपने भीतर स्थान दे रहे हैं, यह उसका परिणाम है। श्री महाराज जी कहते हैं कि भैया ! सुखद प्रवृत्तियों में अपने को फँसाकर, इन विकारों को आपने भीतर–भीतर जमाया है। इनका नाश किसी प्रवृत्ति से नहीं होगा। यह विकार भी तुम्हारे भीतर जमें रहेंगे और इनके नाश के लिए साधना के रूप में कोई चित्र लेकर, कोई मंत्र लेकर, कोई अच्छा विचार लेकर, उनका चिन्तन करने बैठोंगे तो वह चिन्तन भी तुम्हारे भीतर अंकित होता रहेगा। दोनों ही प्रकार की क्रियाओं का प्रभाव अंकित रहेगा।

मनुष्य में बड़ी भारी विलक्षणता है कि वह जिसको पसन्द करता है, वही उसके भीतर अंकित होता है। संसार के दृश्यों को पसन्द करो तो उनका चित्र भी भीतर बन जाता है और जब कुछ अच्छी बातों को

पसन्द करने लगो, तो वे भी अंकित हो जाती हैं। फिर जब साधक अपनी साधना में शान्त बैठना चाहते हैं तो जो विकार अंकित हुए थे, वे भी सामने आते हैं और जो अच्छी बातें अंकित हुई है, वे भी सामने आती हैं। फिर वे घबराते हैं कि हाय ! क्या करें ? भीतर से विकार तो नाश हुए नहीं। अरे भाई ! आपने दोनों को पसन्द किया तो दोनों वहाँ मौजूद हैं। एक को रखना चाहते हो तो होगा कैसे? पहले पसन्दगी मिटाओ न तब विकार मिटेंगे। इसलिए स्वामी जी महाराज ने कहा कि देखों, भीतर के जो विकार है, उनको नाश करने के लिए किसी क्रिया का सहारा मत लो। क्रिया का सहारा लेने का मतलब है शरीर का सहारा लेना और शरीर का सहारा लेने का मतलब है कि तुम पराधीन हो गए। सोचो ! तुम चाहते हो परम स्वाधीन, परमानन्द और उसकी साधना करते हो शरीरों के अधीन होकर। अतः सफलता नहीं मिलती। इस फेर में कभी मत पड़ना। कितनी सच्ची बात है ! आप सोचकर देखिये।

जब मैं साधक समाज को देखती हूँ कि शरीरों का सहारा लेकर, विविध प्रकार की क्रियाओं को लेकर, शरीरों से परे के अशरीरी जीवन की स्वाधीनता पसन्द करते हैं, तो बड़ा दुःख होता है। शरीर का सहारा लेकर, साधना करो, अशरीरी जीवन चाहोगे, कैसे होगा ? होता ही नहीं है। बाहर का दुःख द्वन्द्व थोड़ा कम हो जाता है, समाज में कुछ अच्छा स्थान मिल जाता है, लोग कुछ भली दृष्टि से देखने लगते हैं, जीवन में से बहुत सी बुराइयाँ निकल जाती है; तो व्यक्तित्व कुछ अच्छा बन जाता है। लेकिन जो अन्तिम बात है, वह पूरी नहीं होती है। इसीलिए श्री महाराज जी ने कहा कि केवल सत्य की स्वीकृति मात्र से अहं में परिवर्तन होता है। इसको आप प्रयोग करके देखें।

कौन सा सत्य ? ग्रन्थ में लिखा है वह नहीं, गीता में लिखा है वह नहीं, वेद शास्त्र में लिखा है वह नहीं, उसके तो हम अभी अधिकारी भी नहीं हुए हैं। फिर कौन सा सत्य ? शरीरों की सहायता

लेकर जगत् में हमने अपने को सन्तुष्ट करना पसन्द किया। मेरा ही अनुभव है कि ऊँची से ऊँची सुखद परिस्थिति में भी मुझे सन्तोष नहीं हुआ। यह ग्रन्थ का सत्य है कि आपका अनुभव है ? जो अपने अनुभव का आदर करता है, वह वेद–वाणी का आदर कर सकता है, क्यों कि आपके भीतर प्रकाश देने वाला स्वयं–प्रकाश विद्यमान है। उसी का प्रकाश वेद में प्रकट किया गया है। वेद में जो प्रकाश प्रकाशित किया गया है, गीता, रामायण, उपनिषद् में जो प्रकाश प्रकाशित किया गया है,उसका मूल स्रोत स्वयं–प्रकाश परमात्मा आपमें विद्यमान है। आपके व्यक्तित्व में जो कि सजीव है, उस प्रकाश का आदर होता है। अनुभूतियाँ कागज के पत्रों में नहीं होती है मनुष्य के व्यक्तित्व में होती है। अतः कागज के पृष्ठों से अधिक महत्त्वपूर्ण आपका व्यक्तित्व हुआ। इस बात को आप मानिये। अपने व्यक्तित्व के महत्त्व को स्वीकार करिये। ग्रन्थ में जो वाक्य लिखे है, उन वाक्यों का अनुसरण करने से सत्यकी अभिव्यक्ति आपके भीतर होगी, आपके अनुभव में आएगा और वह कभी न मिटाने वाला आनन्द, आपके जीवन में आएगा। इसमें कभी सन्देह मत करना।

सन्त कहते हैं कि देखो ! तुम्हारे पास शरीर है और तुम्हारे परिपार्श्व में संसार दिखता है। उस शरीर और उस संसार को आज तक तुम पकड़कर रख नहीं सके, लेखिक भूल से तुमने, मरे हुए कुटुम्बियों की ममता को अपने अन्दर रख लिया। कुटुम्बी चले गए और उनकी ममता तुम्हारे भीतर रह गई, उनकी आसक्ति तुम्हारे भीतर रह गई। सरकार का दिया हुआ बड़ा भारी पद मिला था। सरकार ने उसे आपस ले लिया। पद चला गया, लेकिन उस पद के अभिमान की बू, अभी तक भीतर है। जब बातचीत होती है तब रिटायर्ड व्यक्ति अपना परिचय देते हैं कि पहले हम अमुक पोस्ट पर काम करते थे। श्री स्वामी जी महाराज कभी मौज में होते तो ऐसे ही पुकारते– आओ राय बहादुर साहब , आओ मजिस्ट्रेट साहब, आओ जज साहब– ऐसे करके सम्बोधित करते और फिर उसके बाद खूब

हँसते ओर कहते कि देखों भाई, अगर तुम्हारे भीतर पद की आसक्ति रह गई है थोड़ी बहुत, तो मैं इसी पद के सम्बोधन से पुकार रहा हूँ। अब से राग–निवृत्त हो जाओ।

संसार आज तक किसी की पकड़ में नहीं आया, परन्तु संसार की आसक्ति, अपने भीतर रखकर व्यक्ति फँस जाता है। संसार सदा ही छूटा हुआ है, फिर हम किसमें फँस गए हैं ? संसार में नहीं फँस गए हैं। हवा किसी को नहीं पकड़ती है, धरती किसी को नहीं पकड़ती है समाज किसी को नहीं पकड़ता है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं। उसमें कर्तापन है ही नहीं। मैंने अपनी भूल से अपने भीतर, संसार की ममता–कामना को रख लिया, तो मैं स्वयं फँस गई हूँ। अब प्रियजनों का वियोग सता रहा है। अब सुख–सुविधाओं का निकल जाना सता रहा है। यह सब हो रहा है।

यह तो हो गई बीमारी की बात। इसको अब छोड़ दिया जाए। उसका इलाज यह है कि संसार की ममता और कामना का त्याग कर दिया जाए। जिसको जीवन में ऐसा अचल आधार चाहिए कि जिसका आश्रय लेकर व्यक्ति सदा सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय हो सके, उसको आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर, इस सत्य को स्वीकार करना चाहिए कि परमात्मा है, सदा के लिए है, सभी के लिए है, अपने में है, अभी है, और अपना है। परमात्मा है एक बात हो गई। सदा के लिए है, सर्वत्र है। सभी के लिए है, अपने में है, अपने हैं, अभी हैं हर वाक्य का बड़ा भारी अर्थ हैं, लेकिन उसकी व्याख्या किसी दूसरी बैठक में होगी।

अभी तो केवल उस पथ का प्रतिपादन करना है मुझे। विश्वास पथ के साधकों के लिए भी बहुत ही सहज बात है कि वे अपने जीवन की आवश्यकता को देख कर सन्तों, भक्तों और सद्ग्रन्थों के वाक्यों में विश्वास करके उस परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लें इस तरह से दो भाग हो जाऐंगे। एक यह कि शरीर संसार के काम आ

जाएगा। और दूसरा यह कि स्वयं "मै" परमात्मा के प्रेम के रूप में बदल जाएगा। इस प्रकार बहुत ही सहज से, जो नहीं है उसका प्रभाव अपने में से निकल जाता है, और जो सदा–सदा से अपने में विद्यमान है उसकी सरसता, उसकी मधुरता, अपने में भर जाती है। जो संसार का है, वह संसार से जुट जाएगा। और जो परमात्मा का है, वह परमात्मा से अभिन्न हो जाएगा। लौकिक आनन्द भी हो गया और पारलौकिक आनन्द भी हो गया। शरीर को जो चाहिए, वह अपने को मिल गया। देखो ! अपने को क्या चाहिए ? अपने को परम प्रेम की मधुरता चाहिए। अपने को अनन्त रस चाहिए। जो अपने हृदय में परम प्रेम की आवश्यकता अनुभव करते हैं, वे रस के लिए संसार की ओर नहीं देखते हैं। इस बात को स्वीकार करने के लिए गुफा में नहीं घुसना होगा, आकाश में नहीं उड़ना होगा। अभी यहीं बैठे–बैठे आप इस सत्य को स्वीकार कर सकते हैं।

सत्य जो होता है, वह जगत् के अधीन नहीं होता है। बड़ा भारी भ्रम है कि जब सत्य की याद आती है, तो आदमी सोचने लगता है कि अब हिसाब बन्द करो। अब दुकान बन्द करो। परिवार से छुट्टी माँगो। सत्य का जो प्रश्न है उसमें आदमी को पराधीन नहीं बनाया गया है। उसके लिए किसी परिस्थिति विशेष की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है।

आप कैसे सोचते हैं कि भूखे रहने की ताकत आएगी, तब सत्य खोजेंगे। नंगे रहने की शक्ति आएगी, तब सत्य खोजेंगे। भूखा–नंगा रहना शरीर धर्म है स्वधर्म नहीं है ! शरीर धर्म से सत्य बँधा नहीं है। सत्य किसे मिलना चाहिए? शरीर निरोग हो तो उसको मिलना चाहिए और बीमार हो तो मिलना चाहिए। जिसके पास धन–सम्पत्ति हो, उसको भी मिलना चाहिए और जिसके पास धन सम्पत्ति नहीं हो, उसको भी मिलना चाहिए। आप सोचिए तो सही ! जगत् में विषमता हो सकती है, लेकिन सत्य के साम्राज्य में विषमता कैसे हो सकती है,

इस प्रकार ये दो बातें आयी सामने और आपके अनुभव के आधार पर आयीं। शरीर को हम संसार से बाहर नहीं ले जा सकते। इसके द्वारा संसार की जो सेवा करनी है, करते रहो। जब तक शरीर मिट कर संसार में समा न जाये, तब तक करते रहो। लेकिन अपनी जरूरत है अशरीरी आनन्द की, परम स्वाधीनता के आनन्द की, परम प्रेम–रस की।

शरीर की जरूरत ज्यादा नहीं है। अपने भीतर संग्रह के दोष ने शरीर की जरूरतों को इतना भारी भरकम बना दिया कि अपने लिए फुर्सत ही नहीं है। शान्ति, मेरी अपनी माँग है। स्वाधीनता का आनन्द, मेरी अपनी माँग है। परमात्मा का प्यार मेरी अपनी माँग हे। लेकिन माँग पूरी करने के लिए फुर्सत ही नहीं है। यह अपनी भूल आपकी दृष्टि में आ रही है या नहीं ? इसको इसी जगह पर बैठे–बैठे मिटा सकते हैं। जीवन बड़ा आसान हो जाएगा। झंझट इतना कम हो जाएगा कि भीतर का आराम, आपको बहुत बलिष्ठ बना देगा। प्रयोग करके देखो।

इस सत्य को स्वीकार करके, जीवन में से शरीर का महत्त्व निकाल दो, वस्तुओं का महत्त्व निकाल दो। ये सब महत्त्व की बातें नहीं है। अपने दोषों को मिटाने के लिए, शरीर और संसार की वस्तुओं को सेवा में सदुपयोग करने का दायित्व अपने पर आ गया है। अगर हमने शरीर और संसार को महत्त्व न दिया होता, तो यह भी दायित्व अपने पर नहीं आता । अपने सामने दायित्व आ गया है कि संग्रह की हुई सम्पत्ति को निर्बलों की सेवा में लगाना जरूरी हो गया । धन के लोभ और संग्रह की बीमारी को मिटाने के लिए यह इलाज सामने आ गया। अगर मुझमें आसक्ति नहीं होती, तो मेरे सामने सेवा की परिस्थिति भी नहीं आती। हम पहले ही उसके पार होते।

श्री महाराज जी कहते हैं कि जल्दी जल्दी बहती गंगा में हाथ धोकर शुद्ध हो जाओ। धन आए तो आदर करके स्वागत कर लो।

धन–सम्पत्ति, चीज, सामान जो परमात्मा ने पैदा की है, वह बुरी चीज नहीं है। आए तो आदर करके ले लो। लेकिन अपने लिए रखने की मत सोचना, नहीं तो फँस जाओगे। जिसके लिए है, उसको देते जाओ। खुले हाथ से देते जाओ। बीमारी का इलाज हो जाएगा। निर्लोभ हो जाओगे। दुनियाँ से जाने से पहले शरीर और संसार तुम्हारे भीतर से निकल जाएगा। बहुत आराम मिलेगा। धन के ज्यादा और कम होने का अन्तर नहीं होता है। कोई पाँच रुपए में भी फँस जाता है, कोई पाँच अरब में भी नहीं फँसता। कम ज्यादा की बात नहीं है। बात फँसावट की है।

किसी समय मेरे ध्यान में आया कि दुनियाँ में अपना कहलाने लायक कोई दिखता ही नहीं है। महाराज जी से मैंने आकर कहा कि महाराज जी! इस संसार में यहाँ कोई अपना कहलाने लायक दिखता नहीं है और बिना किसी को अपना बनाए रहा नहीं जाता है, तो क्या करें? श्री महाराज जी ने कहा, देवकी जी! एक तो है मेरा मित्र, एक तो है जो सदा–सदा के लिए तुम्हारा होकर रहता है। लाली! तुम भूल गई हो। अब तुम पसन्द करो, तो मैं उससे सगाई करा दूँ। मैंने कहा, हाँ महाराज कराइये। बिना लगन के कौन रहता है ! अपने प्रेम का आधार अवश्य चाहिए। अतः जब मैंने 'हाँ' किया तो कठिन प्रश्न सामने आ गया। कहने लगे कि लाली ! एक काम करना पड़ेगा। झोली में जो तुमने भर कर रखा है– डिग्री का अभिमान, धन का अभिमान, कुटुम्बी–जनों का सहारा और सच्चरित्र व्यक्तित्व और कर्त्तव्य–निष्ठ होने का अभिमान, जितना तुमने झोली में भरकर रक्खा है, सब पहले झाड़ दो। पहले झोली को खाली कर दो, तब मैं सगाई की बात करूँ।

संत के कहने से मैंने मान लिया हो, ऐसा नहीं लगता है। लेकिन मेरे भीतर का प्रश्न इतना उग्र था कि संत को करुणा आ गई भगवंत को करुणा आ गई और दोनों ने मुझको सँभाल लिया, ऐसा मेरा विश्वास है। यह उदाहरण है किस बात का ? इस बात का कि या तो

तुम अपने अनुभव के आधार पर असत् को अस्वीकार करके अकेले हो जाओ, तब तुम्हारे भीतर वह आनन्द प्रकट हो जाएगा अथवा तुम्हारे पास जो कुछ है, वह सब विश्वास करके, उस परमात्मा के समर्पित कर दो और उसको अपना मान लो। उसी को जीवन का आधार बनालो तो उसका परम प्रेममय रस जो है, वह तुम्हारे भीतर प्रकट होकर सारी थकान मिटा देगा। सब विकारों को धो देगा। जन्म जन्मान्तर से जो अहं का एक आभास अपने पर लदा रहता है, उसको मिटा देगा। और सब प्रकार के भव–रोगों से मुक्त करके, अपने प्रेममय रस से तुमको भरपूर कर देगा। यह जीवन का एक क्रम है। एक Method है। इस ढंग से शुरू करो। गुरु वाणी में विश्वास कर लो, वेद वाणी में विश्वास कर लो, गीता रामायण के वाक्यों में विश्वास कर लो। सन्तों–भक्तों के वाक्यों में विश्वास कर लो। बिना विश्वास किये उस सत्य की स्वीकृति अपने को प्रभावित नहीं करती है। विश्वास करना जरूरी है। क्योंकि जीवन की आवश्यकता बताती है कि, बिना किसी अविनाशी आधार के, बिना प्रेम के, बिना सगाई के, बिना लगन के जीवन कोई जीवन ही नहीं मालूम होता है।

संसार में अपना कहने लायक कुछ है नहीं और जो अपने लायक है, वह ऐसा विलक्षण है कि लौकिक कल्याण भी करा सकता है, अपना ही रस देकर हमको रसमय बना सकता है। वह सेवक हो सकता है, स्वामी हो सकता है, पुत्र हो सकता है, पिता हो सकता है ओर शिष्य भी हो सकता है।

तुलसीदास जी ने कहा है–"मोहि तोहि नाते अनेक, 'मानिए जो भावै"।

हमारी ओर से जो सम्बन्ध उनके प्रति पसन्द किया जाता है, वह उनको इतना प्रिय है कि वे सब स्वीकार कर लेते हैं। सब प्रकार से भरपूर कर सकते हैं। संसार की नश्वरता का परिचय एवं अविनाशी के प्रेम की प्यास, ये दोनो ही बातें मनुष्य जीवन में है। सत्संग में आने

से आप में ये बातें पैदा नहीं हुई, पहले से ही थीं। सन्तुष्टि के बिना असन्तोष का भार ढोना किसी भी सजग व्यक्ति को पसन्द नहीं है। यह बात मेरे कहने से मालूम हुई कि पहले से आप जानते हैं ? पहले से जानते हैं।

मैं मन ही मन सोचती हूँ कि प्रभु ने कितनी कृपा की है तुम पर, प्रतिकूलता के रूप में दर्शन दिया है। तुम्हें तो जल्दी जल्दी साधना में लग जाना चाहिए। अनुकूलता में तो आदमी थोड़ा शिथिल भी हो जाता है, प्रतिकूलता में तो और जोरदार चेतना जग जाती है। साधना के प्रतिकूल संसार बन जाए, यह सम्भव नहीं है। साधना के लिए मेरी परिस्थिति नहीं है, इस बात को सदा के लिए भूल ही जाओ, निकाल ही दो जीवन में से। संसार कभी साधना के लिए बाधक नहीं हो सकता। प्रतिकूलता कभी आपको परमात्मा से दूर नहीं कर सकती। किसी संत के मुख से मैंने सुना है कि बच्चे को गोद में लेना हो, दूध पिलाना हो, खाने का समय हो गया, दूध पीने का समय हो गया, खिलौनों में बहुत उलझा हुआ है तो करुणामयी माँ क्या करती है ? आकर के जल्दी–जल्दी उसके सामने से खिलौने हटा देती है, और वह रोता है, चिल्लाता है, पर माँ बच्चे को उठाकर चली जाती है। तो बहुत बार वे परम हित–चिन्तक हमारे आपके परम् हितैषी हमको अनुकूलता के सुख में फँसा हुआ देखकर, अनुकूलता के खेल तमाशे एक सेकिण्ड में बिगाड़कर रख देते हैं।

मैं क्या बताऊँ, जितना जितना ही मैं सृष्टिकर्ता से नाराज थी, उतना ही उन्होंने मुझे अपना प्रशंसक बनाया। मेरी हार को गई, उनकी जीत हो गई। हमारी शिकायत खत्म हो गयी। जैसे–जैसे जीवन का सत्य प्रकाशित होता चला जाता है, आँखों के सामने से अंधकार का पर्दा हटता चला जाता हे, उतना ही अधिक उनकी महिमा, उनकी करुणा से मेरा जीवन अभिभूत होता जाता है। मैं सोचती हूँ, कितनी कृपा है तुम्हारी। कितना रस है तुम्हारे में। कितना

हित–चिन्तक है मेरे लिए। बड़ा बढ़िया जीवन है।

आप मानव–जीवन की इस महिमा को स्वीकार कर ही लीजिए कि जीवन दाता ने हम लोगों को अनन्त आनन्द और परम प्रेम के लिए परिस्थितियों पर आश्रित नहीं किया है। मान ही लो इस बात को। और अगर किसी को संदेह लगे तो आइए, बैठकर विचार–विमर्श कर लें। संदेह है नहीं । यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि असाधन काल में जो हमारी दशा रहती है, वह भूल का परिणाम है। सत्संग के प्रकाश में, इस भ्रम का निवारण हो जाता है। आप देखिए, असाधन काल में क्या था कि नित्य विद्यमान परमात्मा अपने से बहुत दूर मालूम होता था और जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं हैं, वह संसार अपने निकट मालूम होता था। उस भ्रम के निवारण के बाद अब क्या हो गया? नाशवान का प्रभाव अपने पर से उतर गया और नित्य विद्यमान परमात्मा की विद्यमानता, अपने अनुभव में आ गई। उनके प्रेम का रस जीवन में प्रवाहित हो गया तो यह मानव जीवन की सफलता है।

अब शान्त हो जाएँ।

(93)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो,

मानव जीवन की सफलता इस बात में है कि हमारा सूपूर्ण व्यक्तित्व, सेवा, त्याग और प्रेम से भरपूर हो जाए। 'सेवा' शब्द का अर्थ क्या है ? मानव सेवा संघ की प्रणाली में सेवा का अर्थ है – दुःखी मात्र को देखकर करुणित होना और सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न होना। इसको सेवा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप बताया गया है। दुःखी मात्र को देखकर करुणित होने से साधक को अपनी साधना में आगे बढ़ने में बहुत मदद मिलती है। इससे क्रियात्मक सेवा तो बनेगी ही, परन्तु एक बहुत बड़ा उपकार यह होगा कि जो भी कुछ थोड़ा बहुत आप कर

सकते हैं उस व्यक्ति के लिए, वह तो करेंगे ही, लेकिन उसमें आपकी जो भावना होगी, वह बहुत व्यापक होगी और उसका एक सहज परिणाम यह होगा कि यदि आप दुःखी का दुःख दूर नहीं भी कर सकते हैं तो भी आपके भीतर जो करुणा जागती है, उस करुणा से पीड़ित होकर कोई सामर्थ्यवान आ करके उसकी सहायता कर देगा। यह बिना किसी से कुछ कहे सुने चुपचाप अपने आप होता है। बहुत विचित्र बात है।

ऐसी सूक्ष्म सेवा के ढंग पर सब किसी का ध्यान नहीं जाता है। हम लोग सोचते हैं कि दुःखी को देखकर करुणित होने मात्र से क्या होगा ? इससे उसका पेट थोडे भर जाएगा, यदि वह भूखा है तो। इससे उसकी प्यास नहीं मिट जाएगी, यदि वह प्यासा है तो। हम लोग ऐसा सोचते हैं कि खाली करुणित होने से क्या होता है ? लेकिन यह प्रकृति का बड़ा अनुपम विधान है कि सचमुच किसी का दुःख यदि आपके दिल में ऐसा भर जाय कि उसको आप अपना दुःख करके मानने लगें तो आप सामग्री से सेवा भले ही कुछ कर पाएँ अथवा न करपाएँ, आपके दिलों में दूसरे की पीड़ा जब घर कर जाएगी, उससे करुणा का रस जब उपजेगा, तो उस करुणा में इतनी शक्ति है कि वह किसी सामर्थ्यवान को पकड़ लाएगी। सचमुच आपके दिल में दर्द है, तो वह दर्द ही काफी है किसी सामर्थ्यवान को प्रेरित करके वहाँ ले आने के लिए, और दुःखी की मदद करवाने के लिए। इतना बड़ा रहस्य है पर–पीड़ा से पीड़ित होने का।

हम लोगों का ध्यान इस बात पर नहीं जाता है। हम लोग, वस्तु से किसी की मदद करने को बड़ी बात समझते हैं और अगर वस्तु से मदद नहीं कर सकते, तो अपने को असमर्थ समझते हैं। मानव–सेवा–संघ की प्रणाली में स्वामी जी महाराज ने अपने अनुभूत सत्य को रखा है और महाराज जी के मुँह से ही मैंने ऐसा सुना और ऐसा करते हुए देखा भी है, केवल सुना ही नहीं है। मध्य प्रदेश से एक परिवार स्वामी जी

से मिलने के लिए आया। रात के नौ बजे होंगे। मैंने उनको बैठाया और हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि माताजी, स्वामी जी महाराज के आराम करने का समय हो गया है। कृपा करके आज आप चले जाइए, कल सवेरे आइएगा, तो भेंट हो जाएगी अब वह महिला रोए ही रोए। जाने को राजी ही नहीं। भनक स्वामी जी के कान में पहुँच गई झट से उन्होंने बुलवा लिया अपने पास। क्या जाने घण्टा भर उन लोगों ने क्या क्या अपना दुःख सुनाया, मुझे कुछ नहीं पता। चली गई सुना करके, दस सवा दस हो गए होंगें उसके बाद सब लोग लेट गए, स्वामी जी भी लेट गए।

थोड़ी देर के बाद मैंने देखा कि स्वामी जी बार–बार उठकर बैठ रहे हैं; माताजी से मैंने धीरे से कहा कि मैं स्वामी जी से पूछूँ कि क्या हो रहा है ? क्यों उठकर बैठ रहे हैं ? वे मुझसे ज्यादा जानती थी, स्वामी जी को। उन्होंने कहा कि नहीं नहीं, कुछ मत कहो, चुप रहो, तुम, चुपचाप लेट जाओ। स्वामी जी को टोको मत। किसी ने कुछ दुःख सुनाया होगा, उसके दर्द से व्याकुल होंगे; तुम मत बोलो। बोली तो नहीं मैं, माता जी ने भी कुछ नहीं कहा। लेकिन स्वामी जी को इस तरह से व्याकुल देखकर, मुझे नींद नहीं आ रही थी। बहुत देर तक ऐसे ही हुआ। फिर उठने का समय हो गया। यों रात कट गई।

दूसरे दिन नौ बजे सवेरे, दिन में वही परिवार आया स्वामी जी के पास और वे लोग बता कर गए कि महाराज । हम लोगों का काम हो गया। यह करुणा का प्रताप मैं बता रही हूँ आपको। दूसरे दिन जब वे आए तो फिर और दुःख सुनाने या मदद लेने नहीं आए। बड़े इत्मिनान से आश्वस्त हो करके आए और महाराज जी से बोले कि महाराजजी, हम लोगों का काम हो गया।अब हम लोग वापिस जा रहे हैं और चले गए वापिस। उस समय तो नहीं, लेकिन किसी दूसरे अवसर पर मैंने महाराज जी से पूछा कि महाराज जी क्या होता है ? तब उन्होंने पहले अपनी तकलीफ बताई और उसके बाद साधक के

जीवन में, पर–पीड़ा का घर कर जाना, दूसरे की पीड़ा उसको अपनी पीड़ा महसूस होने लगे– इस बात की महिमा बताई। बाहरी लाभ तो यह हो गया कि जिस व्यक्ति की पीड़ा से आप दुःखी हो गए हैं, उसकी किसी सामर्थ्यवान ने मदद कर दी और उसका काम बन गया। यह बाहरी लाभ हुआ। और आन्तरिक लाभ क्या होता है ? कि जिस साधक के जीवन में करुणा का रस उद्वेलित होता है, उस साधक के व्यक्तित्व में से, जन्म जन्मान्तर से जमी हुई सुख–भोग की वासना का नाश होता है। बहुत बड़ी बात है। कितना व्रत करेंगे हम लोग, कितना उपवास करेंगे, कितना इन्द्रियों का दमन करेंगे, कितना जबरदस्ती भजन–पूजन करके, उसको जबरदस्ती दबाने की चेष्टा करेंगे। उससे वह काम नहीं बनता, जो काम पर–पीड़ा से पीड़ित होने के कारण, हृदय में जब करुणा उपजती है, तब हो जाता है। अब आप सोच करके देखिए कि यदि किसी दुःखी का दर्शन हुआ आपको, तो उसको लाभ ज्यादा हुआ कि अपने को लाभ ज्यादा हुआ ? जी ? अपने को लाभ ज्यादा हुआ।

साधक के जीवन की बात क्या है ? कि उसे सेवा का व्रत तो लेना ही पड़ेगा। उसके बिना तो जान बचेगी नहीं। उसके बिना राग मिटेगा नहीं। लेकिन उस सेवा में क्रिया का महत्त्व जितना है, उससे कहीं अधिक भाव का महत्त्व है। पीड़ित अगर आपको अपने से छोटा मालूम होता है और आपको ऐसा लगे कि मैं तो भाग्यशील हूँ, परमात्मा ने मुझको सामर्थ्य दी है, तो दीन दुःखी की सेवा करो। अपनी अपेक्षा कोई दीन दिखाई दे रहा है, तो आपकी सेवा का फल वह नहीं होगा जो होना चाहिए। क्योंकि किसी को दीन समझा, तो इसका मतलब यह है कि आपको अपने में समर्थ होने का अभिमान है। कितनी सूक्ष्म बात है। स्वामी जी महाराज धनवान लोगों से कहते थे कि अगर तुमको अपने पैसे का महत्त्व मालूम होता है और दूसरा कोई तुमको दरिद्र, दुःखी दिखाई देता है और अपने से छोटा समझ कर उसकी

मदद करते हो, तो तुम्हारे में धन का अभिमान बढ़ेगा और उस गरीब में धन का लोभ बढ़ेगा।

अभिमानी व्यक्ति जब किसी की सेवा करता है, सेवा शब्द का प्रयोग ही नहीं करना चाहिए। बल का अभिमानी और धन का अभिमानी किसी को कुछ देता है, मदद करता है अभिमान के साथ, तो उसके अभिमान के कारण उसकी वस्तु को लेने में दूसरों में दीनता उत्पन्न होती है ; अपनापन उत्पन्न नहीं होता , अपनेपन के भाव की वृद्धि नहीं होती। तो क्या हो गया? शरीर की तो उसकी रक्षा हो गई, आपने भूखा समझ करके खाना पहुँचा दिया, तो शरीर का तो पोषण मिल गया, लेकिन उसका मन बहुत भिखारी बन गया। स्वामी जी महाराज ने इस सेवा को बहुत बड़ी कुसेवा बताया। सोचने की बात है। कुसेवा क्यों? एक कुसेवा तो मैंने अपनी की कि अभिमान पाला अपने में और दूसरी कुसेवा उस व्यक्ति की की जिसके मन के भीतर दीनता आ गई Inferiority आ गई। घनी को देखकर के, ईर्ष्या आ गई, तो अपना भी अपकार हो गया। उसका भी अपकार हो गया। बड़ी सोचने की बात है, बहुत समझ– बूझकर चलने की बात है।

साधक के जीवन में सेवा चाहिए और जो सेवा करने चलता है, उसको अपनी सेवा पहले करनी चाहिए। अपनी सेवा क्या करोगे? मानव सेवा संघ ने सलाह दी है कि अपनी सेवा पहले यह सोच कर– करलो कि मिली हुई सामर्थ्य मेरी नहीं है। तन में बल मिला है, तो मेरा नहीं है। हाथ में पैसे मिले हैं, तो मेरे नहीं है। संगी साथी मिले हैं, तो मेरे नहीं हैं। किसके हैं ? भौतिकवादी हो तो अपने को ऐसे समझा लो कि जिनको उसकी जरूरत है, ये चीजें उसकी हैं। तो जिसकी वस्तु है, उसको देने में किसको अभिमान आएगा। आपकी वस्तु है, आपको मैं देना चाहती हूँ तो जितनी जल्दी आप ले लेंगे, उससे मुझे बड़ा हर्ष होगा। और जब तक आप उसको ले नहीं लेंगे तब तक उसकी सुरक्षा का दायित्व मुझ पर रहेगा। तो दे देने में आदमी ऋण–मुक्त हो जाता

है। भौतिकवादी हैं, तो ऐसा मानिए। धन किसका है ? जिसको उसकी जरूरत है, उसका है। शरीर का बल किसका है ? जो निर्बल है, जिसको उसकी जरूरत है, उसका है। यह साधक का जीवन है।

धन के बल पर, शारीरिक बल के आधार पर, जो अहम् का पोषण करना चाहता है, जो जन–समाज में जय जयकार सुनना चाहता है, वह तो साधक की सूची में है ही नहीं। एक सज्जन मेरे पाए आए, मानव– सेवा–संघ के परिचित हैं। स्वामी जी महाराज के पास बहुत आते थे और दूर से शरीर के सम्बन्ध से रिश्तेदार भी लगते हैं, तो आए मेरे पास और कहने लगे कि मेरी माता जी का देहान्त हो गया है, तो उनकी भावना बड़ी परोपकार की थी, मैं इतना–इतना धन माताजी के हित के लिए परोपकार में लगाना चाहता हूँ। आप मुझे सलाह दीजिए कि कहाँ लगाऊँ ? तो मैंने कहा कि भैया, अन्य संस्थाओं को तो मैं जानती नहीं हूँ और मुझसे पूछने आए हो तो मैं मानव–सेवा–संघ का नाम लूँगी। मानव–सेवा–संघ में रोगी–सेवा है, बालक–सेवा है, गऊ–सेवा है, साधक–सेवा है, जिस विभाग में चाहों तुम चाहो जितना दे दो, और मैं तुमको विश्वास दिलाती हूँ कि सदुपयोग होगा, दुरुपयोग नहीं होगा। यह कह दिया मैंने। जो तुम्हारी भावना हो रोगी की सेवा करना चाहों, तो मेरे पास अस्पताल है। बच्चों की सेवा करना चाहो, तो बाल–मन्दिर है। गऊओं की सेवा करना चाहो, तो गऊशाला है। साधकों की, सन्तों की सेवा करना चाहो, वह भी मेरे पास है। जिस विभाग में देना चाहो, दे दो। मैं विश्वास के साथ कहती हूँ, दुरुपयोग नहीं होगा। जो साधक सेवक यहाँ बैठे हैं, वे खायेंगे नहीं जिस भाव से दोगे, उसी सेवा में लगा देंगे।

थोड़ी देर वे सज्जन सोचते रहे सोचने के बाद कहने लगे कि आपकी संस्था तो इतनी विशाल है कि उसमें मैं कितना भी दे दूँ, तो उसमें जाकर घुलमिल कर खत्म हो जाएगा तो मेरा माँ के नाम पर अलग कुछ दिखाई तो नहीं देगा। मैंने कहा सो तो नहीं होगा, यह तो

हमारी विशाल सेवा है। और यहाँ तो सेवा करने वाले का हित देखकर स्वामी जी महाराज ने, ऐसी प्रथा बढ़िया बना दी है कि कोई लाख–करोड़ भी दे जाए और कोई एक पैसा दे जाए, तो दूसरों के मन पर अन्तर का कोई आधार नहीं है। कुछ नहीं पता चलता है कि किसने क्या दिया है, और दाता का इसी में हित है। तो कहा कि तब वैसे मैं नहीं करूँगा। मुझको तो कुछ ऐसे करना है कि उसे अलग से संस्था के लोग सँभालें भी, उसको काम में भी लाएँ और अलग से मेरी माता जी का नाम भी रहे और दिखाई भी दे, कि हाँ ! माँ के बेटे ने ऐसा किया है। तो मैंने कहा कि ऐसा मानव–सेवा– संघ में नहीं हो सकता। जहाँ हो सकता है, वहाँ जाओ भाई ! करो। मानव सेवा संघ की प्रणाली में कोई भी साधन जो हम लोगों के सामने रखा गया, वह वस्तु को दृष्टि में रखकर नहीं किया गया। वस्तु का महत्त्व नहीं है। वस्तु तो आज आपके पास है और कल किसी और के पास जाएगी। अगर आप हर्षपूर्वक निरभिमानी होकर, ममता, लोभ छोड़ कर सेवा में नहीं लगायेंगे, तब भी वस्तु अपके साथ जाने वाली नहीं है। सदा के लिए आपके पास रहने वाली नहीं है। वह आप खुशी से दे दो तो, और खुशी से ना दो तो, जबरदस्ती छूटेगी जरूर। रहेगी नहीं आपके पास।

तो स्वामी जी महाराज ने क्या कहा ? सेवा का अधिकारी कौन है ? जो सबसे पहले वस्तु की ममता को छोड़ सके, वह सेवा का अधिकारी है और उस सेवा का फल क्या होता है कि उसके अपने जीवन में से राग की निवृत्ति हो जाती है। और ऐसे राग निवृत्ति का साधन करने वाला सेवक जब किसी की सेवा करता है, तो उस सेव्य में सेवा की पवित्र भावना जग जाती है। यह कसौटी है कि हमने ठीक सेवा की। सेवा करने वाले में राग की निवृत्ति हो जाए और जिसकी सेवा की जाए, उसमें सेवा भाव जग जाए, तब तो समझना चाहिए कि मैंने ठीक सेवा की और सेव्य में यदि लालच पैदा हो गया, तो इसका मतलब है कि मैंने ठीक सेवा नहीं की। शरीर के द्वारा सेवा करो तो, धन के द्वारा सेवा करो तो, जिसकी सेवा की गई उसमें विलासिता पैदा

हो जाए, उसमें यह लालच पैदा हो जाए कि यह तो बड़े उदार पुरुष हैं, जितना इनसे निकल सके, निकाल लो, इस तरह का स्वार्थ और विलास पैदा हो जाए तो सेवक को धीरज रखकर, अकेले में बैठ करके सोचना चाहिए कि मेरी सेवा की वृत्ति में कहीं कोई गलती हो गई जरूर। मैंने दोनों तरह के उदाहरण जीवन में देखे। महाराज जी के पास आने से मैं समाज की सेवा करने की भावना रखती थी। इस बात का बड़ा आभास था अपने में। उस समय भी मैंने करके देखा। असाधन काल में की गई सेवा से, जिसकी सेवा की मैंने, उसमें अधिकार लालसा पैदा हो गई। यह मेरी अपनी जानी हुई बात है, महाराज जी के सम्पर्क में आने से पहले की। शौक होता है ना व्यक्ति का, सुख भोगने का दरवाजा बन्द हो गया विधान से, तो सेवा करके समाज में नाम कमाने का शौक पैदा हो गया। एक सीढ़ी ऊपर है सही, लेकिन है तो व्यक्तित्व की पूजा ही। तो जो मुझे सूझा सो मैंने किया और जिसके लिए किया उसका चौपट हुआ, क्योंकि उसमें अधिकार लालसा जग गई।

महाराज जी की वाणी जो है, उसमें इतना सत्य है, इतना सत्य है कि जिसको चाहिए वह प्रयोग करके देखे। मैंने किसी को कहा कुछ नहीं, कभी नहीं कहा, लेकिन जिस धन का अभिमान मुझमें था, उस अभिमान युक्त वस्तु से सेवा करने पर सेव्य में अधिकार लालसा जग गई और महाराज जी के समझाने से, उनकी सलाह से कमाई हुई सम्पत्ति को अपना मानने की भूल छूट गई तो उसका कुछ दूसरा ही फल दिखाई देने लग गया। उसका कुछ दूसरा ही परिणाम दिखाई देने लग गया। तो यह बात बिल्कुल सत्य मैं आपकी सेवा में निवेदन करती हूँ कि किसी भाई को, किसी बहन को, किसी दुःखी की मदद करने का जी में आए, तो पहले उस वस्तु की ममता तोड़ो, जिस वस्तु से सेव्य की सेवा करनी है। उसी की मानो, चाहे परमात्मा की मानो। अपनी मानकर किसी को कुछ मत देना। न देने से उतनी हानि नहीं होगी, पर ममता की हुई वस्तु देने से दूसरे की ज्यादा हानि होगी।

पहले अपनी सेवा कर लें हम लोग। प्राप्त सामग्री मेरी नहीं है। प्राप्त सामग्री मेरे लिए नहीं है। जो लेने के लिए मेरे सामने खड़ा है, उसने मुझ पर बड़ा उपकार किया है। ऐसा मानो और नहीं तो प्रभु की लीला ऐसी अपरम्पार होती है कि आप अपने अभिमान को पालने के लिए किसी को कुछ देना चाहते हैं, तो दूसरे में न लेने का भाव पैदा हो जाता है। अपना सा मुँह लिए आदमी रह जाता है। आप देना चाहते हैं जिसको, वह इन्कार करता है। नहीं–नहीं, मुझे नहीं चाहिए। तो जो देने का अभिमान लेकर चला है उसके अभिमान को बड़ी ठेस लगती है। मेरे वश की बात नही है, कि मैं देना चाहूँ तो कोई ले ही ले। इसलिए अगर कोई लेने के लिए आपके पास आ गया है दैवयोग से, तो उसको छोटा समझकर मत दीजिए। उसको नीच समझकर मत दीजिए। ऐसा सोचिए कि मैं साधक हूँ, वस्तुओं का मैं करूँ क्या ? अगर इसका अधिकारी अपने आप मेरे पास इसको लेने आ गया है, तो भीतर भीतर जीवन दाता जन्मदाता, सामर्थ्यदाता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके, वस्तु दीजिए। तो वस्तु का महत्त्व बहुत थोड़ा होगा और निराभिमानता पूर्वक की हुई सेवा का महत्त्व बहुत बड़ा होगा। मानव–सेवा–संघ ने इसको सेवा कहा है। दुःखी मात्र को देखकर करुणित होना, सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न होना। तो दुःखी को देखकर करुणित होने की अपेक्षा, सुखी को देखकर प्रसन्न होना और महँगा पड़ता है।

साधक को इसके बारे में भी थोड़ा सोचना चाहिए। क्यों ? क्यों कि दुःखी को देखकर करुणित होने में, अपना मूल्य बढ़ता है। व्यक्ति को अच्छा लगता है, शान्ति मिलती है भीतर से। थोड़ी ही सामग्री है तो क्या, अगर किसी को जरूरत है तो देकर के हृदय शीतल होता है। अच्छा हुआ, अच्छी जगह में पहुँच गयी। अच्छा हुआ अमुक व्यक्ति को दुःख में यह सामग्री काम आ गई। तो इसमें व्यक्ति को थोड़ी भीतर से शीतलता मालूम होती है। अच्छा लगता है लेकिन जब अपने से ऊँची परिस्थिति वाले को देखो और देखकर दिल में ईर्ष्या पैदा न हो

तो उस शुद्ध हृदय में ईश्वर का ईश्वरत्व प्रकट होता है। सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न हो जाए, तो यह शुद्ध चित्त की निशानी है और सुखी को देखकर जलन पैदा हो जाए या अपने में हीनता का भाव पैदा हो जाए तो यह अशुद्ध चित्त की निशानी है।

मानव सेवा संघ की प्रणाली में, सेवा के अर्थ में दोनों पक्ष बताये गए। दुःखी को देखकर करुणित होना और सुखी को देखकर प्रसन्न होना। करुणित होना जितना आवश्यक है, प्रसन्न होना उससे अधिक आवश्यक है। उसमें व्यक्ति का बड़ा विकास होता है और आप देखोगे कि जिन लोगों के दिल में सुख की वासना नहीं है, वे सुखी को देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं। छोटे छोटे जानवर के बच्चे कुत्ते, बकरी, गाय के बच्चे, माँ के पास खेल–कूद रहे हैं। बड़ा आनन्द आता है ; उनको देखकरके बड़ी खुशी होती है। बड़ा मजा आता है। और दिल में किसी प्रकार की सुख की वासना दबी हुई हैं वासना के कारण जिसका चित्त अशुद्ध है, उसको सुखी देखकर प्रसन्नता नहीं होती। सुखी को देखकर, उसमें दोष–दर्शन होने लगता है अच्छा, ये इतने अच्छे कपड़े पहनते हैं, ऐसे चलते हैं, ऐसे खाते हैं, ऐसे बात करते हैं तो और कोई भी बुराई आप नहीं करेंगे, बड़ी सज्जनता का व्यवहार करेंगे, तब भी सुखी के सुख ने, जो आप में एक हीनता पैदा की, उस हीनता की प्रतिक्रिया में उस सुखी व्यक्ति में दोषों का दर्शन होने लगता है और सामने नहीं, तो पीछे आलोचना करता है। यह आलोचना जो है, यह एक प्रकार से विरोधी प्रतिक्रिया है। सज्जनता तो सुरक्षित है, उसको नुकसान तो मैंने कुछ नहीं पहुँचाया, लेकिन उसके सुख ने मेरे हृदय को हर्षित नहीं किया तो और कुछ नहीं तो कम से कम, उसको क्रिटिसाइज करने में तो मजा आएगा और सामने नहीं तो पीछे में। यह क्या है ? यह अपने चित्त की अशुद्धि है।

वासना रहित चित्त जब होता है, तो सुखी मात्र के सुख से बड़ी प्रसन्नता होती है। साधक समाज के लिए, हम भाई बहनों के लिए यह

एक कसौटी है कि हम देख सकें कि हमारे चित्त में निर्वासना है कि नहीं ? किसी भी प्रकार का कोई सुख दिखाई दे और उससे अपने में हर्ष हो जाए, बड़ा अच्छा है। भगवान सबको सुखी रखें; भगवान इसको सदा आनन्दित रखे। अपने बाल बच्चों को देख जैसा आनन्द आता है, किसी भी अपरिचित बच्चे को हँसता–खेलता देखकर, हृदय हर्ष से भर जाए तो यह साधक का लक्षण है। यह चित्त की शुद्धि का लक्षण है और सेवक का तो बड़ा भारी धर्म है।

दुःखी मात्र के दुःख के करुणित होना और सुखी मात्र के सुखसे प्रसन्न होना, यह चलते–फिरते, बात व्यवहार करते, उठते बैठते हम सब लोगों को अगर ध्यान में रहे, तो हमारी सेवा की प्रवृत्ति से, अपना भी बड़ा उपकार होगा और जिस जन– समाज में हम सेवा करने के लिए प्रवेश करते हैं, उस जन–समाज में भी बहुत उन्नति होगी। मानव–सेवा–संघ का उद्देश्य है, व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण। तो हम लोगों को बड़ी–बड़ी योजना नहीं सोचनी है। निकटवर्ती जन–समुदाय जो हमारे आसपास के रहने वाले हैं, उन्हीं में से जहाँ दुःख दिखाई दे, हृदय में करुणा उपजे। जहाँ सुख दिखाई दे, हृदय में प्रसन्नता आ जाए।

जिस हृदय में करुणा और प्रसन्नता का निवास होता है, जो व्यक्ति स्वयं अपने आप में प्रसन्न रहता है, उस प्रसन्न चित्त में काम की उत्पत्ति नहीं होती। जीवन में नीरसता जब आती है, तो कामनाओं की वृद्धि हो जाती है। जिस चित्त में प्रसन्नता निवास करती है, उस चित्त में कामनाओं की उत्पत्ति नहीं होती। तो आप सोच करके देखिए कि ध्यान लगाने में, भजन करने में, शान्त रहने में समाधि लगाने में, अगर कुछ बाधा है, तो मन और चित्त की चंचलता ही बाधा है और तो कोई बाधा नहीं है। इस बाधा को मिटाने के लिए साधक कितना–कितना प्रयास करता है, बड़ी–बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, बाधाओं का अन्त नहीं होता।

स्वामी जी महाराज ने कहा कि दुखियों के दुःख में शामिल होना शुरू कर दो, तुम्हारे चित्त की अशान्ति चली जाएगी। और जिन्होंने किया है, उन्होंने देखा है बड़ी शान्ति रहती है, बड़ी प्रसन्नता रहती है। उसका प्रतिकार समाज मुझको क्या देगा, इसकी चिन्ता सच्चे सेवक को कभी नहीं होती। करने का मौका लग गया, कर दिया। स्वान्तः सुखाय, अपने आप में ही सुखद है। दूसरों से कुछ लेने देने की आशा है ही नही। अपनी मस्ती में किये जाओ और अपने आनन्द में मस्त रहो। जिन साधकों ने सेवा– व्रत के आधार पर, सम्पूर्ण जीवन को साधनमय बनाना पसन्द किया, वे आज भी अपनी सीमित शक्ति के साथ ही काम करने में खूब मस्त हैं। यह सेवा का अर्थ हुआ।

त्याग के बारे में, आपने सुना ही है जो सदा–सदा के लिए अपने साथ नहीं रह सकता, उन सबके साथ सम्बन्ध–विच्छेद कर दो–यह त्याग है। अब मानव–सेवा–संघ परिभाषा नहीं बनाएगा और सूची नहीं लिखवाएगा। हम लोगों के सामने एक सूत्र रख दिया गया। अब अकेले में जाकर के बैठो। सोचो कि मेरे पास कौन– कौन सी ऐसी चीजें हैं, जो सदा के लिए मेरे साथ नहीं रह सकती। उन सबकी ममता तोड़ दो। उन सबसे सम्बन्ध तोड़ लो। यह त्याग हो गया। और प्रेम का अर्थ क्या है ? जो सदा–सदा से मेरे साथ है, जो सदा–सदा तक मेरे साथ रहेगा, उसी को अपना मानो। उसी के होकर रहना पसन्द करो। उसी का काम करो। तो महाराज जी ने कहा कि बेटा तुम्हारा सदा उसी में नित्य वास रहेगा। यह प्रेम की पूर्णता है। उसी को अपना मानो उसी से सम्बन्ध रखो; उसी के होकर रहना पसन्द करो ; उसी का काम करो। तो क्या होगा ? अपना वास उसी में रहेगा। यह प्रेम की पराकाष्ठा है।

सेवा, त्याग, प्रेम – इसी को मानव–जीवन की सफलता की कुंजी बताया महाराज जी ने। जो सेवक हो सकता है उसकी राग–निवृत्ति हो जाएगी। जो त्याग कर सकता है, वह अशरीरी जीवन में प्रवेश कर

जाएगा। जो प्रभु का प्रेमी हो सकता है, वह भक्त हो जाएगा। उसका जीवन प्रेम से भरपूर हो जाएगा। तो आदि से लेकर अन्त तक, अन्त तक का मतलब शरीर के नाश होने की घड़ी तक नहीं, अन्त जब मैं कहती हूँ तो उसका अर्थ है, मेरा जो सीमित अहम् भाव है, जिसको लेकर मैंने आज अपने को वक्ता स्वीकार किया, आपको श्रोता स्वीकार किया, मैं बोल रही हूँ, ये मेरा विचार है, ये मेरा विश्वास है, ये मेरा मत है, तो 'मै' और मेरा, जिसमें से निकल रहा है, उस सीमित अहम् भाव का रूपान्तर हो जाए। किसमें रूपान्तर हो जाए ज्ञान और प्रेम में। जब तक यह पूरा हो जाए, तब तक के लिए कहती हूँ। आज हम लोगों ने सेवा, त्याग और प्रेम के मन्त्र को अपनाया, तो आज से लेकर, इस क्षण से लेकर, कब तक हम सेवक, त्यागी और प्रेमी बने रहेंगे? कब तक बने रहेंगे? जब तक सीमित अहम् भाव, ज्ञान स्वरूप होकर, प्रेम स्वरूप होकर, अन्नत में विलीन न हो जाए। तब तक इन व्रतों का पालन हम सब भाई बहनों को करना है। कौन से व्रत? सेवा, त्याग, प्रेम।

फिर उसके बाद नहीं पूछा जाएगा कि आप हिन्दू हैं कि मुसलमान हैं, बौद्ध सिक्ख, ईसाई, पारसी कौन हैं? मानव–सेवा–संघ नहीं पूछता है, यह नीचे की सीमा की बात। साम्प्रदायिक भेद, मानव सेवा संघ में नहीं है। आप साधक हैं, ठीक है। कैसे आपका विकास होगा? सेवा, त्याग, प्रेम से। अब इन तीन व्रतों को लो और उसके बाद किसी गुरु से दीक्षा ले लो और चाहे किसी भी सम्प्रदाय में शामिल हो जाना और चाहे अपने को कुछ भी स्वीकार कर लेना और चाहे सबको अस्वीकार कर देना। संघ आपसे नहीं पूछेगा। आपकी अपनी खुशी है, अपनी स्वाधीनता है; जहाँ चाहे जाइए, जो चाहे करिये। मनुष्य होकर के यदि सेवा, त्याग, प्रेम का व्रत ले लिया, तो यह व्रत आपको पूर्णता तक अवश्य पहुँचा देगा।

(94)

उपस्थित महानुभाव, सत्संग–प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो !

मानव–जीवन को साधनयुक्त बनाने के लिए मानव–सेवा–संघ के नियमों में से नवाँ नियम महाराज जी ने बहुत क्रमिक रखा है। शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी और अहं को अभिमान शून्य करना। सबसे स्थूल स्तर से आरम्भ किया जाता है कि शरीर को श्रमी बनाए रखना चाहिए। मैंने ऐसा सुना है कि मन को संयमित करने के लिए शारीरिक श्रम एक बड़ा ही स्वाभाविक साधन है। आलसी बनकर रहने से, मन के भीतर बहुत अधिक उथल–पुथल होती रहती है। अनेक प्रकार के संकल्प उठते रहते हैं, परन्तु जिन साधकों ने संयम, सदाचार, त्याग और प्रेम– इन तत्त्वों को, अपने को साधन युक्त बनाने के लिए स्वीकार किया, वे जब शरीर के द्वारा श्रम करते हैं, तो श्रम काल में वर्तमान शक्ति का सदुपयोग होता रहता है। व्यर्थ–चिन्तन के लिए बेकारी नहीं रहती। यह एक खास बात है। महर्षि दयानन्द जी से किसी ने पूछा कि आपने काम को कैसे जीता? तो उन्होंने कहा काम करके। विकारों पर विजय कैसे पाया ? तो उत्तर दिया ' परिश्रम करके'। शरीर को परिश्रमी बनाए रखना, मन को संयमित रखने में बहुत सहायता पहुँचाता है। जो भी कोई भाई–बहन, अपने चित्त को शुद्ध और शान्त रखना चाहें, मन को संयमित रखना चाहें, उनको शरीर के द्वारा काफी श्रम करना चाहिए।

महात्मा गांधी के सम्बन्ध में, एक सज्जन के मुख से मैंने सुना है। वे महात्मा गांधी के पास काफी रह चुके थे। ऐसे ही एक दिन संयम, सदाचार की बात हो रही थी तो वे कहने लगे कि बापू के पास रहकर मैंने देखा है, सारा दिन वे खूब परिश्रम करते थे, काम की तो कोई सीमा ही नहीं थी गांधी जी के पास। इतने बड़े देश को इतनी पुरानी गुलामी से मुक्त कराने का प्रश्न, बड़ा जटिल प्रश्न था और कई तरह की तकलीफें देश के लोगों को थी। सब बातों के लिए गांधी जी का

हृदय बहुत पीड़ित था। वे बहुत काम करते थे, लेकिन जब सोने का समय आ जाता और बापू को यह मालूम होता कि मुझ में कुछ energy शेष है, तो कुटिया में से निकल कर, बाहर रास्ते पर दौड़ लगाते। दो चार युवक जो गांधी जी की सेवा के लालच में साथ साथ रहते थे, जब बापू दौड़ना शुरू करते, तो वे लोग भी उनके पीछे–पीछे दौड़ते। पता नहीं बापू दौड़ के कहाँ जा रहे है ? दो–चार चक्कर लगाकर, जब उनको मालूम होता कि अब शरीर की energy पूरी खत्म हो गई, आकर के बिस्तर में लेटते और जैसे ही सेवा में रहने वाले लड़के उनका पैर दबाना शुरु करते, वे एकदम गहरी निद्रा में सो जाते।

गांधी जी ने सदाचार का जो अर्थ लिया, ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का जो अर्थ लिया, वह बड़ा व्यापक अर्थ है। अपनी 'सप्त महाव्रत' पुस्तक में उन्होंने एक जगह यह भी लिखा है कि सर्वेन्द्रिय संयम से मन संयमित होता है। और ऐसा भी लिखा है कि अन्य इन्द्रियों को तो खुली छूट दे दो ; देखने के लिए, सुनने के लिए, चखने के लिए, और एक विशेष जननेन्द्रिय को वश में करना चाहों, तो यह बहुत प्रकार की बाधाओं को उत्पन्न करने वाली बात हो जाती है। गांधी जी ने लिखा है कि ऐसा करना, आग में हाथ डालकर जलने से बचने के समान व्यर्थ चेष्टा है। बहुत गम्भीर बात है।

गांधी जी के साहित्य को पढ़कर के उसका बहुत आधुनिक अर्थ मेरी समझ में आया। सबसे पहले उन्होंने 'सप्त महाव्रत' में, सत्य की चर्चा उठाई और उसमें से उन्होंने निकाला कि परमेश्वर सत्य हैं, ऐसा कहना तो ठीक ही है; *लेकिन सत्य ही परमेश्वर* है; ऐसा कहना मुझको *अधिक मौजू मालूम* होता है। उसके बाद, जिसने सत्य का अनुराग जीवन में पालने का निश्चय किया, जिसने सत्य का पुजारी होना पसन्द किया, उसके जीवन में सदाचार का बड़ा भारी व्यापक अर्थ होगा कि किसी भी स्तर पर उसको किसी भी प्रकार से सत्य का पल्ला नहीं छोड़ना है।

सदाचार का मामूली अर्थ भी हम लोग लेते हैं तो वह भी बड़े काम का है। मामूली अर्थ यह है कि आहार–विहार में संयम रखा जाए, सादगी रखी जाए। वासनाओं को उद्दीप्त करने वाली पोशाक न पहनी जाए। सदाचार में यह सब भी आता है कि मन के विकारों को उत्तेजित करने वाला आहार न खाया जाए,विकारों को जगाने वाली वाणी न सुनी जाए, बहुत कोमल, नरम विस्तर पर न सोया जाए। ये सारी बातें सदाचार के अर्थ में हमारे मनीषियों ने लीं। क्योंकि यदि अन्य इन्द्रियों को सुख लोलुपता की खुराक देते रहो, और सर्वेन्द्रिय संयम की बात सोचो, तो हो नहीं सकता है। हर तरफ से विषय लोलुपता का त्याग करके, किसी भी प्रकार के पुराने भोगों के कारण जो भोग प्रवृत्ति का राग अपने में अंकित हुआ है, उस राग को उत्तेजित होने का अवसर नहीं देना चाहिए। इसीलिए मनीषियों ने कहा कि सादे कपड़े पहनो, सादा भोजन करो, विकार युक्त बातें मत सुनो, विकारों को उत्तेजित करने वाले कोई काम मत करो। किसी भी इन्द्रिय को विषय–लोलुप मत होने दो। यह बाहरी बात हो गई। व्यवहार की बात हो गई।

साधक समाज के लिए बहुत आवश्यक है कि वह शरीर से श्रमी और मन से संयमी हो। इसको पूरी तरह से अपने जीवन में अपनाने के लिए सब ओर से विकारों को उत्तेजित करने वाले विषयों का दरवाजा बन्द कर देना चाहिए। एक बात हो गई

अब दूसरी बात। गांधी जी के जीवन में प्रार्थना की बड़ी महिमा थी। प्रार्थना करने जब वे बैठते थे तब ऐसा लगता था, जैसे ईश्वर के साथ उनकी बड़ी गहरी एकता हो गई। यह सत्यनिष्ठ होने का प्रभाव है। वे जब किसी व्रत को आवश्यक मानते थे तो उस व्रत का प्रयोग अपने पर करते थे। प्रयोग करने में उनको जो जो बातें सूझती रहती थी, उन बातों को फिर आश्रम वासियों के हित के लिए बताते थे। सदाचार का अर्थ उन्होंने यह लिया कि मन से, वचन से, कर्म से, भाव

से किसी भी तरह से सत्य का सहारा कभी न छोड़ जाए, न किसी लाभ के लोभ से और न किसी हानि के भय से। जो सदाचार और संयम उन्होंने अपनाया, उसमें भी इस बात का बड़ा ध्यान रखा कि मुझको सच्चा रहना चाहिए। सच्चा रहने का मतलब क्या है ? कि मन में विषयों का लालच रखो और ऊपर से समाज को दिखाने के लिए संयमी बने रहो, तो यह ठीक नहीं है। बाहर से तो विषय लोलुप होने की बात छोड़ ही दो और अन्दर से अगर इस तरह की बात कोई पैदा हो रही हे, तो उसको भी जड़ से उखाड़ने की चेष्टा करो यह नहीं कि भीतर भीतर विषयों के चिन्तन का मजा लेते रहें और बाहर–बाहर इन्द्रियों के दरवाजे बन्द रखने की चेष्टा करे। ऐसा करने में व्यक्ति दम्भी हो जाएगा। उसका सदाचार खण्डित हो जाएगा।

सादा कपड़ा पहनना और अल्प सात्विक आहार रखना, इतना ही पर्याप्त नहीं है। भीतर से सुख–भोग की प्रवृत्ति की जड़ काटना, सदाचार का मूल आधार है। गांधी जी ने अपने पर प्रयोग करके देखा। वे यह कहते थे कि विकार की उत्पत्ति हो और हम उसको रोकें यह तो अपना प्रारम्भिक प्रयास हो सकता है, लेकिन आगे चलकर के जीवन ऐसा हो जाना चाहिए कि विकारो की उत्पत्ति ही न हो। और इसी प्रयास में उन्होंने जब ब्रह्मचर्य का व्रत लिया, तो शरीर में energy के रहते हुए आलस्य में कभी बिस्तर में लेटते नहीं थे। उन्होंने अपने पर प्रयोग करके देखा था और उसका यह निष्कर्ष निकाला था कि शरीर में energy रहेगी और संसार की सेवा में उसको नहीं लगाओगे तो वह energy तुम्हारे भीतर पुराने भोगे हुए सुखों के प्रभाव से, सुख की वासनाओं को जगाएगी। इतना गहरा अर्थ उन्होंने सदाचारका लिया। जीभ से स्वादिष्ट वस्तु के खाने का लालच न छोड़ो और आहार में स्वादिष्ट वस्तुओं का सम्मिलित करना छोड़ दो, तो इसको उन्होंने सदाचार नहीं कहकर, मिथ्याचार कहा।

भीतर से उठने वाली वासनाओं का भी सर्वांश में त्याग कर देना बहुत जरूरी है। यह कैसे होगा ? अब स्वामी जी महाराज की और बापू

की बात एकदम मिल जाती है। कैसे होगा ? सत्य की निष्ठा से होगा। सत्य की निष्ठा से व्यक्ति के जीवन में रस आने लगेगा। अविनाशी रस जब आने लगता है तो सब भोग–प्रवृत्तियों कर रस फीका हो जाता है फिर उसे कोई मजा नहीं मालूम होता । नरक के समान लगने लगता है। जो महापुरुष हुए संसार के, जिन्होंने अपने जीवन को कसौटी पर कसा, तपश्चर्या के द्वारा ऊँचा उठकर उन्होंने साधारण जन–समाज को ऊँचे उठने का मार्ग दिखाया। उन लोगों की जो वाणी है, उसी की सहायता लेकर हम लोग अपने जीवन को प्रयोग में डाल सकते हैं। अब जो सदाचारी होना चाहता है, उसके जीवन में किसी भी स्तर पर कहीं भी मिथ्याचार नहीं आना चाहिए। गांधी जी का जीवन सत्य–निष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण है।

चम्पारन सत्याग्रह के इतिहास में एक प्रसंग में आया है कि नील की खेती में काम करने वाले मजदूरों पर अंगेजों के अत्याचार को दूर करने का प्रयास चल रहा था। तत्सम्बन्धी कागजात सामने रख कर अंग्रेजों से विचार–विमर्श की माँग गांधी जी कर रहे थे। वे लोग बात को उलझा रहे थे। चम्पारन निवासी कई सत्याग्रही भाई गांधी जी के साथी बन गए थे। उनमें से एक भाई अंग्रेजों के दफ्तर में काम करता था। वह आवश्यक फाइल को चुरा लाया और कहने लगा, यह कौन सी बड़ी बात है, गांधी जी कागज माँग रहे हैं और अंग्रेज दे नहीं रहे हैं। क्या बात है, मैं उठा लाता हूँ। बापू के सामने फाइल ले आया और कहने लगा, बापू आप कागज माँग माँग क्यों हैरान हो रहे हैं? वे तो माँगने से देंगे नहीं। लीजिए, मैं चुरा लाया हूँ। आप देख लीजिए। बापू ने देखा नहीं। File को छुआ नहीं। बहुत ही गम्भीर मुख–मुद्रा से बोले कि नहीं भाई ! हम लोग ऐसा नहीं करेंगे। जो सत्य का पुजारी है, जो सदाचारी है, वह मिथ्या का सहारा नहीं ले सकता। सत्य का आग्रही, असत्य का सहारा नहीं ले सकता। मैं तो उन्हीं से माँगूगा और उन्हीं को देना पड़ेगा। तुम जैसे File को ले आए हो, वैसे ही रख आओ। खुद भी मत देखो, मुझको भी मत दिखाओ, किसी को मत दिखाओ।

ज्यों का त्यों वापस ले जाकर दफ्तर में रख दो। जो परमात्मा का प्रेमी होना चाहता है, उसके लिए सत्याचार में यह मिथ्याचार शामिल करना बिल्कुल गलत है। इतना बड़ा अर्थ गांधी जी ने सदाचार का लिया था। यह सब समझाने के लिए उनको बड़ी कठिन तपस्या करनी पड़ी। बहुत बार अपमानित होना पड़ा, लेकिन वे सत्याग्रही थे। सत्य के आग्रह को सफलता मिली। अंग्रेजों को झक मारकर फाइल अपने हाथ से ही, गांधी जी के सामने पेश करनी पड़ी। आपने देखा ! चोरी की हुई फाइल उन्होंने नहीं ली। सत्य पर डटे रहे। जो वे चाहते थे, वह पूरा हुआ।

ऐसे कितने उदाहरण मेरे सामने विद्यमान हैं कि गांधी जी ने सदाचार को अपनाया तो उसको अन्त तक निभाया। परिणाम क्या हुआ ? कि जैसे–जैसे सत्यकी प्रतिष्ठा उनके जीवन में होती गई, वे अधिक से अधिक सत्य के नजदीक पहुँचे। जहाँ वे प्रार्थना के लिए शान्त होकर बैठते, उनका प्रभु के साथ ऐसा तादात्म्य हो जाता था कि कोई भी राजनीतिज्ञ साथी जिन उपायों को सोच ही नहीं सकता था, सत्य–तादात्म्य के काल में वे उपाय गांधी जी के भीतर से, देश के उद्धार के लिए सूझ जाते थे। उनके राजनैतिक साथी जब पूछते थे कि बापू, आपने ऐसा निर्णय कैसे बना लिया ? तो गांधी जी कह देते, मैं कुछ नहीं जानता हूँ, यह सत्य की आवाज है। मुझको इसी पर चलना है। I must, because it comes from with in. अब जरूर इस पर चलना होगा। गांधी भी भरी सभा में प्रार्थना करते थे, हजारों लोग बैठते थे उनके साथ, अब जैसे ही उन्होंने धुन लगाई राम नाम की और चुप हो गए, वैसे ही उनकी वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती थी। अपने लोगों का हाल देखो ! एकांत चाहिए, sound proof room चाहिए तब भी दिमागी हलचल खत्म नहीं होती है। और उस सत्य निष्ठ साधक को देखो ! इतने बड़े जन समूह में गांधी जी जब आँख बन्द कर लेते, परमात्मा की याद में, सत्य की आराधना में तत्काल ही शरीर की और संसार की विस्मृति हो जाती थी।एक दम सत्य से ऐसा सीधा सम्बन्ध

उनका होता था, इतना अच्छा अनुभव उनको मिलता था, कि बाहर सारी दुनियाँ में तूफान मचा हो, तो भी गांधी जी अपने कदम से एक इंच भी इधर उधर नहीं होते थे, क्यों कि उनमें सत्य का बल था। सदाचार शब्द का यह अर्थ है। इसका यह गहरा अर्थ हम लोगों को भी लेना चाहिए।

अब दूसरी बात देखो ! जो भी कोई साधक सदाचारी होकर रहना चाहता है उसके मन में, वचन में, कर्म में, भाव में, कहीं भी मिथ्याचार का प्रयोग नहीं होना चाहिए। उसका बड़ा प्रयोग किया गांधी जी ने और सत्य से अभिन्नता को पाया। जब मैं मानव–सेवा–संघ का नियम पढ़ती हूँ, तो मुझे ऐसा लगता है कि सब महापुरुषों के भीतर, एक ही सत्य प्रकट होता है। स्वामी जी महाराज के भीतर यह सत्य प्रकट हुआ और उन्होंने हम मानव सेवा संघी भाई बहनों की मदद के लिए नियम के रूप में बना करके बता दिया। क्या नियम बता दिया कि ' दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानो। ' बड़ा भारी सदाचार है इसमें। जिसने सत्य को पसन्द किया, उसको अहिंसा पसन्द करनी ही पड़ेगी। क्योंकि सत्य में हिंसा नहीं है। गांधी जी ने सत्य और अहिंसा को, एक ही सिक्के के दो पहलू के समान पाया है और जो किसी रूप में हिंसा पसन्द करता है, वह सत्य का पुजारी हो नहीं सकता।

अहिंसा को गांधी जी कहाँ तक ले गए ; वे कहते हैं कि आधी रोटी खाने से अगर पेट भरता है, तो आधी रोटी के बाद एक ग्रास भी तुम ज्यादा खाते हो, तो प्रकृति के धन की चोरी करते हो। तुम्हारी जितनी जरूरत है प्रकृति ने उतना ही पैदा किया है। अगर एक ग्रास भी स्वाद के कारण बेशी खा लिया तो प्रकृति के धन की चोरी की। इसके बदले में किसी को कम खाकर रहना ही पड़ेगा। क्योंकि प्रकृति के साम्राज्य में उतना ही उपजता है जितने प्रकृति में प्राणी हैं। तुम्हारे बेशी खाने से कोई भूखा रहता है तो यह हिंसा है। जितने से पेट

भरता है, उससे एक ग्रास बेशी खाना हिंसा है। जो हिंसा करता है, वह सत्य का पात्र नहीं हो सकता। जो सत्य का उपासक नहीं है, वह परमात्मा की भक्ति नहीं कर सकता। अब देखिए। हमारा आपका रोना क्या है ? क्या बताएँ, नाम जपते जपते इतने दिन बीत गए, हृदय मे प्रेम नहीं उपजता। अरे भाई ! प्रेम कोई जादू मन्तर से उपजता है ? देखो ! यदि वचन में सत्य है तो जीवन में भी सत्य होना चाहिए। परमात्मा का उपासक जो है, उसे सत्य का उपासक होना ही पड़ेगा और किसी भी अंश में, वचन में, व्यवहार में, भाव में, चिन्तन में, कहीं भी छल प्रपंच रखते हो, छिपाव दुराव रखते हो, कहीं भी मिथ्या को आश्रय दिया है, तो भगवान की भक्ति कैसे आ जाए।

स्वामी जी महाराज को सूझा कि निर्बलों पर बल का प्रयोग करना, सत्य से दूर होना है, परमात्मा से दूर होना है। मानव–सेवा–संघ के प्रेमियों के लिए नियम बनाकर रख दिया। क्या ? 'दूसरों की निर्बलता को अपना बल मत मानो। किसी की दुर्बलता पर, हम अपने बल का प्रयोग करके, अपने को बलवान महसूस करते हैं, तो सत्य से बहुत दूर हो जाते हैं कहाँ सत्य, कहाँ परमात्मा और कहाँ बल का दुरुपयोग करने वाला। दोनों के बीच बहुत दूरी आ जाती है। चतुराई चालाकी, से भोले भाले अनजान व्यक्ति पर, हावी होना चाहते हैं, तो सत्य से बहुत दूर चले जाते हैं गांधी जी के जीवन में क्या हुआ था? बड़ी अच्छी सुन्दर घटना है कि वे बैडमिंटन खेलते थे। एक दिन खेलने आए तो साथ में खेलने वाली बहन के दाहिने हाथ में कुछ तकलीफ थी उन्होंने पट्टी बाँधी थी। और बाँए हाथ से रैकेट उठाया बैडमिंटन खेलने के लिए। बापू ने भी जल्दी से अपना रैकेट दाँए हाथ से बाँए हाथ में ले लिया। बहन पूछने लगी कि बापू मेरे तो दाहिने हाथ में दर्द है इसलिए मैंने बाँए हाथ में रैकेट लिया है। आपने क्यों बाँए हाथ में लिया ? तो कहने लगे कि देखो ! मैं दूसरों की दुर्बलता से अनुचित लाभ उठाना नहीं चाहता । तुम्हारा दाहिना हाथ ठीक नहीं।

तुम बाँए हाथ से खेलोगी तो मुझको भी बाँए से खेलना चाहिए।

महापुरुष जो होते हैं, उनकी करनी पहले होती है और कथनी पीछे होती है। कितना सुन्दर मेल है देखिए ! स्वामी जी ने लिखाया है कि दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानो। और गांधी जी की जीवनी में बच्चों के लिए जो छोटी–छोटी किताबें निकली हैं उनमें बापू के जीवन की जो छोटी छोटी घटनाओं का उल्लेख है, उनमें उस बहन ने खुद ही लिखा है कि बापू कितने सत्यानुरागी हैं ! अगर कोई दुर्बल उनके सामने आया है, तो उसकी दुर्बलता पर अपने बल की महिमा नहीं दिखाएँगे। उस दिन बापू ने दाहिने हाथ में रैकेट लिया ही नही। इसका नाम है सदाचार। सत्य का आचार सदाचार कहलाता है। साधक समाज के लिए जहाँ अहं को अभिमान शून्य करने के Point तक पहुँचने की बात है, वहाँ प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में छोटी छोटी बातों में भी सदाचार के नियम का पालन बहुत आवश्यक है। समझ में आया! अब आगे सोचिए।

आहार–विहार में, रहन–सहन में, बोलचान में, निकटवर्ती जन समुदाय के साथ काम करने में, और फिर उससे अलग होकर सत्य की उपासना, में उसी की निष्ठा में अन्त समय तक, जब तक अहं का नितान्त अभाव न हो जाए तब तक हम लोगों को जीवन के किसी भी पहलू में थोड़ा भी दिखावे का सहारा नहीं लेना चाहिए। अगर हम दिखावे का सहारा लेते हैं जैसे कि बाहरी समाज के साथ हमारा एक रूप है भीतर भीतर कुछ दूसरा रूप है, इस प्रकार विकारों से अगर हम पीड़ित हैं तो ऐसा दिखावा रखने पर कभी भी हमें सफलता नहीं मिल सकती। इस पर पूरा ध्यान देना चाहिए।

साधक–समाज के हित के लिए मानव–सेवा–संघ की प्रणाली में, जो प्रस्तुत किया, मूक सत्संग और व्यक्तिगत संत्संग यह मुझे बहुत उपयोगी मालूम होता है। आपके पास बैठ करके, बातें करना मेरे लिए आसान है। भाई बहनों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना मेरे

लिए आसान है। और अकेले में बैठकर अपने को देखकर अपने भीतर जिन असाधनों की गहरी जड़ जमी हुई है उनको देखना उनको समझना, उनको खोजकर निकालना उनका सर्वांश में नाश कर डालना कठिन बात है। सच क्या है? सच्चाई यह है कि यदि मैनें अपने जीवन की समस्याओं को नहीं सुलझाया तो मेरे लिए यह व्याख्यान देना हानिकारक सिद्ध हो सकता है। जिसने अपने भीतर से वस्तु, व्यक्ति , शरीर आदि पर से अपने अधिकार को नहीं उठाया, उसके द्वारा सेवा प्रवृत्ति लाभ दायक होने के बजाय, हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

मैं अपने साधक भाई बहनों को याद दिलाती रहती हूँ कि प्रवृत्ति जितनी आवश्यक है निवृत्ति की शान्ति में अपना चित्र देखना उससे भी अधिक आवश्यक है। अन्य भाई बहनों के साथ बैठकर जीवन की समस्याओं पर विचार करना जितना आवश्यक है, अकेले में चुपचाप से अपने भीतर झाँक कर भीतर की गुत्थियों को सुलझाना, उससे भी अधिक आवश्यक है। और जैसे एक–एक कदम छूटता जाए, व्यक्ति उससे आगे बढ़ता जाए, तो जब जीवन में सत्य का बल आ जाता है। जब अपने ही में विद्यमान परमात्मा के सान्निध्य का अनुभव किसी को हो जाता है, तब बाहर के सब आँधी तूफान को अचल होकर सह लेता है। सत्य का बल अगर भीतर प्रकट नहीं हुआ, परमात्मा की सन्निधि का, उसके निरन्तर उपास्थित होने का बल अपने में नहीं आया, अनुभव अपने में नहीं आया तो क्या होता है कि बाहर से जहाँ दो चार व्यक्तियों ने आलोचना कर दी, तो बस गुणों का अभिमानी आलोचना सुनते ही क्रोधित हो जाता है। और दूसरे प्रकार के व्यक्ति भी है। सदाचार के आधार पर जिनको सत्य का बल प्राप्त नहीं हुआ, वे अधीर हो जाते है; घबड़ा जाते हैं । दोनों ही फेल हो जाते हैं। मैंने बड़े ही सहज भाव से, ईश्वर की उपासना सत्य की उपासना करने वाले, सदाचार में रहने वाले व्यक्तियों के निकट बैठकर उनकी वाणी को सुना, उनके जीवन को देखा, तो बाहर से बहुत ही मामूली मामूली

दिखने वाले लोगों में, मैंने ऐसा बल देखा कि आश्चर्य चकित होकर रह जाती हूँ

कभी–कभी अपने को टटोल टटोलकर मैं आप ही मन में लज्जित होती रहती हूँ कि इन्होंने कभी समाज के सामने प्रदर्शित नहीं किया कि मैं साधक हूँ लेकिन उनमें इतनी निर्भयता, इतना बल, कहाँ से आ गया ? उत्तर मिलता है कि उन्होंने सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों पर व्याख्यान नहीं दिया, उन्होंने सत्य की प्रतिष्ठा को जीवन में रखा। परमात्मा के विश्वास के बल पर इस बात का अनुभव किया कि मेरा परमात्मा मुझमें विद्यमान है, तो उनमें इतना बल आ गया। और मैं संसार की ओर क्यों देखती हूँ, आलोचना सुनकर कान क्यों खड़े हो जाते हैं , प्रशंसा से चित्त प्रसन्न क्यों हो जाता है ? बड़ी गरीबी है। ऐसा इसलिए होता है कि सत्य की प्रतिष्ठा, उस घट घटवासी से, उस सर्वव्यापी से, अपनी सन्निधि का अनुभव नही हुआ। यह खास बात है। साधक समाज के लिए बड़ी आवश्यक बात है।

हम दूसरों की ओर देख देखकर समय और शक्ति का अपव्यय न करें। या तो सर्वहितकारी कार्य करें और यदि कार्य करने का मौका न हो तो एकदम अकेले छिप जाओ खो जाओ। अपने को देखो; अपने को पढ़ो। कहाँ भूल है ? कहाँ दोष है ? कहाँ गलती हो रही है ? उसको सुधारने के लिए अपने को सजग होना है। और मंगलमय की मंगलकारिता जो सदा–सदा के लिए सभी भाई बहनों के साथ सदा विद्यमान ही है, वह तो काम कर रही रही है। सचेष्ट होना मेरा काम है और सफलता दिलाना जीवन–दाता का काम है। अपनी दुर्बलता को पकड़कर सामने रखना मेरा काम है और उस दुर्बलता से ऊपर उठ जाने की शक्ति देना सामर्थ्यवान का काम है। अपना काम मैं करूँ तो सत्य संकल्प परमात्मा तो अपने कर्त्तव्य से कभी चूकते ही नहीं हैं। उनकी घड़ी कभी slow और कभी Fast होती नहीं है। सदा–सदा से वे ही हमें सँभालते आए हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी की बात मुझे बहुत पसन्द आती है। रामायण में एक जगह लिखा है। कौशल्या मैया

एक बार देवता का पूजन करने के लिए पकवान बना रही थीं। बालक को पालने में सुला दिया था। मिष्ठान बनाकर देवता के भवन में पूजन करने गई नैवेद्य चढ़ाया तो राम जी बैठ करके खाने लगे। वे घबरा गई कि मैं तो पालने में सुलाकर आयी थी, कौन आ गया ? घबड़ा गई। माँ का हृदय ! वे भगवान राम को बालक ही समझ रही थी। वे सोचने लगीं कि मेरी मति भ्रमित हो गई कि क्या हो गया ? तब गोस्वामी जी कहते हैं।

देखरावा माताहि निज, अद्‌भुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।

पढ़ करके मुझको बड़ा मजा आता है। जब मैं अपनी किसी दुर्बलता से Nervous होती हूँ तो कहती हूँ कि मेरे लिए तो बड़ी कठिन बात हो गई है। लेकिन आपके लिए कुछ कठिनाई नहीं है। हे भगवान ! आपके तो एक एक रोम पर करोड़ों ब्रह्माण्ड निवास करते हैं। आपके लिए एक साधक की दुर्बलता को दूर करने में क्या मेहनत लगती है। उनको श्रम नहीं लगता। वे हमारी सब दुर्बलताओं को दूर कर सकते हैं। करते हैं, करते ही रहते हैं। और नहीं तो गुणों के अभिमान में आकर के मैंने क्या अनर्थ नहीं किया होता ? लेकिन वे तो थामते ही रहते हैं विषय तृष्णा के लोभ में आकर के पता नहीं मैं किस पतन के गड्ढे में गई होती। लेकिन वे तो रोकते ही रहते हैं। इसलिए मानव–सेवा–संघ ने सामूहिक सत्संग के साथ साथ, व्यक्तिगत सत्संग को बहुत महत्त्व दिया। और अभी तो सामूहिक समारोह का सत्संग खत्म ही हो जाएगा, सभी अपनी अपनी जगह पर वापिस जाएँगे। आप अपने को साधक मानते ही हैं सत्य की उपासना को, प्रभु की उपासना को आपने पसन्द किया ही है, कुटुम्ब, परिवार, समाज का हित आप चाहते ही हैं, तो चौबीस घंटे में से दो तीन बार का समय जरूर निकालिएगा। अकेले में बैठ करके अपने को देखिएगा। देखिएगा कि मेरी वाणी में ही सत्य है कि जीवन में भी सत्य की प्रतिष्ठा है ? अहं का

नाश हुआ कि नहीं ? दम्भ का नाश हुआ कि नहीं ? आप देखिएगा। बहुत सहायता मिलेगी, बहुत जागृति आएगी।

श्री महाराज जी जब मुझसे ग्रन्थ लिखवाते और बीच बीच में मैं कुछ पूछती तब यह कहते थे कि देवकी जी ! बोलो मत, चुप चाप लिखो। जब शास्त्र के नाम पर, परमात्मा के नाम पर आने वाली पीढ़ी भटकेगी तो यह विचार धारा उनको मार्ग दिखायेगी। परमात्मा का नाम लिए बिना मनुष्यता की स्थापना कर देना, किसी धर्म विशेष का नाम लिए बिना मनुष्य के जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा कर देना, मानव–सेवा–संघ की अपनी विशिष्टता है। मानव सेवा संघ के साहित्य में किसी भी मजहब का आग्रह और विरोध नहीं पाएँगे। मजहब के घेरे की सीमा को तोड़ करके महाराज जी ने साहित्य लिखवाया। ऐसा है यह मानव–सेवा–संघ। इसके तत्त्व को हम सब लोग स्वीकार करें और अपनी अपनी हैसियत के अनुसार, अपने अपने स्तर से थोड़ा–थोड़ा आगे बढ़ने की चेष्टा में हम लगे रहे। चेष्टा में लगे रहना हमारा अपना पुरुषार्थ है और बाँह पकड़ कर अनन्त से मिलाने का दावा तो उन्हीं का है। वे ही कर देंगे और जरूर कर देंगे। छोड़ेंगे नहीं किसी को भी। उनके नाम पर जिसने कदम उठाया है, असफल कभी नहीं होगा। सफलता अवश्य मिलेगी। अब शांत हो जाइए।

(95)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

वासनाओं की निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इसके कई उपाय हैं। जिस साधक को जिस तरह से सूझता है, उस तरह से वह करता है। पहली बात तो यह है कि वासनाओं के परिणाम को देखो, उससे भी उनका त्याग करने की सामर्थ्य आयेगी। परिणाम क्या है ? ऐसा सोचिये, तो आपको पता चलेगा कि वासनाओं से प्रेरित होने वाला

व्यक्ति संसार में शान्ति पूर्वक, सुखपूर्वक रह नहीं सकता। वासनाओं से प्रेरित व्यक्ति सम्मान पूर्वक दुनियाँ में रह नही सकता। इसलिए वह उसका त्याग करेगा।

दूसरी बात यह होती है कि जब आदमी अपने को साधक स्वीकार करता है तो इस स्वीकृति से अहंता मे परिवर्तन आता है। जिन्होंने अपने को सुख का भोगी स्वीकार किया, कि मैं दुनियाँ में आया हूँ सुख भोगने के लिये, उन्हें तो बल मिलेगा नहीं वासनाओं के त्याग का। लेकिन जिन्होंने यह स्वीकार किया कि मैं संसार में आया हूँ साधक होकर सफलता पाने के लिए वे वासनाओं का त्याग कर सकेंगे। एक तो अपने संकल्प में, अपनी स्वीकृति में बल है जो आपको त्यागी बना सकता है। दूसरी बात होती है मनोविज्ञान के स्तर पर। मनौवैज्ञानिक स्तर पर क्या है ? कि जिन्होंने वासनाओं की पूर्ति की चेष्टा की, उन व्यक्तियों ने अपने अनुभव के आधार पर हम लोगों को बताया कि वासनाओं की उत्पत्ति में भी मनुष्य की हानि होती है, पूर्ति में भी हानि होती है और अपूर्ति में भी हानि होती है। जो लोग इस सत्य को स्वीकार कर लेते हैं वे लोग वासनाओं से ऊपर उठ जाते हैं।

उत्पत्ति में क्या होता है? मनोविज्ञान की खोज में यह बताया गया है कि जिस समय मनुष्य के जीवन में कोई वासना उदित हो जाती है, उसकी उत्पत्ति मात्र से ही उसका mental equilibrium बिगड़ जाता है, मानसिक सन्तुलन भंग हो जाता है। तो उत्पत्ति मात्र से मनुष्य अपने स्वाभाविक जीवन से हट जाता है जैसे आपको पता चल जाए कि तकलीफ है पेट में और चिकित्सक बता दे कि आप का लिवर खराब हो गया है, अगर चिकनी चीज खाइयेगा तो नुकसान कर जाएगी। स्वास्थ्य का अगर ख्याल है आपको तो चिकनाई खाना छोड़ देते हैं। जो शरीर को स्वस्थ रखना चाहता है, वह चिकित्सक की सलाह मान लेता है। उसी तरह से जिनको ऊँचा जीवन चाहिये, और जो इस बात को जान लेते हैं वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर अध्ययन

कर्ताओं की सलाह के आधार पर, वे लोग सहज भाव से वासनाओं से मुक्त होते हैं। क्या है उसमें कि जैसे ही कोई कामना, कोई वासना उत्पन्न हुई, कि मनुष्य अपने सन्तुलन से विचलित हो जाता हैं मनुष्य के जीवन में सन्तुलन भंग हो जाए, तो यह बहुत बड़ा घाटा है। ऐसा जानकर लोग अपनी वासनाओं पर Control रखते हैं।

दूसरी बात क्या है? कि अगर उस इच्छा की, वासना की पूर्ति हुई, तो उस वासना की पूर्ति के सुख के भोग में व्यक्ति बहुत ही दुर्बल हो जाता है। कोई भी भोग-प्रवृत्ति मनुष्य में भोगने की शक्ति को नष्ट कर देती है। आप सब लोग को मालूम है अगर बहुत स्वादिष्ट भोजन मिल जाए और आप लालच से खाने लग जाएँ, तो खाते खाते कितनी देर खा सकेंगे ? खाने की शक्ति खत्म होगी कि नहीं होगी? हो जाएगी। नाचने गाने में खेलने में बड़ा interest है आपका, तो नाचना गाना शुरु करिये और खूब गाइये, खूब नाचिये, कितनी देर कर सकते है? शक्ति खतम होगी कि नहीं होगी ? होगी। तो भोग–प्रवृत्ति से शक्ति का ह्रास होता है एक तो शारीरिक शक्ति क्षय हो गई भोग प्रवृत्ति में, इसको आपने अपने अनुभव से जाना। दूसरी कि भोग–प्रवृत्ति जो है, भोग की क्रिया में जो थोड़ा सा सुख का भास है, वह मनुष्य को भोग वस्तुओं की दासता में बाँध देता है। तो जो सजग व्यक्ति हैं, उनको दासता पसन्द नहीं हैं, इसलिए वे वासनाओं को प्रश्रय नहीं देते हैं। उत्पत्ति में शान्ति भंग हो गई, पूर्ति में दासता आ गई, और पूर्ति नहीं हुई अपूर्ति हो गई, बाधा पड़ गई तो क्षोभ आ गया। उत्पत्ति में अशान्ति, पूर्ति में दासता, और अपूर्ति में क्षोभ पसन्द करियेगा ? नहीं करियेगा। तो यह वैज्ञानिक स्तर की चीज है। इसको भी जान करके जो सज्जन व्यक्ति होते हैं, वे सहज भाव से अपने जीवन में वासनाओं से परहेज रखते हैं। अपने को सँभालते हैं यहाँ तक सँभालने की बात हो गई।

अब जड़ काटने की बात क्या है ? कैसे वासनाओं की जड़ कट जाती है ? जड़ कट जाती है ज्ञान और प्रेम से। विवेक के प्रकाश में यह जाना गया कि मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ी भूल यह है कि उसने अपना देह से तादात्म्य कर लिया। देह में मम बुद्धि, अहम् बुद्धि– यह सन्त जनों की भाषा हैं शरीर को मैं मानना, और शरीर को मेरा मानना। यह भ्रम है। पहले जो दो तीन बैठकें हो चुकी, उनमें आपने पृष्ठभूमि तो प्राप्त कर ही ली है। "मैं" की उत्पत्ति अनन्त तत्त्व से हुई है, शरीर की उत्पत्ति भौतिक तत्त्व से हुई हैं तो मेरे में और शरीर में सजातीयता तो है ही नहीं, मूल से ही नहीं है। विवेक के प्रकाश में जिन लोगों ने देह में से मम बुद्धि और अहम् बुद्धि को निकाल दिया, देह मैं हूँ और देह मेरी है–इस भूल को जिन्होंने छोड़ दिया, उनमें से वासनाओं का अन्त हो जाता है, उसमें वासनाएँ उदित नहीं होती हैं। यह ज्ञान का प्रकाश हुआ। फिर जो बड़े ही हृदयशील व्यक्ति होते हैं, परपीड़ा जिनके हृदय में प्रवेश कर जाती है, दुःखी जन के दुःख से जो द्रवित हो जाते हैं, उनमें से सुख की वासनाओं का स्वतः ही अन्त हो जाता है। यह भी एक बहुत अच्छा और practical प्रयोग है वासनाओं से मुक्त होने का, कि पर पीड़ा को अपने हृदय में धारण करना सीखा जाए। पीड़ित लोग परिवार में, जान–पहचान में, अड़ौस–पड़ौस में, नगर में सब कहीं मिलते ही रहते हैं। एक शरीर में पीड़ा होती है तो भी हम समझते हैं, भोगते हैं, और अनेक शरीरों में पीड़ा होती है तो उसको भी अनुभव किया जाता है। मनुष्य में इस प्रकार की हृदयशीलता, प्रारम्भ से ही विद्यमान है। जब वह किसी पीड़ित को देखता है, तो उसे अपनी पीड़ा के आधार पर भास होता है कि यह शरीर पीड़ित है, रोगी है। तो पर पीड़ा को हृदय में धारण करने से सुख की वासनाओं का अन्त हो जाता है।

ममता के सम्बन्ध से, पैदा की हुई सन्तान के दुःख से तो पशु, पक्षी भी दुखित होते हैं, आदमी दुखित हो गया तो कौन सी बड़ी बात है।

पैदा किये हुए बाल–बच्चों को दुःख में देखो, तो ऐसे ही व्यक्ति दुःखी हो जाता है। मैंने माताओं को देखा है बच्चे बीमार हो जाएँ तो खाना, पीना, स्नान करना, सोना सब भूल जाती हैं, खेल–तमाशे, राग–रंग की तो कोई बात ही नहीं है, शरीर की आवश्यक क्रियायें भी उनकी छूट जाती हैं। ममता का प्रभाव इतना होता है। तो फिर उससे आगे का प्रभाव देखिये, बहुत अधिक है। उससे आगे क्या है ? मनुष्य होने के नाते, संसार से सम्बन्ध रखने के नाते, जिन लोगों से अपनी ममता का सम्बन्ध नहीं है, उनकी पीड़ा को अगर हृदय में धारण करो, अनुभव करो, उनको सहयोग देना आरम्भ करो, तो इसका बड़ा भारी प्रभाव होता है। जो हृदय पर–पीड़ा से पीड़ित होता है, उस हृदय में सुख–भोग की वासना नहीं रहती। यह संसार के साथ सम्बन्ध रखकर , परपीड़ा में शामिल होने का परिणाम हुआ। फिर अब उसके आगे देखो! अगर किसी व्यक्ति में ईश्वर–विश्वास की अभिलाषा है कि हम भगवत भक्त होकर रहते, हम प्रभु के होकर रहते, हम उनके लिये इस जीवन को प्रेम तत्त्व में बदल कर उपयोगी होते, तो आनन्दमय को आनन्दित करने की अभिलाषा, रस स्वरूप को रस प्रदान करने की अभिलाषा। यह मानव जीवन की एक विशेषता है। और कहीं नहीं है। केवल मनुष्य को ही ऐसे बढ़िया ढंग से बनाया गया है। मनुष्य ही इस बात की अभिलाषा लेकर खड़ा होता है, कि ठीक है जिसने मुझे बनाया, जो जीवनदाताहै मेरा, जो जन्म दाता है मेरा, जो सृष्टि कर्त्ता है, जिसने मुझे इस संसार में रखा है उसके लिये हम उपयोगी बनेंगे–ऐसी अभिलाषा मनुष्य के जीवन में जगती है। और इस अभिलाषा को लेकर जब वह प्रेम तत्त्व के विकास के लिए अग्रसर होता है, तो प्रेम की प्रतीक्षा में, प्रेम की आवश्यकता महसूस करने में इतना आकर्षण और इतनी मधुरता है, कि उसी में अनेक प्रकार की वासनाओं का अन्त हो जाता है।

ज्ञान के आधार पर वासनाओं को मिटाया जाता है, भक्ति के आधार पर वासनाओं को मिटाया जाता है ; पर पीड़ा से द्रवित होने के आधार पर वासनाओं को मिटाया जाता है; अपने को साधक स्वीकार कर

संयम नियम के आधार पर वासनाओं पर नियन्त्रण किया जाता है। और सबसे जो प्रारम्भिक कदम है इस दिशा में, मानव–सेवा–संघ की खोज में, वह यह है कि जिस दिन से आपके भीतर यह आवश्यकता जगे कि हमारा जीवन वासनाओं से मुक्त होना चाहिए, जिस दिन से यह आवश्यकता आपमें उत्पन्न हो, उस दिन से किसी प्रकार का नया सुख भोगना बन्द कर दीजिए। पुराना तो हो चुका, समय बीत चुका वह, जिस प्रकार के सुख भोगों में हमने समय और शक्ति को गँवाया है, जो हो गया तो हो गया, बीत गया।

अब नये ढंग से क्या करना है? तो नये ढंग से यह करना है कि जिस किसी भाई –बहन को वासनाओं से free होने की अभिलाषा है, उनको किसी प्रकार का नया सुख नहीं लेना चाहिये। तो नया नहीं लेने से क्या होता है? नया राग नहीं बनता है। और दुःखी जनों की सेवा में घुलमिल जाने से क्या होता है? पुरानी बातें जितनी हैं चित्त पर प्रभाव डाले हुए, वे सब खत्म हो जाती हैं नया सुख नहीं लेंगे तो नया राग नहीं बनेगा। सुख व भोग छोड़ कर सेवा आरम्भ करेंगे तो पुराने जमे हुये राग मिट जाते हैं, धुल जाते हैं वासनाओं से मुक्त होने का यह उपाय अनेक रूपों में है, और अनेक स्तर पर है। जिस साधक को जहाँ से सूझे, जैसे सूझे वैसे ही करना चाहिये।

इस दिशा में मुझे जो सबसे पहले बल मिला, रास्ता मिला कि कैसे सँभालना चाहिये अपने को, तो उसमें अपनी स्वीकृति बदलने का बड़ा भारी प्रस्ताव मैंने पाया। बक्सर में स्वामी जी महाराज थे। सत्संग का बड़ा समारोह हो रहा था। वहाँ मैं पहुँच गई और जैसे ही सत्संग की बैठक आरम्भ हुई मैं उठकर खड़ी हो गई सभा में, मेरा प्रश्न है, मुझे उत्तर चाहिये। महाराज ने कहा, पूछो। मैंने यह तीन वाक्य सुना दिए, यह हमारे जीवन का एक चित्र था। यह खोज थी अपनी। अपने को ऐसा महसूस होता था और मैं गाती रहती थी कि जो चाहती हूँ सो होता नहीं है, जो होता है सो भाता नहीं है; जो भाता है सो रहता नहीं है। मैं क्यों ढोऊँ ऐसी जिन्दगी का भार महाराज ने सुना और बड़ी

शान्ति और धीरज से कह दिया कि लाली! तुम्हारा ही अनुभव है कि तुम जो चाहती हो सो होता नहीं है, तो चाह को छोड़ क्यों नहीं देती। बस इतने में उत्तर हो गया। पन्द्रह मिनट लगाये मैंने प्रश्न करने में और उत्तर उन्होंने एक वाक्य में दिया कि तुम्हारा ही अनुभव है, तुम्ही जानती हो कि जो चाहती हो सो नहीं होता है। तो चाह को छोड़ क्यों नहीं देती। छोड़ देने से काम खत्म हो गया। यह बात ऐसे सहज से तो मेरी पकड़ में नहीं आई लेकिन उन्होंन बाद में मुझे बताया कि भाई, मनुष्य के जीवन में सुख–भोग का कोई स्थान नहीं है। मनुष्य तो पैदा ही हुआ है सत्य की खोज के लिय, भगवत् भक्ति के लिये, अमर जीवन पाने के लिये। तुमने जिन्दगी का अर्थ ही गलत लगाया इसलिए दुःख में फँसी हो। मानव जीवन का अर्थ सुख का भोग नहीं है। मानव जीवन का अर्थ है सेवा, त्याग प्रेम है । जब मुझे यह मालूम हुआ कि इस जिन्दगी का अर्थ ही नहीं है सुख भोग, तो मैंने कहा कि तब तो ठीक है। अर्थ बदल दो। जब अर्थ बदल दिया तो उसी समय, उसी सभा में जहाँ बैठकर मैं प्रश्न कर रही थी– उत्तर मिल जाने पर मेरे सिर का भार उतर गया और मेरे सामने की सब बाधाएँ हट गईं।

सचमुच मनुष्य के जीवन का यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। हम सभी लोग शान्ति से वंचित हैं तो उसी के कारण–मुक्ति से वंचित हैं तो उसी के कारण, और शारीरिक व मानसिक रोग मे फँसे हुये है तो उसी के कारण। उसी के कारण मन का सन्तुलन बिगड़ जाता है, शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है, कितनी प्रकार की तकलीफें हो जाती हैं। हाँ तो जीवन सेवा, त्याग और प्रेम से भरपूर होकर अपने लिये भी आनन्दमय हो सकता है जगत् के लिए भी आनन्द मय हो सकता है, और जगत्पति के लिये भी अति उपयोगी हो सकता है और कहाँ वही जीवन एकदम मिट्टी का ढेर बन जाता है कि ढोया ही नहीं जाता है। अजीब तरह की हालत हो जाती है। तो मैं बता रही हूँ, आप भाई बहनों की सेवा में मैं निवेदन कर रही हूँ कि इस दिशा में जो आगे

बढ़ना चाहते हैं उनको मानव जीवन के अर्थ के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि स्पष्ट कर लेनी चाहिये।

इस जीवन का अर्थ अगर सुखभोग लोगे तो कभी भी एक कदम साधना के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकोगे, क्योंकि अपना जो दृष्टिकोण है, self concept जो है अपने सम्बन्ध में, जो व्यक्तिगत अपनी धारणायें बना के रखता है, व्यक्ति में उसी के अनुसार संकल्प उठते हैं,उसी के अनुसार क्रियाएँ होती है, उसी के अनुसार दशा बन जाती है। मुझे इस दशा में अपने जीवन के सम्बन्ध में धारणा बदल डालने से बड़ा बल मिल गया। बहुत से झंझट खत्म हो गये। नहीं तो मैं क्या बताऊँ दुःख की कथा ! ज्यादा नहीं सुनाऊँगी, बहुत तरह की कथा आप सुन चुके हैं। एक तो दुःख इस बात का कि जो चाहती हूँ सो होता नहीं है, जो सुख मुझे पसन्द है वह मिले नहीं उसके ना मिलने का दुःख और उससे भी बड़ा दुःख उस बात का कि मैं इतनी विवश क्यों हूँ, मैं इतनी पराधीन क्यों हूँ ? मैं अपने से सयाने लोगों से पूछूँ कि ऐसा क्यों होता है ? जिससे पूछो वही कह दे कि भाई, यह तो भाग्य की बात है। प्रारब्ध की बात है। अब और दुःख भोगो। एक दुःख तो इस बात का कि सुख नहीं हुआ। दूसरा दुःख इस बात का कि मैं बेबसी में फँसी हूँ। तीसरा दुःख इस बात का कि पूर्व जन्म में मेरे कर्म बुरे हैं कितना भार ढोऐ आदमी ! कितना भार है बताओ। सुख न मिला तो न मिला, इतना ही मन मसोस कर रह जाओ। उस पर से एक दूसरा दुःख उस पर से यह तीसरा दुःख। जन समाज के बीच में सब लोगों के समान होकर रहने की एक वासना– इसकी भी पूर्ति नहीं हो रही है, तो एक हीन भाव भोग रहे हैं– इसका दुःख। कितना दुःख एक आदमी ढो सकता है ? अगर सजग हैं आप, सजीव हैं, चेतना है आप में, ऊँचे जीवन की अभिलाषा है आप में, तो जीवन की यह जो परिस्थितियाँ बनती है; जो दुःख अनुभव करते हैं, यह दुःख ही आपको बहुत ऊँचा उठा देने के लिये पर्याप्त है। कोई चेतना वाला तो हो, कोई सोचना तो आरम्भ करे, सत्य को स्वीकार तो करे।

इस आधार पर मैं आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि मनुष्य का जीवन ही नहीं है सुखभोग के लिये। सुख भोगने के लिये तो बहुत सी योनियाँ है। कहीं केवल सुख–भोग की बाध्यता है और कहीं सुख–दुःख दोनों के भोग की बाध्यता हैं पशु–पक्षियों के जीवन में आप देखेंगे प्रकृति जनित, शरीर जनित सुख–दुःख के भोग की बाध्यता है। उनके आगे सुख आवे तो वे सुख भी नहीं छोड़ सकते, उनके आगे दुःख आवे तो वे दुःख भी नहीं छोड़ सकते। केवल आप ही ऐसे बनाये गये हैं, ऐसी अच्छी planning है इस जिन्दगी की, कि आप में इतनी बहादुरी है, कि सुख आवे तो आप उसको ठहरा सकते हैं नहीं नही!! मुझे नहीं चाहिये। क्यों नहीं चाहिये, भाई ? यह तो बहुत बढ़िया चीज है। नहीं नहीं, मुझे तो अनन्त आनन्द चाहिये। इसलिये पराधीनता, अभाव, शक्तिहीनता, नीरसता उत्पन्न करने वाला सुख मुझे नहीं चाहिये। आप में इतनी क्षमता है कि आए हुये सुख को इन्कार कर सकते हैं। आप में इतनी क्षमता है कि आये हुये दुःख के सिर पर पाँव रख सकते हैं। यह प्रश्न कैसे हल हो ? इसके लिए मानव जीवन का आदर करिये। अपने जीवन के महत्त्व को स्वीकार करिये तो आप में अदम्य शक्ति ऐसे ही अन्दर से प्रकट हो जायेगी कि उसकी सहायता से जो आप निर्भूल होना चाहेंगे तो निर्भूल हो सकते हैं, वासना रहित होना चाहेंगे तो वासना रहित हो सकते हैं। जड़ तो कट जाती है वहीं पर, concept बदलने से ही जीवन बदल जाता है।

अब हम लोगों के लिये करणीय क्या है ? हम लोगों के लिये करणीय यह है, कि अब कोई नया प्रभाव इस प्रकार का अंकित न होने दे। ठीक है न। पहले जो चुका उसका उपचार पीछे करेंगे, लेकिन सबसे पहली बात क्या होनी चाहिये ? सबसे पहली बात साधक के जीवन में यह होनी चाहिये कि दृश्य के संयोग से किसी प्रकार का व्यक्तिगत सुख न लें। इस बात के लिये अगर हम तैयार नहीं है और पुराने पर नियन्त्रण करते जाएँ, अभ्यास करते जाएँ, उपवास करते

जाएँ और नये नये राग अंकित होते चले जाएँ तो शुद्धि नहीं हो पायेगी।

यह अपना भ्रम ही है कि सुख के बिना हम रह ही नहीं सकते, सामान के बिना हम रह ही नहीं सकते और साथी के बिना हम रह ही नहीं सकते। यह कोरा भ्रम है। स्वामी जी महाराज ने बड़े सुन्दर वाक्य बताये। ऐसे कहा कि देखो भाई ? जो तुम्हारे बिना रह सकता है, उसके बिना तुम स्वेच्छा से रहना पसन्द कर लो। बेबसी में तो रहते ही हो। सुनने की शक्ति खत्म हो जाए तो उसके बाद भी आदमी रहता है कि नहीं ? रहता है। मिला हुआ पद चला जाय; कमाया हुआ धन डूब जाय; जोड़े हुये कुटुम्बी बिछुड़ जाये, उसके बाद भी आदमी रहता है, कि नहीं ? रहता ही है। लेकिन बेबसी में रहोगे, झक मार कर रहोगे, दुःखी होकर रहोगे तो पहले ही ज्ञान पूर्वक विवेक के प्रकाश में विचार करो, कि कौन कौन ऐसा है जो मेरे बिना रह सकता है ? जो तुम्हारे बिना रह सकता है उसके बिना रहने के लिये तुम तैयार हो जाओ। समस्या हल हो जायगी। बडे सुन्दर वाक्य हैं। पाँच वाक्य स्वामी जी महाराज ने बताये। नई पुस्तिका छोटी सी छपी है उसमें लिखा है कि:–

(१) जाग्रत का संसार जो है वह स्वप्न में छूट जाता है उसके बिना हम लोगों को रहना चाहिये। (२) स्वप्न का संसार जो है वह सुषुप्ति में छूट जाता है स्वप्न में जो दिखाई देता है उसके बिना भी हम लोगों को रहना चाहिये और (३) सुषुप्ति का जो कुछ है वह समाधि में छूट जाता है और (४)समाधि में जो कुछ है वह बोध में छूट जाता है। (५) जो अन्त में रह जाता हे, जो छूट नहीं सकता, उसी के साथ रहना पसन्द करो तो सब पर विजय पाना आसान हो जाएगा। तो भाई ! राग रहित होने की आवश्यता तो महसूस करिये। यब सब उपाय अपने लोगों के लिए सम्भव हो जायगा। थोड़ी देर के लिये आपको कठिन लगेगा। शुरु–शुरु में मालूम होगा कि कैसे हम सँभाल

सकेंगे? लेकिन ऐसा कुछ कठिन है नहीं । महाराजं ने कहा कि तब क्या करोंगे ? शान्ति का समय है, अप्रयत्न हो, अविनाशी जीवन की ओर आगे बढ़ना हो– इस शान्ति सम्पादन काल में अगर तरह–तरह के संकल्प आ गये तो तुम्हारी सजगता का अर्थ क्या होना चाहिये ? उन संकल्पों को देख लो। अगर व्यक्तिगत सुख का संकल्प है तो तत्काल उसी समय उसको इन्कार करदो। नहीं! नहीं!! यह तो भूतकाल की बात थी कि मैं ऐसा–ऐसा करता था। अब तो मैं साधक हूँ। मेरे जीवन में इस संकल्प पूर्ति का कोई महत्त्व नहीं है – ऐसा इन्कार कर दीजिए। आप ही की सत्ता से आपके सिर पर चढ़ने वाला वह संकल्प आपकी सत्ता से detached होते ही मर जायगा। कठिन बात नहीं है। आप करके देख लीजिये। उसको उसी समय इन्कार कर दिया, तो गया। उसकी अपनी सत्ता नहीं है। हमारी स्वीकृति से उसको सत्ता मिल जाती है हमने इन्कार कर दिया तो वह सत्ता विहीन होकर खत्म हो जायेगा। फिर नहीं आयेगा। फिर नहीं दिखाई देगा। और ऐसे संकल्प जिसमें कि समूह का हित है, परिवार का हित है, समाज का हित है; दुःखी जन का हित है, बच्चों का हित है; पशु–पक्षियों का हित है; वनस्पति का हित है– ऐसे हितकार संकल्प उठे, जिसमें आपका व्यक्तिगत हित भी शामिल हो तो कोई डर नहीं, उससे अपराध नहीं लगेगा लेकिन जो सामूहिक हित के संकल्प हों उनको आप यथा सम्भव, यथा सामर्थ्य पूरा करने की कोशिश करिये और सावधान केवल इतना रहिये कि उन संकल्पों की पूर्ति के बाद उससे उत्पन्न होने वाला सुख और सम्मान अपने को नहीं चाहिये। लाभ होता जाय तो समूह को देते जाओ और अपने को अलग करके रख लो। इस उपाय से पुराने राग निकल निकल कर खत्म हो जायेंगे और नये राग पैदा नही नहीं होंगे। उसके बाद जीवन में अलौकिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। यह अनुभवी सन्त जन का अनुभव है।

अब कल सन्ध्या समय की जो बैठक थी उसमें हम लोगों ने इस विषय पर विचार किया कि मानव–सेवा–संघ की दृष्टि से साधक के

जीवन में संसार का कितना महत्त्व है ? क्या अर्थ है ? उसके साथ कैसे करना चाहिये ? कैसे उसके काम आना चाहिये ? कैसे उसकी दासता से मुक्त होना चाहिये, इत्यादि इत्यादि। अब अपने–पन का भास हम सब भाई बहनों को हैं मैं हूँ' यह पहली बात है उसके बाद एक प्रतीत होने वाला जगत् है, जिसके सम्बन्ध में चर्चा हो गई कि प्रतीति हो रही है। सत्य क्या है ? हम सब लोग नहीं जानते हैं। हम बदलते जाते हैं, तो दृश्य बदलता जाता है और भौतिक सीमा को हम पार कर जाते हैं तो भौतिक जगत् लुप्त हो जाता है। ऐसी चर्चा कल शाम की बैठक में हो गई थी। अब मैं–पन और प्रतीत होने वाले जगत् से भिन्न एक और concept एक और धारणा मनुष्य के जीवन से बहुत घना सम्बन्ध रखने वाली है। और वह है भगवान के सम्बन्ध में हमारी आपकी भावना। सुना करते हैं हम, कि हमको और दिखाई देने वाले जगत् को बनाने वाला कोई है, उसी को भक्त जन भगवान कहते हैं तो हमारे आपके जीवन में उस सुने हुये भगवान का क्या महत्त्व है? इस पर मानव–सेवा–संघ की दृष्टि से विचार कर लीजिये।

स्वामी जी महाराज के मुख से आपने सुना कि मैं कट्टर ईश्वरवादी हूँ पर ईश्वरवाद का प्रचारक नहीं हूँ। तो मनुष्य के व्यक्तित्व में ईश्वरवाद एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, लेकिन उन्हीं ईश्वर की रची हुई सृष्टि में बहुत से व्यक्तित्व ऐसे हैं, जो ईश्वर को मान करके जीवन का आरम्भ नहीं करते। सब उन्हीं की रचना है। हमारे से जब बातचीत होती है और लोग ऐसा प्रश्न रखते हैं तो मैं कह देती हूँ अरे भई ! आप तो मेरे प्यारे की बनाई हुई रचना में से एक हैं। जब उन्होंने आपको ऐसा बनाया कि ईश्वर का नाम नहीं लेंगे, तो हम काहे के लिये जबरदस्ती ईश्वर का नाम थोपें ? ठीक है न ? तो हर व्यक्ति सहज भाव से ईश्वर विश्वास करना पसन्द नहीं करता है, तो मानव–सेवा–संघ ने मानव जीवन को सामने रख कर ईश्वरवाद की दृष्टि से यह बताया कि भाई ! अगर तुम नहीं पसन्द करते हो ईश्वर विश्वासी होना, तो अपने साथ जबरदस्ती मत करो। ना पसन्द करने पर भी यदि तुम

मनुष्य हो, विश्वास–पथ को छोड़ दो और विचार–पथ को सामने लेकर चलो, तो तुम्हारा विकास होगा और अन्त में जब वही आकर मिल जाएगा, तब तुम्हारी मौज हो तो मान लेना। नहीं तो सत्य के नाम से कह कर, नित्य तत्त्व के नाम से कह कर ब्रह्म के नाम से कह कर, योग तत्त्व के नाम से परमतत्त्व के अनन्त तत्त्व के नाम से– जिस नाम से पुकारने की इच्छा हो कह देना कोई बात ही नहीं है, लेकिन है वो ही।

साधक को जीवन में अपने लिये और दूसरो के लिए बहुत ही उदार दृष्टि रखनी चाहिये, विशेषकर मानव–सेवा–संघ के प्रेमियों को। अगर अपने को ईश्वर विश्वास ठीक नहीं बैठता है, तो हीन भावना से पीड़ित मत होइये। हाय ! मेरा तो उद्धार होगा ही नही, क्योंकि मैं विश्वास नहीं कर सकता हूँ ऐसी बात नहीं है आप ईश्वर विश्वासी हैं और दूसरे लोग कोई मिल जाएँ आपको जो विश्वास करना नापसन्द करते हो तो आप जोर डाल कर उनको समझाने की कोशिश मत करिये कि ईश्वर विश्वास करना चाहिये। खुद भी करने का स्वभाव आपका हो स्वभाव से रुचि आपकी होती हो तो विश्वास कीजिये और स्वाभाविक रुचि नहीं है, तो अपने साथ जबरदस्ती मत करो। क्यों ? क्योंकि उसी ईश्वर ने मनुष्य के जीवन को अनंन्त तत्त्व से अभिन्न करने के लिये अलग अलग प्रकार की रचनाएँ कर दी। जबरदस्ती काहे को करेंगे ? अगर विश्वास–पथ अपने लिये fit नहीं बैठता है तो विचार–पथ से जीवन को आरम्भ करेंगे। विचार का तत्त्व भी तो अपने पास है ना ? तो वहाँ से करेंगे।

मानव–सेवा–संघ का निवेदन यह है, कि आप अपने व्यक्तित्व की रचना के अनुसार अपनी साधना आरम्भ करिये और अन्य लोगों को, अन्य भाई बहनों को सभी साधकों को स्वाधीनता पूर्वक उनकी रचना के अनुसार उनकी साधना पर चलने दीजिये। न अपने मत का आग्रह करो, न दूसरे के मत का विरोध करो तो बड़ा अच्छा जीवन

बनता है। इतना बढ़िया सामन्जस्य बैठता है कि अनेक प्रकार की भिन्नता के होते हुये भी मानव मात्र के बीच में एकता हम रख सकते हैं स्नेह की एकता, सद्‌भाव की एकता। और जब भिन्न प्रकार के मत, विचार और साधना रखने वाले साधक मिल जाते हैं, तो बात चीत करते करते अन्त में जब स्नेह की एकता आती है तो हृदय से यही सद्‌भाव निकलता है कि हे प्रभु। मुझे तो मेरे इस पथ से पार लगाओ और मेरे इस भाई को, मेरी इस बहन को, जो पथ पकड़ा है, उससे इसको पार लगाओ। जब सबका जीवन पार हो जाये, जब हम त्यागने योग्य से अपने को छुड़ा सकें और अभिन्न होने योग्य से अभिन्न कर सकें, तो उस पूर्ण जीवन में किसी प्रकार की भिन्नता रह जायेगी क्या? नहीं रहेगी। सब पूरा हो जायेगा, उसके बाद कहने सुनने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इसलिये विशेष करके ईश्वर विश्वास के सम्बन्ध में संघ का यह निवेदन है कि आप अपने मत का आग्रह मत करिये, दूसरों के लिये। अपने लिये तो डटे रहो अपनी जगह पर, लेकिन दूसरों के लिये आग्रह मत करो व्यक्तिगत मत का, और दूसरों के मत का विरोध मत करो। ठीक है आपकी ऐसी साधना है तो सर्व समर्थ आपको इसी साधना में सफलता दे दें। आपका ऐसा मत है तो ठीक है। अपने मत के अनुसरण से आपका जीवन पूर्ण हो जाय, ऐसी मेरी सद्‌भावना है। स्नेह की एकता, सद्‌भाव की एकता है। जब विभिन्न प्रकार के मत, विचार और साधना रखने वाले साधक मिल जाते हैं तो बातचीत करते करते अन्त में जब स्नेह की एकता आती है तो हृदय से यही सद्‌भाव निकलता है।

अब ईश्वर विश्वास पर आइये। यह किसकी साधना बन सकती है ? यह उनकी बन सकती है जिनके जीवन में सहज भाव से विश्वास करने की रुचि है। सहज भाव से, जोर डालकर नहीं, जबरदस्ती से नहीं, तर्क से नहीं– तर्क से यह नहीं होता। तर्क से तो ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता और सच पूछिये तो आज के आधुनिक विज्ञान–वेत्ता भी इस बात को मानने लग गये हैं कि तर्क से संसार भी सिद्ध नहीं

होता। तर्क की बात नहीं है, ईश्वर में विश्वास की बात है। विश्वास करना है। क्यों विश्वास करना है भाई ? मैंने तो इस प्रकार से माना कि जो कुछ मेरे सुनने, देखने और जानने में आया, उससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये गुरु के मुख से सुनकर, संत के मुख से सुनकर, ग्रन्थ के वाक्य के आधार पर, बिना देखे– बिना जाने परमात्मा को मानना पड़ा। मैंने तो बेबसी में माना। और कुछ मेरे लिये जीवन का आधार बन नहीं सका। हमने कहा कि अब अपना पुरुषार्थ सब थक ही गया है – आखिर जीवन का प्रयोग करके देखना ही है, तो एक बार तो सन्त की वाणी सुनकर करके ही देखो, मान करके ही देखो। उसको जीवन का आधार बना कर ही देखो, क्या होता है ? इस तरह से मैंने माना।

कुछ ऐसे सरल हृदय के भाई बहन हैं जिन्होंने हमारी तरह से तीन पाँच नहीं लगाया कि क्यों मानें ? कैसे मानें ? यह सब नहीं किया। सहज भाव से सत्ता को स्वीकार कर लिया, विश्वास कर लिया। इसका क्या महत्त्व होता है जीवन में, सो मैं आपकी सेवा में निवेदन कर दूँ। मैंने ऐसा पाया अपने लिये और अब मैं सोचती हूँ औरों के लिए भी ऐसा ही होगा– मैंने ऐसा पाया कि जब तक मेरे जीवन में ईश्वर के सम्बन्ध में धारणायें स्पष्ट नहीं थी, तब तक मुझे उनकी उपस्थिति का कोई भी आभास मिलता नहीं था। उनकी शक्ति काम नहीं करती थी– ऐसी बात नहीं है। काम तो वह हर समय हो रहा है और हर समय उपस्थिति को अनुभव किया जा सकता है, लेकिन मैं क्या बताऊँ, इस अहं रूपी अणु की विलक्षणता ! मैं कहती हूँ कि संसार में आश्चर्यजनक बातें लोग देखते रहते हैं और कहते हैं कि यह विश्व का पहला आश्चर्य है। यह दूसरा आश्चर्य है। अब तक गिनती मैंने सुनी है कि आठ आश्चर्य हैं, तो मैं कहती हूँ कि सबसे बड़ी आश्चर्यजनक विलक्षण रचना जो है, वह हम लोगों का अहं ही है। सबसे विलक्षण! सबसे विचित्र !! सबसे आश्चर्य जनक !!! वो क्या है ? कि जब तक मैंने जीवन के आधार के रूप में बिना देखे, बिना जाने परमात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया तब तक

उसका कहीं कुछ trace नही मिलता था। सन्त ने कहा कि उनको तो मालूम है तुम उनकी अपनी हो। तुम भूल गई हो, मेरे कहने से तुम स्वीकार कर लो। उनको मालूम है, वो तो जानते हैं कि तुम उनकी हो। तुम्हें याद नहीं है। मेरे कहने से लाली ! एक बार मान लो। तो झकमार कर मैंने मान लिया। लेकिन सन्त की कृपा, भगवत्कृपा, मानव जीवन की मंगलकारिता, अहं में इस स्वीकृति के आते ही जीवन बदलता है, सृष्टि बदलती है और जो कहीं पर अत्यन्त छिपा हुआ, बड़ा रहस्य मय, जिसका कहीं trace नहीं मिलता, उसकी उपस्थिति का अनुभव करने की क्षमता साधक में बढ़ जाती है। कैसे बढ़ जाती है। ये सब कलायें वे कलाकार जानते हैं। सबसे बड़े कलाकार हैं उनको सब विधि आती है कि बिगड़े बिगड़े मिजाज के लोगों में कैसे अपनी उपस्थिति को स्थापित कर दें Stamp लगा दें। जैसे आँख में उँगली डालकर दिखा दें। सब कलाएँ वे जानते हैं मनुष्य के अहं में विलक्षणता है कि सत्य की स्वीकृति को ले सकता है और स्वीकृति लेने मात्र से उसमें परिवर्तन हो जाता है। यह सब बातें आपके जीवन के सत्य के रूप में संघ की ओर से सेवा में निवेदित हैं । अब शान्त हो जाइये।

(96)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो,

संत–वाणी में बहुत सी आवश्यक बातें हम लोगों को सुनने को मिलीं। एक वाक्य, जिसका विश्लेषण करेंगे, यह है कि 'सुखसे दुःख दब जाता है सुख से दुःखों का नाश नहीं होता।' बहुत अच्छी बात है। सुख की ओर से अपने को हटाने के लिए इससे बल मिलेगा।

किसी भी प्रकार के सुख–भोग को देख लीजिये। जीवन दाता ने, सृष्टिकर्ता ने प्राणियों को शरीर धारी बनाकर संसार में रखा, तो कई प्रकार के सुख भी दिये। उसमें से हम लोग भी अपना– अपना

जीवन देख ले सामने रख कर। हमें भी अब तक दुःखों के साथ कई प्रकार के सुख मिल चुके हैं, तो विचार इस विषय पर करना है कि सुखों के आधार पर दुःखों का नाश हो गया कि नहीं ? तो अपना अनुभव क्या है ? कि दुःखों का नाश नहीं हुआ। कुछ समय के लिये दुःख दब जाता है, पर खत्म नहीं होता। इससे भी बड़ी हानिकारक एक प्रतिक्रिया यह होती है कि जितना अधिक सुख हम पसन्द करते हैं उतनी ही अधिक पराधीनता, असमर्थता बढ़ती चली जाती है।

मनुष्य को चाहिये नित्य योग, मनुष्य को चाहिये अमर जीवन और परम प्रेम के रस से भरपूर जीवन। नित्य–योग, तत्त्व बोध, परम प्रेम– ऐसा जो जीवन है, जिसकी हम सब भाई बहनों को माँग है, उसकी अभिव्यक्ति सुख भोग के आधार पर नहीं हो सकती– इस बात को आप अपने द्वारा सही मानते हैं कि नहीं? इस विषय पर विचार करिये अपने द्वारा और साथ– साथ निर्णय लेते जाइये। सचमुच जो लक्ष्य है मानव जीवन का सचमुच जिस प्रयास में यहाँ हम सब लोग आये हैं और जीवन की चर्चा कर रहे हैं; उसको सामने रख कर देखिये तो दुःख निवृत्ति, चिर–शान्ति, नित्य–योग तत्त्व बोध, परम–प्रेम वो सब जो ऊँचे मूल्य हैं मानव जीवन के वो सुखभोग के आधार पर कभी भी सुलभ नहीं हुए। यह बात कोई बतायेगा तब हम जानेंगे, ऐसा नहीं है। सुख–दुःख के बीच में से होकर निकलते हुए इतने वर्ष बीत गये, और अच्छी तरह से इस बात को हम लोगों ने जान लिया कि शरीर और संसार के संयोग से मिलने वाले सुख के आधार पर जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ। तो अब क्या करना चाहिये ? इसी विषय को दोहराते नहीं रहना चाहिये, बल्कि सुख की ओर से अपने को हटाना चाहिये। इतनी हिम्मत हम लोगों की होनी चाहिये। अगर ऐसी हिम्मत नहीं करेंगे, तो काम नहीं बनेगा। यह बहुत जरूरी बात है। पहला कदम यह हो गया।

अब दूसरी बात सोचने में ऐसी आती है। जब ईमानदार साधकों के बीच में चर्चा होने लगती हैं, तो ऐसी बात आती है कि क्या किया

जाय अपने को इस बात का पूरा पक्का परिचय है कि सुख – भोग काल में अविनाशी जीवन का आनन्द सम्भव नहीं हुआ। और सुख–भोग के आधार पर दुःखों का अन्त नहीं हुआ। इतना जानते हुए भी पता नहीं भीतर में कैसी एक दुर्बलता है कि जब सुख सामने आता है तो उसको छोड़ा नहीं जाता। ऐसी दुर्बलता भी साधक समय–समय पर अनुभव करते रहते हैं। जानते हुए भी छोड़ा नहीं जाता तो और क्या उपाय करें ? इसके लिए एक बहुत ही प्रैक्टिकल, बहुत व्यावहारिक उपाय अनुभवी सन्त–जन बताते हैं, और वो कहते हैं कि कि एक काम करो, अगर तुम्हारे सामने किसी प्रकार का सुख आवे, तो तुम उसको लेकर के दुःखियों की सेवा में लगाना आरम्भ करो। इसमें अच्छा रहता है। ऐसा करने में अपने को विशेष कठिनाई नहीं होती ? मैंने देखा है, अपनी बहुत–बहुत सी प्रतिकूल परिस्थितियों को मैंने देखा है और बहुत ही प्रतिकूलता के बीच में प्रभु के मंगलमय विधानसे, (यह बात में अब कहती हूँ उस समय कहती थी कि अपनी बहादुरी से) जब उन प्रतिकूलताओं पर मैंने विजय प्राप्त की अर्थात् उनका सामना करके उनके भीतर से अपने लिए रास्ता निकाला तो उन क्षणों में मैंने देखा कि, जो थोड़ी सी सुविधा और थोड़ी सी अनुकूलता मेरे सामने आई, तो मेरे आस–पासमें रहने वाले कुछ लोग ऐसे थे जो उस अनुकूलता को, उस सुविधा को बाँटना पसन्द करते थे–ऐसा मैंने देखा है। आपने भी देखा होगा। अब यह दूसरी बात है कि दुःखी लोगों की ओर से आप आँखें बन्द कर लें, उनकी परवाह न करें, हृदय को कठोर बना लें तो भले न सूझे, लेकिन मैंने देखा है, मैंने अनुभव किया है। कितनी भी कठिनाई में पड़ा हुआ व्यक्ति क्यों न हो, उसके पुरुषार्थ से, कर्त्तव्यपालन से, प्रभु के मंगलमय विधान से, प्रकृति की उदारता से कोई अनुकूलता उसके सामने आ जाय तो उस अनुकूलता में हिस्सा लेने वाले बहुत से साथी उसके सामने खड़े हो ही जाते हैं। ऐसा होता है। तो अब मैं इसको प्रभु का मंगलमय विधान मानती हूँ और मनुष्य को साधना में आगे बढ़ने में सहायक भी मानती हूँ।

हम लोगों को आये हुए सुख को बाँटने के लिए कहीं दूर–दराज पात्र खोजने के लिए जाना नहीं पड़ेगा। आप अपने को गृहस्थ मानते हैं, तो इस मान्यता की स्वीकृति के साथ ही आपके सुख के बहुत सारे हिस्सेदार हो जाते हैं। यह अच्छा इन्तजाम है संसार की ओर से। अपनी जड़ता को छोड़ने में इससे बहुत मदद मिलती है, और अपने को सुख की वासनाओं से मुक्त करने में भी बड़ी मदद मिलती है। मैंने कई ऐसे उदारमना सज्जनों को देखा है कि उनके पास किसी प्रकार की अनुकूलता आ गयी, तो स्वयं उसको अपने काम में न लेकर दुःखी जनों में उसको लगा देने में उन्हें विशेष हर्ष होता है। बहुत आराम मिलता है उनको ; बड़ा आनन्द आता है। तो प्रकृति तथा परमात्मा की ओर से ऐसा इन्तजाम है इस संसार में, कि प्रत्येक परिस्थिति का व्यक्ति आयी हुई अनुकूलता से काम ले सकता है, उसको साधन सामग्री के रूप में रख सकता है और उसका सदुपयोग करके अपने को सुख की वासनाओं से मुक्त कर सकता है।

महात्मा टॉलस्टॉय का साहित्य मुझको पढ़ने के लिए मिला। एक स्थान पर उन्होंने लिखा कि भगवान ने सृष्टि बनाई, और सब प्रकार से उसको सजाया। फल, फूल, हवा, जल, पर्वत, नदी, चाँद, तारे, आकाश, धरती–सब प्रकार से इसको सजाया और जब उनकी सृष्टि सब प्रकार से सज गयी तब उन्होंने उसमें मनुष्य को भेजना पसन्द किया। मनुष्य को भी बहुत प्रकार की शक्तियाँ उन्होंने दी और जब उन्हें अपना बनाया हुआ मनुष्य बहुत प्यारा, बहुत अच्छा लगा, और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी मैंने सब प्रकार से–बल से, धन से सम्पन्न कर दिया, अब यह संसार में भेजने के लायक हो गया तो उसमें एक चिन्तन आया और वे सोचने लगे कि सारी सृष्टि से अधिक बुद्धिमान और बलवान बना कर इस अपने क्रीचर को, इस शरीरधारी प्राणी को दुनिया में भेज रहा हूँ अगर वहाँ जाकर यह अपने बल का दुरुपयोग करने लगेगा, हमारे दूसरे कम बुद्धिमान प्राणियों को सताने लगेगा तो

इसको कौन रोकेगा। ऐसा चिन्तन आने पर उन्होंने सब शक्तियों को बुलाकर पूछा। तन के बल से पूछा कि भई ! हम तुमको इस आदमी के साथ भेज रहे हैं ससार में, लेकिन वहाँ जरूर यह दुर्बलों को सतायेगा तो तुम क्या करोगे ? तन के बल ने कहा– महाराज, आप तो मुझे इसका दास बनाकर भेज रहे हैं, मैं क्या करुँगा ? इसके जो जी में आयेगा सो करेगा। फिर बुद्धि के बल को बुलाकर पूछा। फिर एक–एक करके हर शक्ति से जिससे कि सम्पन्न करके व्यक्ति को दुनियाँ में भेज रहे थे भगवान ने पूछा कि यह मेरा बनाया हुआ जो सबसे अधिक बुद्धिमान और बलवान है, यह जा रहा है संसार में, वहाँ जाकर यदि दुर्बलों को सतायेगा तो तुम लोग रोकोगे ? तो सबने इन्कार कर दिया। कहा कि महाराज, हम लोग कैसे रोकेंगे , हम लोगों को तो इसको दास बनाकर भेजते हैं। हम तो नहीं रोक सकेंगे इसे।

महात्मा टॉलस्टॉय ने लिखा कि जब इस बात का विचार हो रहा था कि मनुष्य को संसार में कौन सँभालेगा, तो उस सभा में पुत्री 'करुणा' भी बैठी थी, उसने उठकर कहा कि हे पिता ! आप मनुष्य के रचने वाले हैं; आपने हम सभी की रचना भी की है और मनुष्य के साथ संसार में भेज रहे हैं। मेरी यह प्रार्थना है कि मनुष्य के हृदय में आप मुझे बैठा दीजिए और मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि जब तक मैं बैठी रहूँगी मनुष्य के हृदय में, तब तक मनुष्य संसार में कोई अनर्थ नहीं करेगा–यह पुत्री 'करुणा' ने परमात्मा को आश्वासन दिया। इसका अर्थ क्या है ? इसका बड़ा भारी अर्थ है। जब टॉलस्टॉय महाशय का साहित्य मुझे पढ़ने को मिला था तब मैंने नहीं समझा था। लेकिन साधना के पथ पर चलने वाला, सुख की वासनाओं से बँधा हुआ साधक जब नित्य–योग, तत्त्व–बोध और परम–प्रेम के पथ पर चलने में अपने को असमर्थ पाता है तो उस असमर्थता से उसको कौन बचाता है ? उसे असमर्थता से मुक्त करने में कैसे सहायता मिलेगी ?– यह प्रश्न जब मेरे सामने आया तब स्वामी जी महाराज की सलाह में मैंने करुणा का महत्त्व समझा।

कितने जन्मों में शरीर की सहायता से सुख भोगने की वासनामें फँसा हुआ व्यक्ति सत्संग के प्रकाश में जब वासनाओं से मुक्त होना चाहता है, तो उसको करुणा से बड़ी सहायता मिलती है। बड़ी बढ़िया बात है। पुत्री 'करुणा' आपके हृदय में विराजमान है। उनका आदर करिये। क्या करें ? कि जब आपके सामने शक्ति और सामान आवें, अनुकूलता और सुख आवें, तो करुणा से द्रवित होकर दुःखी जनों के दुःख से हृदय को कोमल बनाकर, करुणा से प्रेरित होकर दुःखियों की सेवा में लग जाइये। तो मेरा ऐसा विचार भी है, और विश्वास भी है, पढ़ा हुआ भी है और केवल पढ़ा हुआ ही नहीं, समझा और जाना हुआ भी है, कि वासनाओं से प्रेरित होकर सुख भोगने में मनुष्य को जैसा लगता है, करुणा से द्रवित होकर सेवा करने में उससे कहीं अधिक ऊँचे जीवन की अनुभूति होती है। ऐसा नहीं कि जगत् की ओर से रूठ कर बैठ जाओ, या छोड़कर भाग जाओ। उतनी सामर्थ्य होती तो कौन पकड़ सकता था हमको ? उतनी सामर्थ्य तो है ही नहीं।

अब केवल इतनी सी बात है कि शरीर भी अच्छा लग रहा है; शरीर का बल भी अच्छा लग रहा है, संगी–साथी भी अच्छे लग रहे हैं और सुख–भोग की सामग्री भी अच्छी लग रही है और इतने घेरे में हमने अपने को घिरा हुआ पाया तो अब फंदे में से निकलें कैसे ? तो निकलने का बड़ा सहज और स्वाभाविक उपाय यह है कि भाई ! हृदय में जो करुणा का तत्त्व है, उसको महत्त्व देना चाहिए ; उसका आदर करना चाहिए और किसी भी कठिनाई में पड़े हुए व्यक्ति को देखकर अपने पास जो सामग्री है, उसको सहयोग में लगा देना चाहिए। सामग्री है तो सामग्री लगा दी जाय और सामग्री नहीं है तो शरीर का बल लगा दिया जाय और शरीर में बल नहीं है तो हृदय का सद्भाव लगा दिया जाय। इतना तो जरूर है अपने पास, कि नहीं? इतना तो है। तो जो है अपने पास, वह लगा दिया जाय।

करुणा के रस से व्यक्तित्व में जब तरलता आती है तो सुखभोग की वासना खत्म हो जाती है। मोह की पीड़ा से पीड़ित होने पर मोह

के घेरे से बाहर निकल कर और बृहद् समाज में शामिल होकर, सारी सृष्टि को एक मान कर दुःखी मात्र के प्रति अगर सद्भाव रखा जाय, तो सुख की वासनाओं पर विजय पाने में सहायता मिलेगी।

मैंने पढ़ा था पण्डित जवाहरलाल जी के पिता की बात। युवक थे जवाहारलाल जी और देश में परतन्त्रता मिटाने का आन्दोलन चल रहा था। पहली बार जब उनको जेल हो गयी तो जेल में जमीन पर कंकड़, पत्थर पर सुलाया गया। मोतीलाल जी ने जब सुना कि उनका लाडला जवाहर, बहुत ही सुख से पाला हुआ इकलौता बेटा, आज कंकड़ पर सोयेगा। तो उन्होंने अपने निवास स्थान आनन्द भवन में अपने सोने के कमरे में से, पलंग निकलवा दिया, बिस्तर हटा दिया, और कंकड़ बिछवा दिया और उस पर लेट गये। अनुभव करेंगे प्यारा दुलारा जवाहर कैसे जेल में कंकड़पर सोया ? तो बेटे के कष्ट से हृदय जब द्रवित हुआ तो आनन्द भवन में सुखद बिस्तर पर मोतीलाल से सोया नहीं गया। मोह के सम्बन्धियों की पीड़ा से पीड़ित होकर ऐसा होता ही है। बाल–बच्चों को दुःख सुन लें, तो माता–पिता से सुख भोगा नहीं जाता है। हमेशा ही ऐसा होता है।

एक पत्नी को मैं जानती हूँ। पति का स्वर्गवास हो गया। वियोग की पीड़ा से पीड़ित हो गयीं तो पति को जो –जो बातें पसन्दथीं–खाना–पीना, रहन–सहन, चीज–सामान किसी का भी उपयोग उनसे किया नहीं जाता था पति के देहान्त के बाद । उन सब वस्तुओं की ओर से ऐसे ही एकदम चित्त हट गया। मोह की पीड़ामें पड़कर सुख–भोग की वासना का त्याग कर सकता है व्यक्ति, तो साधना की दृष्टि से दुःखी मात्र के दुःख को हृदय में भरकर करुणा के रस से सरस और पवित्र होकर सुख–भोग की वासना नहीं छोड़ सकेगा ? जरूर छोड़ना चाहिये। अब 'चाहिये' कहेंगे तो उनमें भी थोड़ा सा आपकी ओर से प्रयास लगता है, लेकिन वह छूट ही जायगा। यह स्वाभाविक बात है। ऐसा हम लोगों को करना चाहिए।

मैंने ऐसे साधक को देखा है कि जिन्होंने सुख बाँट करके दुःखियों की सेवा में अपने को लगाया और किसी महापुरुष के सम्पर्क में उनसे मार्गदर्शन लेते रहे और खूब जी–जान से सेवा करते रहे। सेवा करने से उनके भीतर बल बढ़ता गया, जीवन में उदारता आती गयी, करुणा का रस बढ़ता गया–मैंने बहुत अच्छी तरह से इस बात को जाना। थोड़े–थोड़े दिनों के बाद वे अपने गुरुके पास आते और अपने अन्तर् की दशा बताते' और देखते कि सेवा के परिणाम से पूरी तरह से शुद्धि हुई कि नहीं, कहाँ–कहाँ कौन–कौन सा राग छिपा रह गया है, यह देखकर अभी थोड़े दिन और करेंगे, फिर चले जाते, और त्यागपूर्वक सेवा करते, और कठोर तप करते। इस प्रकार वे अपना सुख छोड़ते गए, और सेवा करते गए। जैसे एक बीमार आदमी दवाई लेकर रोग से मुक्त होना पसन्द करता है, वैसे उस साधक ने अपनी जाँच करायी और दवाई खायी, ऐसा करते–करते आखिरी बात तक तो मुझे मालूम नहीं है, लेकिन इतना मुझे मालूम है कि बहुत विकास हुआ उनका। बिल्कुल स्वाभाविक बात है कि राग निवृत्ति अवश्य हो जाती है, क्योंकि करुणा के रस से जो हृदय में सरसता आती है, उससे सुख वासना धुलती है।

अब थोड़ा सा अन्तर है वो भी मैं स्पष्ट कर दूँ। कहीं किसी साधक भाई बहन के काम में आ जायगा। वो अन्तर क्या है ? कि जब माने हुए कुटुम्बियों के दुःखी होकर आप सुख छोड़ते हैं, तो सुख की जड़ नहीं कटती है, क्योंकि मोह की पीड़ा जो है वो आपको स्वाधीन नहीं होने देती है। सोचना इसको। जिनको शरीर के नाते से नातेदार माना, उनके दुःख से दुःखी होकर के भी आदमीसुख छोड़ता है, लेकिन वो मोह का जो बन्धन है वो व्यक्ति को निर्विकार नहीं होने देता और सुख की वासना की जड़ नहीं कटती है। मोह की पीड़ा व्यक्ति को और भी अधिक पराधीन बनाती है,और भीतर–भीतर दुर्बलता आती है। जैसे पैदा की हुई सन्तान के दुःख से दुःखी हो जाओ तो भीतर–भीतर

दुर्बलता बढ़ती है, और दुःख से, मोह की पीड़ा से तरह–तरह के शारीरिक और मानसिक रोग सताने लगते हैं। लेकिन उसके विपरीत प्रकृति के नाते, सब प्राणी एक हैं, प्रभु के नाते सब प्यारे हैं, आत्मा के नाते सब निज स्वरूप हैं। तो ऊँचा दृष्टिकोण ले करके भौतिक दर्शन, अध्यात्म दर्शन, और आस्तिक दर्शन के आधार पर, जो मानव जीवन का सत्य है, उस सत्य का आधार लेकर जब आप उन व्यक्तियों की सेवा में लगते हैं, जिनसे आपका मोह का सम्बन्ध नहीं हैं; परमात्मा के नाते आपने उनको अपना माना, आत्मा के नाते आपने उनको अपना माना–इस प्रकार से जब सेवा के लिए आप चलते हैं, तब ह्रदय में करुणा का रस बढ़ता है। और करुणा का रस जो है वह अपने को परम पवित्र बनााने वाला है। राग का नाश करने वाला है। चित्त को शुद्ध करने वाला है। वासनाओं का अन्त करने वाला है, इतना अन्तर होता है।

अब व्याख्यान जो होता है उसमें एक दोष भी होता है कि सब प्रकार के साधक सुनते हैं, हर एक पर अलग–अलग प्रतिक्रिया होती है। बात तो मैं एक बोल रही हूँ, सुनने वाले अलग–अलग होते हैं। प्रतिक्रिया भी अलग–अलग होती है। कई बार मैंने ऐसा देखा कि मोह के कारण से ग्रसित होकर के बिना जरूरत के भी परिवार में चिपके रहने वाले भाई बहन कभी–कभी कहने लग जाते हैं कि आप ही लोग तो सुनाते हैं कि भाई, परिवार में रहकर परिवार की सेवा करो। तो हम कहते हैं कि भाई, हमेशा के लिए थोड़े ही कह रहे हैं। अब बहाने बनाओगे अपने लिए तो उसका तो कोई उपाय नहीं है। ऐसा तो नहीं कहा गया कि हमेशा के लिए उस मोह के घेरे में चिपके रहो। ऐसा कहा गया कि तुम्हारे में गृहस्थ बनने का राग था, तो प्रकृति के विधान ने, परमात्मा की मंगलकारिता से तुम्हें गृहस्थ बना दिया। तो पैदा किये हुए बच्चे, जिनको तुमने अपने बच्चे करके माना है, वे जब तक समर्थ नहीं होते हैं तब तक उनकी देखभाल करने के द्वारा अपने को

राग मुक्त करो। और वे जब समर्थ हो जायें तो उस मोह के घेरे में से अपने को निकाल लेना चाहिए और जिन दिनों में आपने गृहस्थ होकर, माता–पिता होकर बच्चों के पालन का दायित्व निभाया, उन दिनों में भी आपको सत्संगी होने की सलाह दी गयी थी। यह नहीं कहा गया था कि प्रकृति ने मौका दिया है, राग से मुक्त होने के लिये तो और नित नये राग में जमते जाओ—ऐसा नहीं कहा गया। ऐसा कहा गया कि माँ–बाप बनते हो तो बच्चों के लिये माँ–बाप बनो और उनके लिये हितकारी काम करो, उनकी सेवा करो, उनका पालन–पोषण करो, परन्तु उनको अपनी तृष्णाओं की खुराक मत बनाओ। इतने अच्छे माता–पिता बनो कि फिर से तुम्हारे सन्तान पैदा करने की नौबत न आवे। तब न जन्म–मरण का सिलसिला खत्म होगा। यह बात समझ में आती है ? परिवार के साथ सम्बन्ध का निर्वाह इतने अच्छे ढंग से करिये कि फिर दुबारा घरबार बनाने की मुसीबत न आवे। अगर राग से मुक्त आप नहीं होगें, बच्चों के लिए माँ–बाप नहीं बनेंगे, अपने लिए बच्चों को मानेंगे तो बच्चे विकृत हो जायेंगे।

मैंने विकृत बच्चों को सुधारने का, Problem Children को सँभालने का, वैज्ञानिक अध्ययन किया। उसमें बताया गया कि माँ–बाप अपनी आसक्ति के प्रभाव से बच्चों को विकृत बना देते हैं, क्योंकि वे उनको अपनी खुराक बना लेते हैं। माँ–बाप के भीतर आसक्ति गहरी होती है तो बच्चों के व्यक्तित्व में विकृति आती है। उनको स्वतन्त्र रूप से तुम बढ़ने ही नहीं दोगे; अपनी आसक्ति की खुराक बना लोगे। गृहस्थ बनना भी साधन का एक कदम है कि भोग का लाइसैंस है? जी ? साधन का एक कदम है भाई ! उस काल में भी सत्संग के प्रकाश में परिवार के लिए हितकारी काम करना चाहिए और परिवार के साथ अपनी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए और जैसे ही पैदा किये हुए बच्चे समर्थ हो जायें तत्काल ही उनसे लगाव तोड़कर प्रकृति के नाते, परमात्मा के नाते, बृहद् समाज की सेवा में प्रवेश कर जाना चाहिए। तब क्या होगा ? आपके हृदय की उदारता बढ़ जाएगी, और आपके

हृदय में करुणा का रस द्रवित हो जायगा, तो उससे भी एक सरसता आती है। भीतर से उदारता और करुणा का रस आ जायगा तो सुख–भोगकी वासना खत्म हो जायगी। तो दवा करनी पड़ेगी भाई, इलाज करना पड़ेगा–तब इस बीमारी से हम लोगों को मुक्ति मिलेगी।

केवल यह जानने मात्र से काम नहीं बनता है कि सुख–भोगकी वासना बड़ी खराब है, इसको छोड़ देना चाहिये। क्या जाने कितने जन्मों से शरीर की आसक्ति को हमने पाला और उसके आधार पर सुख भोगना पसन्द किया। बीमारी तो बहुत पुरानी हो गयी है। अब केवल इस बात को जानने से काम नहीं बनेगा कि यह बीमारी बड़ी खराब है, और यह नित्य–योग में, तत्त्व–बोध में, परम–प्रेम में आगे नहीं बढ़ने दे रही है। इस बात की जानकारी मात्र से काम नहीं चलेगा। उस बीमारी को मिटाने के लिए आज जो कुछ हो सकता है सो सब करने से काम बनेगा। तो ऐसा है जीवन का विधान। बीमारी दूर नहीं होगी–ऐसी बात नहीं, हो जाएगी जरूर–जिन–जिन लोगों ने पसन्द किया उन सब की बीमारी दूर हो गयी। तो दूर हो जायगी जरूर, लेकिन आवश्यक बात क्या है ? कि अपने को फुसलाये नहीं, बहलाये नहीं, अपने को धोखा न दे। व्यक्तिगत सत्संग जरूर करें, अकेले में बैठकर सोच–विचार करते रहें। भीतर से जो वासनाएँ उपजती रहती हैं, चेतन स्तर पर आती रहती हैं, इनको छिपाये नहीं, दबायें नहीं, उनको मिटाने का उपाय करें।

आपने सुना होगा, यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी है और साधकों को इस बात का पता भी है कि सुख भोग की वासनाओं को जितना प्रश्रय दो, उतनी ही वे बढ़ती चली जाती हैं। जितना ही भोग का अवसर दो, तृष्णायें उतनी ही तीव्र होती चली जाती हैं। तो वो उपाय तो काम करेगा नहीं और अधिक–अधिक खुराक उसमें डालना नहीं है, इसलिए संयम–नियम की बात सामने आती है। वो भी रखना चाहिए। भीतर से नयी–नयी कामनायें पैदा होती रहती हैं, नयी–नयी इच्छायें उत्पन्न होती रहती हैं तो उनका समर्थन भी हम लोगों को नहीं करना चाहिए

और अपने को छूट भी नहीं देनी चाहिए। तो अपने को रोक करके भी रखें, संयम भी रखें और भीतर से उनका उदित होना खतम हो जाये, उसके लिए ज्ञान–पूर्वक, प्रेम–पूर्वक सेवा करनी चाहिए। किसकी सेवा करनी चाहिए ? पहले तो उनकी कर लें जिनको तुमने शरीर के नाते अपना माना या पैदा किए बच्चे समर्थ हो गये, तो ज़ल्दी से उनसे विदा लेकर, उनकी आसक्ति को छोड़कर प्रभु के नाते जगत् के दुःखी जनों की सेवा में लग जाओ। जब मोहरहित व्यक्तियों की सेवा में लगो, तब भीतर से शुद्धि आयेगी, पवित्रता आयेगी, तरलता आयेगी, सरसता आयेगी और वासनाओं से मुक्ति मिलेगी। यह उपाय है, और हम लोगों को आरम्भ भी कर देना चाहिए। ज्यादा दिन सोचते–विचारते रहने में पता नहीं कितना समय निकल जाय? फिर आगे कुछ पता नहीं है। इसलिए इसमें देर नहीं लगानी चाहिए तत्काल आरम्भ कर देना चाहिए जितना ही आप उसमें बढ़ते चले जायेंगे, उतना ही अधिक आपको साधना के पथ पर आगे सरलता मालूम होगी। और लक्ष्य पर दृष्टि रखने से उत्साह भी रहता है। विश्वास रखने से और अधिक बल मिलता है। तो नित्य जीवन में भी विश्वास रखना है; परमात्मा के अस्तित्त्व में भी विश्वास रखना है और सब ओर से हम लोगों को सहायता मिलेगी–इस बात को भी दिल में रखना है दृढ़ता पूर्वक। संत जनों की सद्भावना भी मिलेगी। प्रभु की कृपालुता भी मिलेगी और उस बल पर हम लोगों को साधना में आगे बढ़ने में सहायता भी मिलेगी। तो इन सब बातों पर, एक साथ अपने को दृढ़ता से आगे बढ़ना चाहिए। अब आप शान्त हो जाइये।

(97)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

स्वामी जी महाराज ने तीन व्रतों का उल्लेख किया है।

१. सेवा करने के लिए सभी को अपना मानो;

२. अपने सुख के लिए किसी को अपना मत मानो। और

३. प्रेमी होने के लिए केवल प्रभु को अपना मानो।

मानने का स्वभाव हम लोगों को का है। किसी न किसी को हम लोग अपना मानते ही हैं और किसी न किसी कारण से मानते हैं। बहुत सी वस्तुओं को अपना माना; बहुत से व्यक्तियों को अपना माना और किसी के साथ कुछ किसी के साथ कुछ अपना सम्बन्ध रखा। मानना तो आता है हमें, स्वीकृति भी मनुष्य के जीवन में है ही, परन्तु भगवद् अनुरागी सन्त ऐसा बताते है कि विवेक विरोधी स्वीकृतियों को जीवन में रखने से अनेकों विकारों का जन्म हो जाताहै। संसार में ऐसा कोई साथी नहीं मिलेगा जो हमेशा के लिए हमारा साथ दे सके और जिसका साथ हमेशा के लिए प्रिय लग सके। इस लिए केवल प्रेमी होने के लिए प्रभु को अपना मानना– यह विश्वास का सबसे ऊँचा और सबसे बढ़िया उपयोग है।

कुछ करने का बल है तो सेवा करनी चाहिए। ऐसे ही विचार की शक्ति जो है मनुष्य में, उसका सर्वोत्तम उपयोग है, निज स्वरूप की खोज में। संसार के स्वरूप का परिचय लेना, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, जिसकी केवल प्रतीति हो रही है, उसके प्रभाव से अपने को मुक्त कर लेना – विचार शक्ति का सबसे बढ़िया उपयोग है। बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को, केवल प्रेमी होने के लिए अपना मान लिया जाए। इसी आधार पर मानव सेवा संघ की प्रणाली में ऐसा कहा गया कि सत्संग में कोई भी भाई कोई भी बहन, पराधीन तथा असमर्थ नहीं है अर्थात् सत्य की स्वीकृति में कोई भी भाई–बहन पराधीन नहीं है। क्यों पराधीन नहीं है ? क्यों कि इसमें बाहरी वस्तु व्यक्ति अवस्था, परिस्थिति की सहायता नहीं चाहिए। दो चार लोग सहायता करेंगे, तब हम सत्यको स्वीकार करेंगे, शरीर बड़ा बलिष्ठ होगा तब हम परमात्मा को मान पाएँगे, बहुत दिनों तक उपवास करेंगे तब परमात्मा

को स्वीकार कर पाएँगे, ऐसी बात नहीं है। बड़ा पढ़ना लिखना करेंगे, बहुत अध्ययन होगा तब यह स्वीकृति बनेगी, ऐसा नहीं है।

जो जीवन सबसे उत्तम है और जो सबके लिए समान रूप से अनिवार्य है, उसमें व्यक्ति को पराधीन नहीं बनाया गया। बड़ी स्वाधीनता है इस क्षेत्र में कि हम चाहे कैसी भी स्थिति में हों, यदि स्वयं के द्वारा उस अलख, अगोचर, अविनाशी परमात्मा को अपना मानना पसन्द करें, तो कर सकते है। कोई मना नहीं कर सकता, कोई रोक नहीं सकता। इतनी स्वाधीनता है। और प्रेम–पन्थ का साधक होने के लिए यह ऐसा अनिवार्य तत्त्व है कि जो परमात्मा को अपना मानने के लिए तैयार नहीं है वह किसी विधि–विधान से भक्त नहीं हो सकेगा। दोनों ही बातें देख लो जो इस सत्य को स्वीकार करना पसन्द करेगा, उसको किसी भी प्रकार की शक्ति बाधा नहीं डाल सकती है। जिसे अपने द्वारा स्वीकार करना है, उसे हम कर सकते हैं लेकिन इस सत्य को अगर आप स्वीकार करना नही चाहते हैं तो किसी भी जप से तप से, क्रिया से विधि–विधान से आपके भीतर परमात्मा का प्रेम प्रकट हो जाय, यह सम्भव नहीं है। इसी को मौलिक सत्य कहते हैं इसी को सर्व मान्य सत्य कहते हैं इसी को आस्तिक दर्शन का सत्य कहते हैं। यह एक ऐसी चीज है कि जो स्वीकार कर ले, वह चाहे किसी विधि विधान को करे तो न करे तो; माने तो न माने तो बल हो तो न हो तो कुछ परवाह नहीं केवल इस सत्य की स्वीकृति मात्र से उसके जीवन में परिवर्तन आ जाता है। अहं में परिवर्तन आता है।

अपने ही में विद्यमान अपने परम आत्मीय परमात्मा स्वयं ही प्रकट होकर उस साधक को विश्वास भी दिला देते हैं, शक्ति भी दे देते हैं उसके दिए हुए प्रेम भाव को आदर पूर्वक स्वीकार भी कर लेते हैं और खुद अपना ही प्रेम उसमें भर के, उसे अपना प्रेम पात्र बना लेते हैं। यह सब होता है। तो एक तो इस बात पर मैं भाई बहनों का ध्यान दिलाना चाहती हूँ कि बहुत से ईश्वर विश्वासी साधक, कई बातों में

बाहरी विधि विधानों में फँसे रहते है; सोचते हैं कि इतनी संख्या में इतना काम पूरा हो जाएगा तो भगवान मिल जाएगे। कोई कुछ सोचते हैं, कोई कुछ सोचते हैं। स्वामी जी महाराज कहते कि तुम यह सोचो कि नाम की संख्या का महत्त्व है कि नाम तुमको प्यारा लगे, इसका महत्त्व है ? प्रेम स्वरूप परमात्मा से अभिन्नता प्रेम तत्त्व के आधार पर होती है, न कि किसी क्रिया विशेष के आधार पर। जो भी नाम–निष्ठ सन्त हुए हैं; जिन्होंने प्रभु के नाम को ही आधार माना, उनमें भी शब्द और क्रिया की महिमा नहीं थी। नाम के प्रति उनकी बड़ी गहरी निष्ठा थी। तो प्रधानता निष्ठा की हो गई, शब्द की नहीं हुई।

नाम–निष्ठ बड़े बड़े सन्त हुए हैं उनके जीवन को आप देखेंगे तो पायेंगे कि उनमें क्रिया का महत्त्व नहीं था। नाम के प्रति उनकी ऐसी ही निष्ठा और ऐसी ही प्रियता थी जैसी नामी के प्रति होती है। उन्होंने उसको अपना इष्ट माना, उसको अपना साध्य माना और अपने सम्पूर्ण जीवन की सारी भावनाएँ उस नाम से attach कर दी। उसी से उनको जोड़ दिया। मैंने जो मानव जीवन की व्याख्या की, तो पाया कि महत्ता इस बात की है कि मनुष्य की सारी जीवन–शक्ति एवं सम्पूर्ण भावनाएँ नाम के प्रति रूप के प्रति, लीला के प्रति, ध्यान–धाम के प्रति प्रभु की महिमा के प्रति लग गई, कि नहीं लग गई ? इस बात की विशेषता है। ऐसा नहीं कि तन भी बना रहे, धन भी बना रहे, कुटुम्ब भी बना रहे, दुनियाँ में नाम, सम्मान, सुख–सुविधा सब बनी रहे और उसके साथ ही भक्त भी हो जाऊँ। जहाँ अन्य नाशवान वस्तुओं परिस्थितियों और व्यक्तियों का महत्त्व है, जहाँ अन्य नाशवान के प्रति खिंचाव और आकर्षण हैं, ऐसे व्यक्तित्व में वह परम पवित्र प्रेम प्रवाहित नहीं होता है। तो परिवर्तन प्रभु की ओर से नहीं होना है। वे सब समय, समान रूप से सभी में भीतर–बाहर विद्यमान हैं ही। ऐसा नहीं कि हमारे नाम लेने से वे बन जाऐंगे और नहीं लेने से बिगड़ जायेंगे, नाम लेने से सब सिद्ध होगा और नहीं लेने से नहीं होगा।

सत्य उसको नहीं कहते हैं जो अपनी उपस्थिति के लिए किसी और की अपेक्षा रखता हो। वह तो स्वयं–सिद्ध होता है, स्वतः सिद्ध होता है। तो ऐसे जो परमात्मा है, वे हमारे विधि विधान से हमारे साधन से, हमारी श्रद्धा भक्ति से बन जाते हों और श्रद्धा खत्म हो जाए तो बिगड़ जाते हो ऐसी बात नहीं है। वे तो रहते ही है, हमेशा ही है। समान रूप से भीतर–बाहर सब तरफ विद्यमान ही है। तो मैंने सोचा के अन्तर कहाँ आता है ? इसके लिए मनुष्य के अहं रूपी अणु की बनावट पर थोड़ा सा विचार कर लीजिए।

अहम् रूपी अणु मैं किसको कहती हूँ ? कि हम सभी लोग एक और अपने अस्तित्व का अनुभव करते है। भीतर–बाहर अपने आपको हर समय भासित होता रहता है कि 'मैं हूँ' तो यह हाथ मैं नहीं हूँ। ये आँखें मैं नहीं हूँ। क्योंकि हाथ के कट जाने के बाद भी मैं हूँ और आँखों के खराब हो जाने के बाद भी मैं हूँ और पाँव कट जाने के बाद भी मैं हूँ। और मैं हूँ कहने के लिए वाणी काम न करे, जुबान बन्द हो जाए, तो भी मैं हूँ। भीतर बाहर यह चेतना बनी रहती है कि 'मैं' हूँ। तो यह जिसके आधार पर हम लोग उसका अनुभव करते हैं यह हाड़ मांस का बना हुआ नहीं है, भौतिक तत्त्वों का बना हुआ नहीं है। जानने वाले जो ज्ञानीजन हैं, अनुभवी संतजन हैं वे कहते हैं कि इस मैं–पन की रचना जो हैं वह अलौकिक तत्त्व की है। शरीरों की रचना स्थूल सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर की जो रचना है, यह तो भौतिक तत्त्वों से हुई है और इस 'मैं' की रचना अलौकिक तत्त्व से हुई है इसलिए इसमें यह सामर्थ्य है कि यह जब चाहे तब, जब पसन्द करें तब उस अलौकिक तत्त्व की सत्ता को स्वीकार कर सकता है उस अलौकिक तत्त्व के आनन्द को, सातत्य को, उसके अविनाशी स्वरूप को अपने में प्रकट का अनुभव कर सकता है।

ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसा इसलिए हो सकता है कि यह 'मैं' स्वयं ही अलौकिक तत्त्वों से बना हुआ है। इसी आधार पर जो सिद्धान्त सत्य है, वह ऐसा है कि भाई ! इस 'मैं' का नाश नहीं होता है। यह

अविनाशी तत्त्व से बना हुआ मैं–पन भी अविनाशी ही है। अविनाशी होते हुए भी नाशवान शरीरों के साथ मिला लिया, तो मृत्यु का भय सिर पर चढ़ गया और बनने बिगड़ने वाले संसार की ओर आकर्षित हो गया तो आसक्ति के विकार में फँस गया। शरीरों की खातिर धन की महिमा को स्वीकार कर लिया तो लोभ के विकार में फँस गया। तो कहीं लोभ का भार ढो रहा है, कहीं मोह का भार ढो रहा है। अविनाशी होने पर भी अविनाशी की आनन्दमय अनूभूतियों से वंचित होकर नाशवान के साथ अपने को मिलाकर, नाश के भय से भयभीत होकर जी रहा है। अपने पर यह दशा लागू हो रही है कि नहीं ? कि नहीं हो रही है अब इसमें से निकलना अपने को अभीष्ट है और उसी के लिए हम सब लोग यहाँ आकर बैठे हैं तो अब कैसे इस दशा से निकले ?

बढ़ी बढ़िया बात है मनुष्य के अहं रूपी अणु की रचना में कि अपने सम्बन्ध में वह जिस स्वीकृति को स्वीकार कर लेना है उसी के साथ वह अपने को मिला देता है। उसी से उसका तादात्म्य हो जाता है। तो अन्तर क्या हुआ ? अन्तर इतना हुआ कि चूँकि वह अविनाशी तत्त्व से बना हुआ, इसलिए जब वह अपने को नाशवान शरीर और संसार से मिला कर, इनका सुख लेना पसन्द करता है तो इसकी–उसकी जातीयता तो है नहीं, अतः चाहता तो है मिलाकर रखना, पसन्द तो करता है इनके साथ मिलकर रहना, लेकिन दोनों का मेल कभी बैठता नहीं है। तब क्या होता है ? बहुत प्रकार की अनुकूलता के बीच में वह भीतर–भीतर अस्थिरता सी अनुभव करता रहता है। उसको uneasy सा लगता रहता है। कुछ और चाहिए, कुछ और चाहिए। सब प्रकार की बाहरी अनुकूलता में भी व्यक्ति को सन्तुष्टि नहीं मालूम होती है। समझदार आदमी थोड़े में समझ जाता है कि भाई ! मेरा घर यह नहीं है। मेरे नाते रिश्ते कुटुम्बी ये नहीं है इनके बीच में रह करके सन्तुष्टि नहीं हो सकती। इसका अर्थ क्या है कि आपका मैं–पन बना है

अलौकिक तत्त्व से और वह चाहता है, अपने सजातीय से मिलना। उसके भीतर भूख प्यास उस अनन्त अंविनाशी के अनन्त ज्ञान–प्रकाश की है। उसकी भूख प्यास उस प्रेम स्वरूप परमात्मा के मधुर रस की है और हम लोग अपने उस स्वरूप को भूलकर, जब देह बुद्धि से जड़ता के स्तर पर उतर कर, इस जड़ जगत् के संयोग से सुख भोगना पसन्द करते हैं तो अनेक विकारों में फँस भी जाते हैं और भीतर–भीतर अपने को सन्तुष्ट भी नहीं कर पाते हैं।

यह आपकी जो रचना है, इसकी विशेषता यह है कि आप विजातीय के साथ मिलकर के दिल बहलाना चाहते हैं, तो दिल उसमें फँसता नहीं है। बहलता नहीं है। बार बार हमारी आसक्ति से हमारा मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ जगत् की ओर लगती है और बार बार स्वभाव से उधर से हट जाती है, क्यों कि इनसे हमारी सजातीयता नहीं है, बनने–बिगड़ने वाले से नहीं है। हमारी सजातीयता उस अविनाशी से है, उस अविनाशी आनन्दसे, उस अविनाशी प्रेम रस से है, इस बात पर अगर आपकी दृष्टि चली जाती है तो साधन के पथ की सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं कितना बड़ा भ्रम बैठा है अपने में कि हम लोग सोचते हैं कि हमने पसन्द किया था भगवान का भजन और मन इतना पाजी है कि वह संसार को ही पसन्द करता है। स्वामी जी महाराज कहते कि भैया ! मन का अगर स्वतंत्र अस्तित्व होता और वह तुम्हारी बात सुन करके उत्तर दे सकता होता, तो वह तुम पर मुकद्दमा दायर कर देता कि भूल करो तुम और दोष लगाओ मुझ पर। मन बेचारे का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मन भी तो एक करण है, इन्द्रियाँ भी करण है, बुद्धि भी करण है, कर्ता–धर्ता तो आप है।

इस दृष्टि से ईश्वर में विश्वास करने वाले सज्जन, ईश्वर में विश्वास करने वाले भाई–बहन यदि चाहते हैं कि इसी वर्तमान में, शरीर के नाश होने से पहले, उस अशरीरी अविनाशी परमात्मा से मेरी भेंट मुलाकात हो जाए और प्रेम के आदान–प्रदान का आनन्द आ

जाए, तो उनको अपने अहं की बनावट में विश्वास करना चाहिए। ध्यान देना चाहिए। विचार के द्वारा, मान्यता के द्वारा, आवश्यकता के द्वारा जैसे भी हो, अपने को यह बात समझा ही लो कि चाहे कुछ भी करो, इस विजातीय के साथ मिलकर रह नहीं सकोगे और यह विजातीय तुमको सन्तोष दे नहीं सकेगा। आज तक दे नहीं सका है। संसार और शरीर हम लोगों को सन्तोष दे नहीं सके। जो आज तक सन्तोष नहीं दे सका, वह आगे भी नहीं दे सकेगा। इसको यदि हम लोग पकड़ कर बैठना चाहते हैं, तो बैठ नहीं सकेंगे। इसमें अनवरत गति है; निरन्तर गति है कौन सी गति है निर्माण और विनाश की। एक ओर बनता जाता है, दूसरी ओर बिगड़ता जाता है। बनता जाता है, बिगड़ता जाता है। जहाँ निर्माण और विनाश का अनवरत क्रम चल रहा है, उसमें परम शान्ति चाहने वाले को संतोष मिलेगा ही नहीं। आज तक मिला नहीं यह हमारा आपका अपना जाना हुआ तथ्य है। और कभी मिलेगा नहीं, यह बहुत ही युक्ति–युक्त निर्णय है। खूब Logical Conclusion है कि यह आगे भी नहीं मिलेगा। एक तो अपने को इस बात को खूब समझना है।

दूसरी बात जो ईश्वर विश्वासी होंने के लिए अनिवार्य हैं, वह यह कि जिसका आभास तुम भीतर–भीतर हर समय पाते रहते हो, आवश्यकता अनुभव करते रहते हो, जिसकी विद्यमानता वह भीतर वाला भी हम पर प्रकट कर रहा है, उसी का प्रतिरूप यह बाहर से भी हम लोगों पर प्रकट हो रहा है। अब थोड़ा ऊँचे स्तर से विचार कीजिए। जब एक ही का अस्तित्व है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई अस्तित्ववान है ही नहीं तो यह जो व्यक्त जगत् दिखाई दे रहा है, यह उससे अलग अपना अस्तित्व रखने वाला नहीं है। यह भी उसी में से निकला है। वही परमात्मा, वही मेरा प्यारा, अपने असली रूप में, अपना प्रेम–निमन्त्रण देकर, हम लोगों को अपनी ओर खींचता रहता है। सुख की प्रवृत्तियों में विचरने वाला व्यक्ति भी रह रह कर परमात्मा को याद करता रहता है। देह में आसक्त होने वाला व्यक्ति भी समय–समय पर

परमात्मा का नाम लेता रहता है। वे भीतर से भी अपनी और खींचते रहते हैं और बाहर इस व्यक्त जगत् के रूप में भी वे स्वयं ही हम लोगों को अपने इस बाहरी रूप की नश्वरता का परिचय दे देकर इसकी ओर से हटाने का प्रयास करते रहते हैं यह भी उसी मंगलकारी का मंगलमय विधान है। बहुत प्रिय जो संयोग माना था, उसमें झटपट वियोग हो गया। संसार में आपने जहाँ बहुत प्रिय संयोग माना था, उसमें बहुत भयंकर वियोग आ गया।

यह विधान किसका है ? सृष्टिकर्ता का है। यह विधान किसका है ? आपके प्यारे का है। यह विधान कैसा है ? आप के लिए बड़ा ही मंगलकारी है। तो प्रभु का ही प्रतिरूप जो यह जगत् है, वह भी अपनी नश्वरता का परिचय देकर हम लोगों को सलाह देता है कि भैया ! हमारे में कुछ नहीं है, उधर ही जाओ। लेकिन वाह रे मनुष्य ! उस मंगलमय की मंगलकारिता पर दृष्टि नहीं जाती तो उसको गाली देना शुरू करते हैं। तुमने हमारा बिगाड़ दिया। तुमने हमारा बिगाड़ दिया। और बिगाड़ा किसने ? हमने खुद ने। उन्होंने तो बनाया और संयोग में वियोग दिखाकर जिन्दगी में मृत्यु, सुख में दुःख और निर्माण में विनाश दिखा कर जगत् की ओर से वे अपनी ओर बुला रहे हैं। अरे रे बच्चों ! उधर कहाँ जा रहे हो, इधर आओ। इतनी मंगलकारिता है उनकी। और मनुष्य ? अपने विकारों में अंधा हुआ, मनुष्य अन्धेपन में दौड़–दौड़कर संसार की ओर भाग रहा है। खोज रहा है कि कहाँ रस मिले ? कहाँ सुख मिले ? कहाँ जीवन मिले ? कभी जंगल में दौड़ रहा है, कभी महल में, कभी गुफा में, कभी कहाँ–कभी कहाँ। छटपटा रहा है संसार की तृष्णा की अग्नि में जल जाने के लिए। और उसका जो परम हितैषी पिता है उसने कस करके पीछे से पकड़ रहा है और पुकार रहा है, ऐ मेरे प्यारे बच्चे ! जरा उलट कर मेरी ओर देख तो सही। तू जिस प्रेम को खोज रहा है तू जिस जीवन को खोज रहा है, वह तो तेरे साथ ही है।

स्वामी जी महाराज से एक बार एक साधक ने पूछा कि स्वामी जी महाराज बताइये, परमात्मा कहाँ ? आप दिखा सकते हैं? वे बोले तेरे पीछे। वह युवक पोस्ट ग्रेजुएट स्टूडेण्ट था। समझदार तो था ही। स्वामी जी ने कहा तेरे पीछे हैं ऐसा सुनते ही उसने पीछे देखा और कहने लगा कि कहाँ है ? यहाँ तो नहीं हैं। तो स्वामी जी ने कहा तूने पीछे देखा कहाँ सिर घुमाया, तो यह भी तो सामने ही हुआ न पीछे तो हुआ नहीं। मैं बिल्कुल सच कहता हूँ। कि परमात्मा तेरे पीछे ही है। दृष्टि घुमाकर देख तो सही।

अन्यत्र स्वामी जी महाराज ने बड़े अच्छे सूत्र वाक्य में लिखा है कि जो संसार की कामना लेकर परमात्मा के पास जाता है, उसके लिए परमात्मा भी संसार ही है। और जो निष्काम होकर संसार के पास जाता हैं उसके लिए संसार भी परमात्मा है। कितनी अच्छी बात है। कामना लेकर परमात्मा के पास जाता है तो परमात्मा भी संसार है और निष्काम होकर संसार के पास जाता है तो संसार भी परमात्मा है। ऐसा अद्भुत है आपका अहं। ऐसा विलक्षण तत्त्व है कि जिसके समान दूसरी कोई बात है ही नहीं । बड़ी विलक्षणता है उसमें क्या विलक्षणता है ? कि अपने को शरीर से मिला दो, संसार में मिला दो, तो सुखभोग की आसक्ति के आधार पर, सब व्यवहार जड़ जगत् के समान करने लगे। हाय ! हम मर गये, हम लुट गये, हम बरबाद हो गए। हाय ! यह हो गया, यह हो गया और विवेक के प्रकाश में अपने को मिला दे परमात्मा से तो उन्हीं के समान आनन्द स्वरूप हो जाय। उन्हीं के समान प्रेम स्वरूप हो जाय। अपनी भूल जनित स्वीकृति हो मिटा देना और जीवन के सत्य को स्वीकार कर लेना, इसी का नाम सत्संग है।

इस सत्संग के लिए कितना परिश्रम चाहिए ? कितना समय चाहिए ? कितनी सहायता चाहिए ? सोचो तो यह सब कुछ नहीं चाहिए। लेकिन मैं क्या बताऊँ, इतना बड़ा भ्रम हो गया है सत्संगी समाज को कि सोचते हैं कि बहुत दिन तक सुनेंगे तो कुछ होगा। अरे भाई ! सुनी हुई बात को अगर हम मानने के लिए तैयार नहीं है, तो

कितने भी दिन सुनी, सुनते सुनते सुनने की शक्ति भी खत्म हो जाती है और सुने हुए वाक्य का अनुसरण न करो, तो कल्याण नहीं होता है। ऐसा हम लोगों को होने नहीं देना चाहिए। सुनने की शक्ति के रहते–रहते सुनना खत्म करो। बोलने की शक्ति के रहते रहते बोलना खत्म करो। तो सुनने का जो राग है वह भी मिट जाएगा और बोलने का जो राग है, वह भी मिट जाएगा। इस सुनने और बोलने में थोड़ा अच्छा लगता रहता है। इससे बहुत अच्छा इससे बहुत ऊँचा जीवन है न सुनने में न बोलने में। वह कहाँ है ? वह सत्य की स्वीकृति में है। वह सत्य कौन सा है ? ईश्वरवाद की दृष्टि से, प्रभु की आत्मीयता है। उनके साथ जिसने आत्मीयता स्वीकार कर ली, उसके अहं में एक प्रकार का परिवर्तन होता है। और स्वतः होता है। तो असत् को जब हम लोग स्वीकार करते हैं कि ये मेरे भाई, ये मेरे बेटा बेटी, ये मेरे कुटुम्बी, ये मेरी सम्पत्ति तो इससे विकारों की उत्पत्ति होती है, लेकिन अहं के भीतर जो सत्य है, उसका नाश नहीं होता। और जब नित्य विद्यमान परमात्मा की आत्मीयता स्वीकर कर लेते हैं तो मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरों न कोई ' जैसे मीरा जी ने स्वीकार कर लिया; तो अपने द्वारा जब उस नित्य विद्यमान आत्मीय की आत्मीयता को स्वीकार कर लेते हैं तो विकारों का नाश हो जाता है। और आत्मीय जो है उसके प्रभाव से उस अहं में से ही, बीज रूप में जो प्रेम–तत्व विद्यमान है,वह प्रकट हो जाताहै। तो नाशवान को अपना मानने से भी नाशवान के साथ अभिन्नता नहीं होती और अविनाशी को अपना मान लेने से नाशवान के विकार नष्ट हो जाते हैं पकड़ में आती है यह बात? तो अब इस ढंग से हम लोगों को चलना चाहिए। जल्दी करनी चाहिए। क्या जाने कब क्या हो जाए, कुछ पता नहीं है।

तो तीन चार बातें हैं जिन्होंने आस्था, श्रद्धा विश्वास पूर्वक, गुरु की वाणी में श्रद्धा करके, वेद पुराण, गीता, रामायण, कुरान, बाईबिल की वाणी में श्रद्धा करके परमात्मा को अपना कहकर स्वीकार कर लिया, उस स्वीकृति से उनका अहं बदलता है। और अहं बदलता है, तो सारे के सारे

करण स्वतः ही बदल जाते हैं। तो पहले हमको अपनी स्वीकृति बदल देनी चाहिए। विश्वास का बड़ा भारी फल मैंने सुना है सन्त की वाणी में। स्वामी जी महाराज ने कहा कि जो जीवन का सत्य है, उसमें अगर विश्वास करो तो उस सत्य में विश्वास करने का जो फल है, वह ज्ञान के समान ही फलदायक होता है। अर्थात् जिस नित्य तत्त्व में हम विश्वास करते हैं, वह नित्य तत्त्व हमारे लिए ज्ञान से प्रमाणित होने के समान ही प्रत्यक्ष हो जाता है। भक्तों के जीवन में वह सत्य ऐसा ही प्रत्यक्ष हुआ है। उस ओर बड़ी कोमलता और बड़ा आकर्षण है। परमात्मा को हम सब लोग सहज ही बहुत प्यारे हैं, और हर प्रकार से हमारी की हुई भूलों को क्षमा करने का उनका सहज स्वभाव है। हर तरह से हमारी की हुई भूलों को वे क्षमा करते रहते हैं।

वे प्रभु हमारा वर्तमान ही देखते हैं, हमारा भूतकाल वे देखते ही नहीं हैं। कितने ही दिनों का भूला भटका अपना बच्चा हो, कितना ही माता पिता का विरोधी बन करके लड़ता झगड़ता रहा हो, भटक गया हो विमुख हो गया हो लेकिन कितने ही वर्षों के बाद अगर वह प्रेम से प्रेरित होकर आए और कहे कि मुझसे भूल हो गई थी ; मुझे ध्यान नहीं रहा था और अब तो मैं ऐसा नहीं करूँगा; अब तो मुझे आपका प्यार चाहिए, आपकी गोद चाहिए, तो माता पिता कितने खुश हो जाते हैं कितने आनन्दित हो जाते हैं। जब सांसारिक माता पिता अपने–पन के नाते, अपने बच्चे की सब भूलों को क्षमा करने के लिए तैयार रहते हैं, तो वे क्षमाशील, क्षमा सिन्धु अनन्त परमात्मा, हमारी भूलों का हिसाब रखेंगे ? नहीं रखेंगे। अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं जहाँ उन्होंने शरण में आए हुए की भूतकाल की सब भूलों को क्षमा किया है। वे हमारी भूल को ही मिटा देते हैं और भूतकाल में की हुई भूलों के परिणाम को भी मिटा देते हैं इतनी सामर्थ्य और किसी में नहीं है। वे निर्दोष भी बना देते हैं, वर्तमान में और भूतकाल में की हुई भूलों के परिणाम को भी क्षमा कर देते हैं। वे ऐसा करते हैं और हमारी भूतकाल की भूलों को नहीं देखते।

आवश्यकता क्या हैं? एक बार साहस करके सम्पूर्ण हृदय की भावना के साथ उनकी आत्मीयता को हम लोग मान ले। फिर नाम लेते हैं कि नहीं, माला जपते हैं कि नहीं, पूजा करते हैं कि नहीं, यह अपनी अपनी रुचि, बनावट, परिस्थिाति की बात हो जाती है। अगर भीतर में आपने उनके नित्य सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया, तो बाहर से जो भी विधि–विधान आप करेंगे, सब सजीव हो जाएगा। सब सजीव हो जाता है। पुष्प का अर्पण करना सजीव हो जाता है ; माला जपना भी सजीव हो जाता है। भोग लगाना भी सजीव हो जाता है साकार निराकार उपासना के जितने भी विधि–विधान हैं, सब सजीव हो उठते हैं सबके द्वारा सहयोग मिलने लग जाता है और साधक की हर साधन–क्रिया में उसके हृदय का प्रेम–भाव समा जाता है। परमात्मा को बहुत अच्छा लगता है ; बड़ा प्रिय लगता है। उनमें उन्हें बहुत मजा आता है। तो जो असली बात है, वही अपने को पकड़ना है।

जब तक शरीर का सहारा रहेगा, तब तक कुछ न कुछ तो करेंगे ही हम लोग । तो मैं समझती हूँ कि इस हाड़ मांस के शरीर को रखने के लिए एक कमरे में हम झाड़ू लगाते हैं, सफाई करते हैं। यदि प्रभु का प्रतीक बनाकर मन्दिर में बैठाया, तो उस मन्दिर का आप काम क्यों नहीं करोगे। अगर एक शरीर, जो बात–बात में गन्दा हो रहा है, उसकी गन्दगी की सफाई करने के लिए विविध प्रकार से स्नान कराते हो सुगन्धित वस्तुओं को प्रयोग करते हो, तो अपने प्यारे का जो विग्रह बैठा रखा है, तो उनको स्नान क्यों नहीं कराओगे? सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग क्यों नहीं करोगे ? इस प्रकार जितनी प्रतीकात्मक बातें हैं वे सब सार्थक हो जाती हैं। कब ? जब परमात्मा को अपना माने तब।

थोड़े दिन पहले की बात है, शाहबाद जिले के एक गाँव की घटना है। वहाँ पर एक परमात्मा के प्रेमी गृहस्थ पुजारी रहते थे। पूजा करते थे। करते–करते उनकी वृद्धावस्था आ गई। मन्दिर में भगवान राम, माता जानकी जी और भैया लखन लाल का विग्रह पहले से

स्थापित था। तीनों खड़ी मूर्तियों की वे बाबा पूजा किया करते थे उन्हें वे अपना बालक मानते थे। तो बालकों की सेवा करने में बाप को बड़ा मजा आता है, वे भी खूब प्रेम से सेवा करते। वे केवल नौकरी करने के हिसाब से कार्य नहीं करते थे। उनकी जिन्दगी, उन मूर्तियों की पूजा में ही व्यतीत हुई। अब वे बूढ़े हो गए, कमर में दर्द रहने लगा, रीढ़ की हड्डी झुक गई। एक दिन स्वप्न में उनसे लाला ने कहा कि बाबा ! तू बूढा हो गया है। तेरे को सेवा करने में कष्ट होने लगा है; कमर में दर्द रहने लगा है तो अब तू पूजा छोड़ दे। तो भक्त की जब प्रियता बढ़ जाती है। मेल जोल जब बढ़ जाता है तब शिष्टाचार की बातचीत खत्म हो जाती है। एकता हो जाती है। तो बूढ़ा कड़ककर बोला भला यह कैसे हो सकता है ? शरीर के रहते–रहते मैं तेरी सेवा कैसे छोड़ दूँगा।' अब लाला सोचने लगे कि कुछ और कहना चाहिए। तो उन्होंने कहा कि अच्छा बाबा ! तू नहीं छोड़ेगा, तो बैठकर किया कर। वे बोले, बड़ा अच्छा सिखा रहे हो लाला! तू खड़ा रहेगा और मैं बैठ जाऊँगा, यह नहीं होगा। ' अच्छी बात ! स्वप्न खत्म हो गया। निद्रा पूरी हो गई। रात बीत गई दूसरे दिन सबेरे, जब बूढ़ा बाबा सामान लेकर मन्दिर में पूजा करने आया तो उसके परम प्रेमी लाला, दोनों मूर्तियों सहित पालथी मार कर बैठे हुए मिले। उनको बैठने में देर क्या लगती है। बूढ़े बाबा की कमर में दर्द हो, और लाला सह लें। सह नहीं सकते । सह नहीं सकते। बाबा कष्ट पाए और लाला सेवा ले, यह सम्भव नहीं है। बात पूरी हो गई।अब शांत हो जाइये।

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो, और भाइयो !

हम सब लोग जीवन को सफल बनाने का उपाय सोच रहे हैं। इसमें अपने पास दो तरह की बातें मालूम होतीं हैं एक तो शरीर के द्वारा किया जाने वाला सर्व हितकारी कर्म और दूसरा शरीर और संसार से असंग होकर अपने में ही नित्य प्राप्त दिव्य जीवन का साक्षात्कार, तत्त्व का बोध, भगवद् मिलन जो भी कहें। इस सम्बन्ध में मानव सेवा संघ की एक सलाह है। कल संध्या समय हम जैसा विचार कर रहे थे कि शरीर के माध्यम से भोग करना भी गलत होता है और योग भी सिद्ध नहीं होता। भोग का परिणाम रोग, शोक, अभाव और मृत्यु है और शरीर के माध्यम से नित्य जीवन और नित्य योग सम्भव नहीं है। एक ही क्षेत्र है, जिसमें शरीर का उपयोग हो सकता है और वह है, संसार की सेवा। इतनी चर्चा कल संध्या समय की बैठक में हो चुकी थी।

आज एकादशी की तिथि है और हम लोगों ने महाराज जी की सलाह के अनुसार यह निश्चय किया है कि प्रत्येक एकादशी को, स्वामी जी महाराज की पुण्य स्मृति के रूप में ही इसे मनाया जाए। महाराज जी की पुण्य स्मृति कैसे मनाओगे ? सत्संग करना है – यह प्रोग्राम रखा है। इसमें एक विशेष बात आपकी सेवा में निवेदन करने की यह है कि दर्शन, विज्ञान और आस्तिकता के अनुभव–सिद्ध सत्य को जानने वाले सन्त ने, हम लोगों को यह सलाह दी कि देखो भाई! शरीर से जो भी कुछ करोगे, वह शरीरों के ही काम आएगा, तुम्हारे काम नहीं आएगा। ऐसी बात आपने इस ढंग से कभी नहीं सुनी होगी। शरीरों के द्वारा जो भी कुछ करोगे, उसका जो फल बनेगा, वह भौतिक जगत् की सीमा के भीतर ही रहेगा। आप कहेंगे कि ऐसा कैसे ? हम तो व्रत करेंगे, उपवास करेंगे, तीर्थ करेंगे, यह सब परमार्थ हो जाएगा। नहीं इससे नहीं हो जाएगा। इन सबके परिणाम स्वरूप एक बात हम

कर सकते हैं। शरीर और संसार पर विचार करें, तो यह शुद्ध वैज्ञानिक क्षेत्र की बात है। शरीर और संसार का अविच्छिन्न सम्बन्ध है प्रायः आप देहात में भी गँवार लोगों को कहते हुए सुनते हैं कि जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। क्या मतलब ? जिस पिण्ड से शरीर की रचना होती है, उस पिण्ड में जो तत्त्व हैं, वे ही ब्रह्माण्ड में है। अर्थात् यह सारा ब्रह्माण्ड और हमारा आपका छोटा सा साढ़े तीन हाथ का शरीर, इन दोनों की जातीय एकता है। एक ही धातु से अर्थात् जिन पाचभौतिक तत्त्वों से ब्रह्माण्ड बनता है, उन्हीं से यह शरीर बना है। तो शरीर और ब्रह्माण्ड की जातीय एकता है।

कुछ अणु परमाणुओं का संगठन होकर किसी वस्तु का निर्माण होता है। और अणु परमाणुओं के संगठन का विघटन हो जाने पर, उसका नाश होता है। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। शरीर, जिस समय हम लोगों को जीवित दिखाई देता है, उस एक बार की देखी हुई शक्ल को हम बहुत दिनों तक पहचानते भी रहते हैं फिर भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, एक क्षण पहले का देखा हुआ शरीर, दूसरे क्षण में वैसा नहीं रहता । उसके भीतर बहुत परिवर्तन हो जाता है। जिसकी उत्पत्ति होती है और जिसमें परिवर्तन होता हो, जिसकी क्षति होती हो और जिसका अदर्शन होता हो, उसे ही सृष्टि कहते हैं। उसको भौतिक तत्त्वों से निर्मित संसार कहते हैं। यह लक्षण शरीर पर घटित होते हैं कि नहीं ? बन जाना, बदल जाना, क्षय होना, मिट जाना, अदृश्य हो जाना। अब आप सोच करके देखिए कि जिस शरीर का सृष्टि के साथ इतना घना सम्बन्ध है, उसे आप सृष्टि के बाहर ले ही नहीं जा सकते। आप कहियेगा कि कोलाहल पूर्ण समाज को छोड़ कर हम एकान्त में चले जाएँगे वह एकान्त भी संसार में ही तो होगा। कहेंगे कि हम कुटिया नहीं बनाएँगे, हिमालय की गुफा में घुस जाएँगे, तो हिमालय की गुफा, जहाँ आप शरीर को ले जाएँगे वह भी तो संसार ही होगा। हिमालय की गुफा क्या संसार के बाहर है।

जिस शरीर का इस संसार के साथ इतना घना सम्बन्ध है, उस शरीर को अपना मानना उस पर अपना अधिकार जताना और अपने व्यक्तिगत सुख के लिए उसका उपयोग करना बेईमानी है कि ईमानदारी है ? जी ? बेईमानी है। बहुत साफ है। अच्छा यह बताएँ कि यह साधन है या असाधन है। शरीर को अपना मानना बेईमानी है। शरीर का उपयोग अपने सुख के लिए करना या व्यक्तिगत सुख के लिए करना, असाधन है। अब यही भूल हो जाती है, पहले ही कदम में गलती हो गई। जितना भी जप करो, तप करो, ध्यान करो, कुछ भी करो, यह असाधन कैसे मिटेगा ? इसका परिणाम कैसे जाएगा ? यह बेईमानी जब तक जीवन से निकलेगी नहीं, जो शरीर शत–प्रतिशत संसार का है, उस पर से हम यदि अधिकार उठाएँ नहीं ; उसको अपने व्यक्तिगत सुख के लिए काम में लाएँ, तो इस असाधन के रहते हुए, कौन सा साधन है, जो हमको शरीर और संसार से असंग करा देगा? कोई उपाय नहीं है।

तो मानव सेवा संघ ने इस असाधन की जड़ काटने की सलाह हम लोगों को दी। सबसे पहली बात क्या करो? शरीर को अपना मानना छोड़ दो। तो किसका मानो ? भौतिकवादी हो तो जगत् का मान लो। सारे शरीर जिसके हैं, उसका ही यह भी एक है। ईश्वर विश्वासी हो, तो इसे प्रभु का मान लो। जिसने सब शरीरों को बनाया, उसने इसको भी बनाया। इतना तो हम जानते ही हैं कि मेरा बनाया हुआ नहीं है। तो किसका है ? इस दार्शनिक झगड़े की जरूरत नहीं है। आपकी मर्जी है, जिसका जँचे उसका मान लीजिए, लेकिन एक सत्य सभी को मानना पड़ेगा कि यह अपना नहीं है। जो चीज अपनी नहीं होती, उसका दुरुपयोग करने का अधिकार भी नहीं होता है। उसको बिगाड़ने का भी अधिकार नहीं होता है। जिसका है, उसी के काम में लगा देने का नाम साधन है।

भौतिकवाद की दृष्टि से, शरीर संसार का है, इसलिए इसे

संसार की सेवामें लगा दो तो साधन बन गया। ईश्वरवाद की दृष्टि से यदि शरीर प्रभु का है, तो उन्हीं की पूजा के रूप में, उनकी सृष्टि की सेवा में लगा दो, तो यह साधन हो गया। किसी भी प्रकार से यह शरीर अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है, और इस शरीर से किया हुआ कार्य संसार की सीमा के भीतर ही रहता है, उसके पार नहीं जा सकता। इसलिए शरीर की सहायता से योग नहीं होता, शरीर की सहायता से बोध नहीं होता, शरीर की सहायता से भगवद् भक्ति नहीं होती। अब आप कहेंगे कि हम लोगों ने तो अष्टांग योग की बड़ी महिमा सुनी है। ठीक है। जिन मनीषियों ने आरम्भ कराया, जिस योग की विधि में पातञ्जलि महर्षि को प्रामाणिक माना जाता है, उन्होंने केवल शरीरके व्यायाम को ही योग नहीं कहा है। आरम्भ ही किया था शम, दम, आदि से, जो शरीर धर्म से ऊपर है। आरम्भ ही वहाँ से होता है। उसमें इसे एक अंग माना गया। जब सारा व्यक्तित्व ही एक है और उस व्यक्तित्व के जो भौतिक तत्त्व है, उनको सम्पूर्ण व्यक्तित्व से विच्छिन्न भी किया जा सकता है, इसलिए कुछ हद तक उसकी चर्चा भी है।

स्थूल शरीर के बाद, आप सूक्ष्म शरीर के स्तर पर आ जाइए। सूक्ष्म शरीर के स्तर पर, यौगिक क्रियाओं के फलस्वरूप, जब मन की शक्ति बढ़ती है, तो वह मन की शक्ति भी आपको सूक्ष्म जगत् की सीमा में ही रखती है। अलौकिक तत्त्व से नहीं मिलाती है। यह बात बहुत कम लोग पकड़ पाते हैं। सूक्ष्म शक्तियों का जब विकास होने लगता है सूक्ष्म शक्तियों के माध्यम से, तो उससे जो उपलब्धियाँ होती हैं, वे भी साधक को सूक्ष्म जगत् की सीमा में ही विचरण कराती हैं, मन की गति सूक्ष्म हो जाय, तो बैठे बैठे दूर गमन की शक्ति आ जाती है। दूसरों के मन की बात जान लेने की शक्ति आ जाती है। संकल्प से जैसी वस्तु चाहिए, वैसी मनचाही वस्तु को वर्तमान में उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। यह जो सूक्ष्म शरीर की शक्ति है, यह भी साधक को सूक्ष्म जगत् के भीतर ही रखती है। जैसे स्थूल शरीर है,

वैसे स्थूल जगत् हैं जैसे सूक्ष्म शरीर है, वैसे सूक्ष्म जगत् है। जैसे कारण शरीर है, वैसे कारण जगत् है। शरीर के माध्यम से किया हुआ अभ्यास, भौतिक शक्तियों की वृद्धि करा देता है, लेकिन उस उपलब्धि को लेकर के अगर कोई साधक अपने को योगी मान ले तो वह धोखे में रहेगा। उसकी प्राप्त की हुई शक्ति लोक रंजन में खर्च होकर, उसे जहाँ का तहाँ छोड़ देगी।

एक समय मैं महाराज जी से बात कर रही थी और वे सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध में समझा रहे थे। 'मूक सत्संग और नित्य योग' पर ग्रन्थ लिखा जा रहा था। वे कहने लगे कि देवकी जी ! यह भौतिक जगत् की सीमा, कोई थोड़ी नहीं है। मामूली नहीं है। तुम्हारे देखने सुनने में जितना आता है, उतना ही नहीं है। यह जो स्थूल जगत् तुमको थोड़ा सा दिखाई देता है, इसका जितना विस्तार है, उतना तुम देख नहीं पाती हो। उससे भी अधिक विस्तार, सूक्ष्म जगत् का है और उससे भी अधिक विस्तार कारण जगत् का है। यह शरीरों के माध्यम से अभ्यास के आधार पर प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ भी कुछ कम चमत्कारपूर्ण और कुछ कम विस्तृत नहीं है। इनमें विचरण करने वाले भी, बहुत दिनों तक इस भौतिक सीमा में ही, खोए–खोए रह जाते हैं। तो क्या किया जाए ? शरीर और संसार के स्वरूप पर विचार करके, शरीर के द्वारा अलौकिक तत्त्व की अभिव्यक्ति की आशा न की जाए। एक बात यह हुई।

अपने किसी बड़े अच्छे मित्र संत के जीवन की एक घटना महाराज जी ने सुनाई और कहा कि उन्होंने यह सिद्धि प्राप्त कर ली थी कि जब चाहें तब काया बदल सकते थे। यह कल्पना नहीं है। हम लोगों को भुलावे में डालने की यह चर्चा नहीं है। यह वैज्ञानिक सत्य है। काया–परिवर्तन की सिद्धि उन्होंने प्राप्त कर ली। तो महाराज जी से जब बातचीत हुई तो उन्होंने कहा कि महाराज जी ! मैंने सात बार काया बदल लिया है हुआ न चमत्कार ? जब सिद्धि मुट्ठी में आयी, कौतुहल हुआ। बड़ा मजा आया। श्मशान में कोई नया शरीर, मृतक

होकर आ गया, पच्चीस तीस वर्ष का हृष्ट पुष्ट रूपवान और किसी प्रकार से उसका प्राणान्त हो गया है, तो ऐसा शरीर जब उनको दिखे, तो वह पुराना वाला छोड़ कर उस नए में प्रवेश कर जाएँ। तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि अच्छा यार! यह बताओ कि तुम्हारे आन्तरिक जीवन में क्या परिवर्तन हुआ? सन्त सच्चे होते हैं, तो उन्होंने कहा कि ' महाराज ! केवल कौतुहल शान्त हुआ। और कुछ नहीं हुआ। एक सिद्धि प्राप्त करने से भीतर में बड़ा कौतुहल हुआ कि देखो काया–पलट से कैसा लगता है? इस सिद्धि से उन्होंने सात बार काम लिया। काया बदल डाली। इतना करने के बाद तो लोग उन्हें बहुत पूजते होंगे। महा सिद्ध पुरुष वे कहलाते होंगे। लेकिन, जब अपने अन्तरंग मित्र से बात करने का अवसर मिला, तो स्वामी जी महाराज के पूछने पर, उन्होंने उत्तर दिया, कि कौतुहल शान्त हुआ और कुछ नहीं हुआ। यह उदाहरण अपने लोगों के सामने रखकर, मैं सन्त की वाणी का समर्थन करना चाहती हूँ, स्पष्ट करना चाहती हूँ कि शरीरों के माध्यम से प्राप्त की हुई उपलब्धि स्थूल, सूक्ष्म, कारण, भौतिक जगत् की सीमा के भीतर ही काम आती है। उसके बाहर नहीं जाती है।

तब क्या करें? अगर इतनी उपलब्धि करने के बाद भी, इसकी निरर्थकता को जान करके इसको छोड़ना ही है, तो इस भौतिक उपलब्धि के पीछे पड़ो क्यों ? जब छोड़ना ही है उसके आकर्षण को तोड़ना ही है, इससे असंग होकर अलौकिक जीवन में प्रवेश पाना ही है, तो उसके पीछे पड़ें क्यों ? स्वादिष्ट वस्तुओं को खाने के सुख की तरह यह भी एक सुख ही है। एक शरीर पुराना पड़ गया है, दुबला पतला हो रहा है तो काया पलट लेने का सुख भी तो एक सुख ही रहा? वह भी अनन्त तो नहीं हुआ। उससे भी योगी तो नहीं हुए, रहे तो भोगी ही। यह बताया महाराज जी ने।

इसलिए मानव–सेवा–संघ का बड़ा विनम्र निवेदन है, आग्रह बिल्कुल नहीं है। जोर एकदम नहीं डाला जाताहै, बड़ी नम्रता से यह

निवेदन किया जाता है कि भौतिक विज्ञान के आधार पर जीवन की
ज्ञानिकता का अनुसरण करना हो और उस सीमा से ऊपर उठना
हो, तो उसमें से यदि यह बात आपको जँच जाए तो आप इस सत्य
को स्वीकार करिए कि शरीर के द्वारा भोग करने से रोग, शोक, अभाव
और मृत्यु मिलेगी। शरीर के माध्यम से योगवित् होने की चेष्टा करने
में बहुत सा समय बर्बाद होगा। स्वीकार कर लेना अगर जी चाहे तो।
न चाहे तो मत स्वीकार करना। महाराज जी साधक को कभी भी
उलझन में डालना नहीं चाहते थे। वे कह देते थे कि 'देखो भाई अगर
यह बात तुम्हें अच्छी लगे, तो मान लेना। मान लोगे तो तुम्हारा
उपकार हो जाएगा। मैं निर्भय कर देता हूँ तुम्हें कि इस बात को नहीं
मानोगे, तो तुमको कोई घाटा नहीं लगेगा। इससे मत डरना कि सन्त
की वाणी थी, मैंने सुन लिया और नहीं माना, तो कुछ नया पाप बन
गया, सो नहीं बनेगा।

करना क्या है ? शरीर भौतिक जगत् का तत्त्व है, नाशवान है।
इस नाशवान शरीर को साथ लेकर, अविनाशी साम्राज्य में प्रवेश
नहीं होगा। यह जानकर इस नाशवान शरीर के माध्यम से दिखाई देने
वाली सृष्टि के कुछ काम आ जाएँ तो बड़ी सुविधा रहती है। इसीलिए
महाराज जी ने किसी किसी के कहने पर भी, अपने निकट के साधकों
को वस्त्र रँगने की सलाह नहीं दी । इसका अर्थ यह नही है कि
सन्यास का उनके जीवन में महत्त्व नहीं था। वे तो स्वयं सन्यासी थे।
महत्त्व तो था, लेकिन हमलोगों की तैयारी देख कर उन्होंने यह सलाह
दी कि यदि सन्यास दे दिया जाए, तो जिन छोटी–छोटी सेवाओं के
द्वारा तुम्हारे राग की निवृत्ति सम्भव है, जिन छोटी छोटी सेवाओं के
द्वारा तुम्हारा शरीर विश्व के काम आ सकता है, जिन छोटी–छोटी
सेवाओं के द्वारा तुम्हारे में जो गुणों का अभिमान है, वह गल सकता
है, उन सेवाओं के करने में बड़ी कठिनाई हो जाएगी।

सन्यास की एक मान्यता है; एक स्वीकृति है। इसको स्वीकार कर लेने पर, इसकी मर्यादा के अनुसार चलना पड़ेगा। वेश धारण करने का एक महत्त्व होता है। उसकी एक मर्यादा होती है। उसकी तैयारी से पहले, उसका धारण करना ठीक नहीं होगा। इसलिए उन्होंने यह सलाह दी। किसी किसी ने कहा कि स्वामी जी महाराज आपने देवकी जी को सन्यास क्यों नहीं दिया ? बहुत तरह के उत्तर देते थे, महाराज जी। कभी कह देते कि इन लोगों को हमने सन्यास का व्रत दिला दिया है। कभी कह देते थे, ये तो अलिंग सन्यासी है बिना वेश के । कभी कुछ , कभी कुछ; इस तरह की बातें कह दिया करते थे। इसका अर्थ क्या है ? कि शरीर का जो रोग है, उसकी निवृत्ति के लिए ज्ञान के प्रकाश में इससे सम्बन्ध–विच्छेद करो। भाव के आधार पर अपने सहित यह सब कुछ भगवद् समर्पित कर दो और कर्म के आधार पर इसके द्वारा जगत् की सेवा करो। तो क्या होगा? कि शरीर संसार के काम आ जाएगा और जब इससे अपना सम्बन्ध टूटेगा, जब इसकी आसक्ति मिटेगी, इसका राग मिटेगा, तब शान्ति काल में इससे तादात्म्य तोड़ कर, नित्य अविनाशी जीवन से नित्य योग के हम अधिकारी हो पाएँगे। तो जिससे सम्बन्ध तोड़ना है, उसी के स्तर पर अटके रहना, योग की बड़ी भारी बाधा है।

आप पूछेंगे कि सामूहिक प्रार्थना का क्या फल है ? सामूहिक कीर्तन भजन का क्या फल है? तीर्थ–यात्रा और स्नान का क्या फल है तो वह भी मैं बताती हूँ। महाराज जी ने हम लोगों को सिखाया और कहा कि देखो ! साधक में इस प्रकार के संकल्प भी होते हैं कि जिस शरीर के माध्यम से हजार प्रकार के काम किए, साधक होने के बाद भी, रह रहकर जी में उठता है कि अब क्या करें ? अब क्या करें ? जैसे आप बार–बार पूछ रहे थे कि यह तो general हो गया Particular रूप से क्या करूँ ? बिल्कुल स्वाभाविक बात है। न जाने कितने जन्म हम लोगों ने शरीर के माध्यम से कार्य करते हुए बिता दिए। हजा

प्रकार के कार्य किए। साधक की सूची में नाम लिखा देने के बाद भी साधक के मन में रह–रह यही उठता है, कि अब साधन के रूप में क्या करूँ? जाने हुए असत् को अस्वीकार करूँ यह तो एक सैकण्ड में हो गया। यह तो general बात हो गई। शरीर तुम्हारा नहीं है; उसको अपने लिए मत मानो, यह general बात हो गई, mass रूप में यह सभी के लिए हो गई। अब हमको कुछ करने के लिए बताओ मैं क्या करूँ ? ऐसा साधक बार–बार पूछते थे।

महाराज जी ने यह कहा कि देखो ! शरीर को लेकर जब किसी प्रकार के साधन में सम्मिलित हो; जैसे कि एकान्त में ध्यान करना, इष्ट का नाम जपना, व्रत उपवास करना, तीर्थ करना इत्यादि और शरीर के माध्यम से यदि कोई भी साधन करने चलो तो अपने इष्ट को याद करके यह प्रार्थना कर लो कि ' हे प्रभु ! इस शरीर के द्वारा जो भी कुछ साधन मुझसे बन पड़े उसका फल सारे संसार के लिए कल्याणकरी हो जाए। जैसे कमाए हुए धन को अगर केवल अपने लिए रखो तो चित्त शुद्ध नहीं होता है। की हुई सेवा के फल में सम्मान का भोग करने लगो तो चित्त शुद्ध नहीं होता है। अतः कहा जाता है कि भाई! सेवा करो, परन्तु उसका अभिमान मत रखो। सेवा करोगे तो उसके बदले संसार तो सम्मान देगा ही, क्योंकि संसार भी तो प्रभु का ही प्रतिरूप है। प्रभु किसी के ऋणी नहीं रहते हैं और संसार भी यह जानता है कि हम लोग सम्मान के भूखे प्यासे हैं; शर्माना नहीं चाहिए अपना नंगा चित्र खोलकर रखेंगे नहीं तो साधक किस काम के?

संसार इस बात को जानता है, अन्तर्यामी प्रभु इस बात को जानते हैं कि थोड़ी सी भी अच्छाई का वेश मैं बनाऊँ, तो संसार मुझे सम्मान दे दे। लेकिन, यदि हम उसका भोग करेंगे तो चित्त शुद्ध नहीं होगा इसलिए व्यक्तिगत रूप से कमाई हुई सम्पत्ति को व्यक्तिगत न मानना और शरीर से की गई सेवा के बदले में सम्मान का भोग न करना, ये सब जो साधन बताए गए हैं, बड़ी अच्छी बातें है; बड़ी सच्ची

बातें हैं। इसी आधार पर महाराज जी ने कहा कि जैसे व्यक्तिगत सुख–भोग से अपना पतन होता है और उस ही शरीर को समाज का मानो तो उत्थान होता है, इसी तरह से शरीर के माध्यम से साधन किए बिना तुमसे रहा न जाए, तो खूब खुशी से करो। इष्ट का नाम भी प्रेम से जपो, इष्ट का ध्यान भी खूब लगन के साथ करो। तीर्थ यात्रा भी बड़ी पवित्रता के साथ करो, तीर्थ स्थानों में स्नान भी करो। लेकिन जो भी करो, उसके पीछे तुम्हारा यह भाव रहे कि प्रभु इस साधन का फल सारे संसार को मिले। बड़ा भारी वैज्ञानिक सत्य है। इसका एक फल महाराज जी ने एक बार मुझको दिखलाया।

मैं यात्रा में, स्वामी जी के साथ आ रही थी। बिहार प्रान्त में एक स्थान मुकामा घाट है। वहाँ जहाज से पार किया जाता था; पुल नहीं बना था। जहाज से पार करके, दक्षिण से उत्तर की ओर हम लोग आ गए। उसी समय चन्द्र ग्रहण लगा था। सवेरा होने वाला था। गंगा जी में स्नान करने वालों की धूम मची थी। स्वामी जी महाराज ने पहले से प्रोग्राम बना लिया था कि हम लोग जब मुकामा घाट पर पार जाकर उतरेंगे तो वहीं स्नान करेंगे। सब सभी लोग स्नान के लिए तैयार हो गए। जब मुझसे कहा गया कि चलो स्नान करो तो मुझे न तो गंगा जी के स्नान में उतनी श्रद्धा थी और न तीर्थ में ही उतनी श्रद्धा। यह सब कुछ नहीं था। मैंने महाराज जी से कहा कि मैं नहीं नहाऊँगी।' क्यों भाई। क्यों नहीं नहाओगी ? महाराज जी ने पूछा। तो उन्हें क्या जबाब दें। मुझको सारे बदन में ऐग्जिमा के दाने होने से बहुत तकलीफ थी। ठण्डा पानी लगने से बड़ी खुजली होती थी। मैंने धीरे से, महाराज जी को बताया कि ऐसे में नहा लूँगी तो बहुत नुकसान होगा; बहुत खुजली हो जाएगी। महाराज जी के साथ रहने पर मैं बीमार होने से बहुत घबराती थी। सेवा छूट जाएगी। काम नहीं होगा। महाराज जी को बड़ी चिन्ता होती थी। तकलीफ होती तो सेवा करनी पड़ती थी। इसलिए हम बहुत बचाकर रहते थे। खूब जी चुराया मैंने । मैंने बार

बार कहा कि हम नहीं नहायेंगे। हमें ठण्ड लग रही है। हमारे चमड़े में खुजली हो जाएगी।

महाराज जी पानी में जाकर, लाठी को फैलाकर कहते हैं कि तुम क्यों सोचती हो कि तुम स्नान कर रही हो। अब सुनते जाइए उनकी बातों को। तुम क्यों सोचती हो कि तुम स्नान कर रही हो। अपने लिए नहाओगी तो ठण्डा जल जरूर नुकसान करेगा। अपने लिए नहाओगी कि ग्रहण स्नान का फल मुझे मिले, तो ठण्डा जल ऐग्जिमा में जरूर नुकसान करेगा। तुमको क्यों नहीं सूझता है कि जितने लोग वृद्ध और बीमार हैं और गंगा स्नान के श्रद्धालु हैं, नहाने की इच्छा रखते हुए भी तट पर नहीं पहुँच सकें, मैं उनके लिए स्नान करती हूँ। इसलिए लाली! तुम उन सभी के लिए स्नान करो। इस तीर्थ–स्नान का इस ग्रहण–स्नान का फल सभी को मिले, इस भाव से स्नान करो। कुछ नुकसान नहीं होगा। फिर जोर से डाँटा कि चलो। अब इसके बाद कैसे रुकें। डरते डरते पानी में घुस गई। स्वामी जी ने डण्डा पकड़ा कर खूब डुबकियाँ लगवायी।

पता नहीं, महाराज जी के कहने से कैसे वह भाव, वह सत्य मुझ पर छा गया। मुझको ऐसा दिखाई देता था, मैंने बिल्कुल प्रत्यक्ष देखा कि हजारों हजारों शरीर डूबकी लगा रहे हैं। वैसे ही यह शरीर भी डुबकी लगा रहा है। ठण्ड का तो मुझे पता ही नही चला। पानी की ठण्डक का स्पर्श मुझे हुआ ही नहीं मैं डुबकी लगा रही हूँ, यह भी मुझको मालूम नहीं हुआ। जैसे अनेक शरीरों को मैं डुबकी लगाते देख रही थी, इस शरीर को भी मैंने डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ नही पता चला। बड़ा मजा आया हमको। हमने कहा अच्छा ! यह है सर्व हितकारी भाव ! कि शरीर संसार का है, तुम्हारा नहीं है, इसलिए इसके माध्यम से जो कुछ करो, उसका फल सारे संसार को दे दो। केवल एक सैकिण्ड के लिए महाराज जी की वाणी का सत्य मुझको प्रभावित कर गया। ठण्डक भी नहीं लगी, नहाने की तरह बदन भीगने

का अनुभव भी नहीं हुआ; ऐग्जिमा को कुछ नुकसान भी नहीं हुआ। उनके साथ खूब आनन्द से नहा कर मैं चली आयी।

यह घटना आपके सामने रखकर में यह सत्य निवेदन करना चाहती हूँ कि सचमुच शरीर हम लोगों का है नहीं, और अपना नहीं मानोगे तो इसके द्वारा किया हुआ कर्म, तुम्हारे लिए बन्धन भी नहीं बनेगा। कर्म–बन्धन से मुक्ति हम लोग चाहते ही हैं अतः जो कुछ भी करोगे, उसका फल बनता जाता है। वह बन्धन बनता जाता है। शरीर संसार का है, इस सत्य को जान लो और शरीर के द्वारा जो कुछ भी करो, उसका फल संसार को दे दो। इसका परिणाम यह होगा कि कर्म–फल नहीं बनेगा। आवागमन का चक्र कट जाएगा। इतना बड़ा वैज्ञानिक सत्य है इस जीवन का, इस शरीर को संसार के लिए उपयोग में लाने का। जो इतना कर लेता है। उसके लिए योगवित् होने में, भगवद् भक्त होने में कोई कठिनाई नहीं होती है।

(99)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम लोगों के सामने एक बड़ी समस्या है और वह यह है कि जो संसार हमें दिखाई देता है, वह पकड़ में नहीं आता; किसी की पकड़ में कभी नहीं आया। और जब हम उसकी ओर से निराश होकर, उसके स्वरूप को जानकर, जीवन की घटनाओं से पाठ लेकर, कुछ ठोस चाहते हैं कि जो एक बार मिलने के बाद फिर कभी बिछुड़े नहीं, तब संतजन हमारा ध्यान परमात्मा की ओर दिलाते हैं मुश्किल यह हो जाती है कि परमात्मा न दिखाई देता है, न जानने में आता है। बड़ी भारी समस्या है। जो देखने में आता है, वह पकड़ में नहीं आता और जिसको सत्य–नित्य बताया जाता है, वह देखने में नहीं आता। तो जो

देखने में आए और मिले नहीं और जो सदा–सदा से साथ है, मिला हुआ है वह दिखाई दे नहीं, तो आदमी करे क्या ? बड़ा भारी असमञ्जस हो जाता है।

तारीफ तो हम लोगों ने खूब सुन ली, कि परमात्मा सर्वव्यापी है, परमात्मा सबकी देख भाल करते हैं, सबको अपना कर रखते हैं सबको अपनी कृपा से पालते हैं, वे पतित–पावन हैं, वे भक्त वत्सल हैं। अब कितना कहेंगे ? कहते जाएँ, सारी ज़िन्दगी खत्म हो जाए, पर परमात्मा के गुणों का अन्त नहीं होगा। इतना बढ़िया है कि जिसके समान कोई दूसरा है ही नहीं। कैसे मालूम है ? उनके जो भक्त हैं, वे बताते हैं। उनको जो अनुभव हुए, उन्होंने ग्रन्थों में लिख दिया। अब सोचा जाए कि हम क्या करें ? यदि उस परम सुन्दर परम प्रेमी सर्व सामर्थ्यवान को हम लोग पाना ही चाहते हैं, उनसे मिलना ही चाहते हैं, तो संत की वाणी में विश्वास करना ही पड़ेगा और कोई दूसरा उपाय नहीं है। कभी कभी किसी साधक के जी में आता है कि भाई! परमात्मा दिखाई देते तो हम उनको प्यार करते । संसार में अनेक व्यक्तियों से हमने सम्बन्ध जोड़ा। तो कब सम्बन्ध जोड़ा ? जब दिखाई दिया, तब सम्बन्ध जोड़ा। खिलाने से खा ले, बातचीत करने से उत्तर दे दे, वस्तु देने से स्वीकार कर ले, प्रेम का प्रतिदान दे दे, तो उनको प्यार करें– ऐसा आदमी सोचता है। परन्तु संतजन यह सलाह देते है कि भाई। देखा हुआ संसार, जिससे हमने सम्बन्ध जोड़ा वह हमारे सम्बन्ध को निभा नहीं सका। जिनको हमने माता–पिता कहा था,वे आज नहीं है। और जो आज हमें माता–पिता कह रहे हैं उनको भी छोड़ कर हम चले जाएँगे। यह सत्य है कि नहीं ? संसार में जिस जिस से हमने नाता रिश्ता जोड़ा, हमारा वह माना हुआ सम्बन्ध सदा के लिए निभ नहीं सका।

इसलिए संतजन सलाह देते हैं कि देखो ! परमात्मा को संसार की भाँति अपनी इन्द्रियों का विषय बनाने की चेष्टा मत करो। संसार

की भाँति, बुद्धि के स्तर पर भगवान को समझने की चेष्टा मत करो। जो तुम्हारी समझ में आया और जो तुम्हारे देखने में आया, वह तुम्हारा होकर रह न सका। यह सभी का अपना अनुभव है। अब कोई कहता है कि भगवान सर्वान्तर्यामी हैं, घट घटवासी है। तो हम लोगों को सुनी हुई बात माननी पड़ी। यह हमारा जाना हुआ नहीं है। लेकिन जो मेरे देखने सुनने समझने में आता है, वह मेरा होकर रह नहीं सकता। आप एक बात और देखियेगा। देखने सुनने समझने में जो संसार आया, वह संसार सदा ही आप से कम मूल्यवान प्रमाणित हुआ। आप उसके द्रष्टा हो गए। आप उसके ज्ञाता हो गए। जो आपकी जानकारी का विषय बन सका, वह कम से कम आपकी बराबरी का तो नहीं हुआ। आपके समकक्ष नहीं हुआ। उसका मूल्य अवश्य ही आपसे कम है। अगर ऐसा न होता, तो जिस प्रकार, हम लोग शरीर को कह सकते हैं कि यह एक यंत्र है, इस प्रकार इस यंत्र में यह शक्ति नहीं है कि यह कह दे कि आप वक्ता है। इतना फर्क तो दिखता ही है।

कितना भी मूल्यवान और कितनी भी वैज्ञानिक सम्पत्ति से सम्पन्न कोई यन्त्र हो, कोई वस्तु हो, जिसके हम और आप ज्ञाता हैं, उससे हमारा आपका अविछिन्न सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता ? क्योंकि वह आपकी जाति का नहीं है। उससे हमारी आपकी जातीय एकता नहीं है। जिससे हमारी जातीय एकता नहीं है उससे यदि हम नाता रिश्ता जोड़ेंगे, तो कभी निभ नहीं सकेगा। एक शरीर, जिसको हमने सबसे अधिक मूल्यवान माना, वह शरीर भी जगत् की जाति का ही निकला। इस शरीर के माध्यम से, संसार का सुख लिया जा सकता है। अतः भोग–बुद्धि वाला व्यक्ति इसको बहुत मूल्यवान मान सकता है। परन्तु साधन–बुद्धि वाले साधक को इस शरीर को उतना ही मूल्य देना चाहिए– जितने का यह हकदार है। आप सोचकर देखिए कि इस शरीर को अपना कहते कहते कितना समय बीत गया। कितना भी इसको अपना कहा, उसके प्रत्युत्तर में, इसने

कभी आपको अपना नहीं कहा। अतः इसको अपना कहना, इससे ममता करना, इसको खूब महत्त्व देना, यह मानव जीवन का लक्षण नहीं है।

संत–जन सलाह देते है कि देखो भाई! जो तुम्हारे देखने सुनने में आया, वह तुमसे घटिया प्रमाणित हुआ। इसलिए उस अनमोल परमात्मा को जो सबसे सुन्दर है, सबसे अच्छा, सबसे अधिक मूल्यवान है ; उसे देखे सुने जाने वाली वस्तुओं की पंक्ति में लाकर खड़ा मत करो। यह सोचना कि परमात्मा दिखाई देगा तो हम प्यार करेंगे, गलत है। क्यों कि अगर वह दिखाई देगा तो देखी हुई वस्तुओं की श्रेणी में आ जाएगा। और देखी हुई वस्तुएँ हमेशा देखने वाले से कम मूल्यवान हे। इसलिए परमात्मा को हम लोग कम मूल्यवान वस्तुओं के साथ शामिल न करे। हमारे चाहने से वह हो नहीं जाएगा, लेकिन अपने में जो दुविधा रहती है परमात्मा को प्यार करने में, परमात्मा की आज्ञा मानने में परमात्मा से सम्बन्ध स्वीकार करने में, हम लोगों के भीतर एक बड़ा कौतुहल हो जाता है कि भाई ! क्या बताएँ, वह तो देखने में आता नहीं है, जानने में आता नहीं है। क्या जाने, उसको हम अपना मानते रहें, मानते रहें और यदि वह कहीं न निकला तो ? यह शंका निर्मूल ही है। ऐसी शंका हम लोगों को नहीं रखनी चाहिए।

अब दूसरी ओर देखो। वह हम सब लोगों में नित्य निरन्तर विद्यमान है– ऐसा अनुभवी जन कहते हैं। अब हमारे सामने प्रश्न केवल इतना है कि या तो भक्तों की वाणी सुन कर स्वीकार कर लो अथवा मत करो। न मानने से भी कोई विशेष क्षति नहीं होगी। मानव–सेवा–संघ सब किसी के लिए भगवान को अपना मानना आवश्यक नहीं बताता। आप न मानना चाहें, तो आप स्वाधीन हैं न मानने के लिए। मत मानिए। हम लोगों की दशा क्या है ? हम लोगों की दशा ऐसी हैं कि जब कहा जाता है कि प्रभु को अपना मान लो, तो हम कहते हैं, क्या बताएँ विश्वास ही नहीं होता। कैसे मानें ? और

जब यह कहा जाता है कि नहीं मान सकते हो, तो उसकी चर्चा छोड़ दो ; तब क्या कहते हैं ? कि क्या बताएँ छोड़ा भी नहीं जाता। कैसे छोड़ें ? हम लोग जो अधूरे ईश्वर–विश्वासी है उनकी अजीब दशा है। मान लो, तो माना नहीं जाता; छोड़ दो तो छोड़ा नहीं जाता। तो क्या इलाज है भाई ?

मैं कभी–कभी सोचती हूँ तो मुझे अपने समान साधक भाई–बहनों की दशा दिखाई देती है और ऐसा मालूम होता है कि अपने में, अपने को हर प्रकार से सँभालने की सामर्थ्य नहीं है तो किसी न किसी रूप में एक सामर्थ्यवान की सत्ता को मानना ही पड़ता है। क्या करे आदमी? मानने वालों से संतजन कहते हैं कि बिना देखे, बिना जाने उस परमात्मा को इन्द्रियों का विषय मत बनाओ। बुद्धि का विषय मत बनाओ। इसके आगे की शर्त और भी कठिन हे। वह क्या है ? बिना देखे, बिना जाने के सम्मुख, बिना शर्त के, उससे बिना कुछ चाहे, अपने को समर्पित कर दो। जानो भी मत देखो भी मत, माँगो भी मत। कितनी बड़ी शर्त है। और कुछ नहीं माँगोगे, तो दर्शन का सुख ही माँग ले, ऐसा भी मत सोचना। कोई कोई साधक सोच सकता है कि वे त्रिभुवन मोहन रूप हैं, वे कोटि मनोज लजावन हारे हैं, जिन भक्तों की दृष्टि खुल गई थी वे उनके स्वरूप का वर्णन कोटि मनोज लजावन हारे कहकर करते हैं। एक तो मनोज का रूप ही बड़ा मोहक है, सारे संसार के जड़ चेतन सभी प्राणियों को मोहित करके रखते हैं; इतने रूपवान हैं। कल्पना में आ सकता है कि करोड़ों मनोज को लज्जित कर देने वाले का रूप कैसा अनुपम होगा ? कल्पना में नहीं आ सकता। भक्तों की तो दृष्टि खुल गई उन्होंने देख लिया। हम लोग क्या करते हैं ? उस रूप को देखा नहीं लेकिन इच्छा यह रखते हैं कि जब मैंने अपना नाम तुम्हारे भक्तों की सूची में लिखवा लिया है और साथ ही जब मैंने यह सुना है कि तुम्हारा रूप त्रिभुवन मोहन है, तुम सभी को मोहित कर लेते हो,

करोड़ो कामदेव के समान रूपवान हो, तो हे प्यारे! इतना जरूर करना कि मैं जब पसन्द करूँ तो मेरे सामने वह रूप–माधुरी अवश्य प्रकट कर देना। यह अधूरे विश्वासी साधक जनों की बात है। यह भी नहीं माँगना है। उनको जाने बिना, उनको देखे बिना, उस पर बिना किसी प्रकार की शर्त के लगाए, उनसे बिना कुछ चाहे, केवल उनकी प्रसन्नता के लिए उनके होना पसन्द करते हो तो उनके हो जाओ। बड़ा कठिन काम है।

अनेक प्रकार की कामनाओं का भूखा प्यासा व्यक्ति, भला कैसे रह सकता है बिना कुछ माँगे। संतजन कहते हैं कि जो कुछ भी चाहता है, वह प्रभु का प्रेमी नहीं हो सकता। पहले अपने को अचाह करो; पहले संसार की वासना को छोड़ो। जब तुम्हारे जीवन में उन परम सुन्दर को, उन परम मधुर को रस देने के सिवाय और कोई भी बात नहीं रह जाएगी तो तुम्हारे उस प्रेम भरे व्यक्तित्व के प्रेमी, स्वयं भगवान हो जाएँगे। ऐसा किया है उन्होंने, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। जो बड़े बड़े भक्त हुए हैं, उन्होंने भगवान को कृपा करने के लिए भी नहीं कहा। मेरी खबर लो ऐसा भी कभी नहीं कहा। मेरे विरोधियों को शांत कर दो– ऐसा भी कभी नहीं कहा। उनको हर समय इस बात का ध्यान रहा कि किसी प्रकार मैं उनको प्रसन्न करूँ। वे प्रेमी जिन्होंने केवल प्रभु को प्रसन्न करने के लिए ही जीवन धारण किया, प्रभु की दृष्टि में बड़े मूल्यवान हो गए। सारी सृष्टि से अधिक उनका मूल्य हो गया। उनकी प्रसन्नता के लिए, वे परम उदार, हर प्रकार से अपने को उन भक्तों पर न्यौछावर करने को तैयार हो गए। तो घाटा लगा कि लाभ हुआ ? लाभ हुआ।

मैंने अपनी तुच्छ वासनाओं को छोड़ा; मैंने प्रभु की दी हुई सामग्री उनको अर्पित की, तो अपनी गाँठ का क्या गया ? कुछ नहीं। गाँठ टटोल कर देख लो, अपने पास अपनी कुछ बपौती है भी ? कुछ नहीं है। जो है सो सब उन्हीं का दिया हुआ है। लेकिन मैंने ऐसा सुना है,

भारतीय परम्परा में और पश्चिमी परम्परा में भी सुना है कि भगवान ने अपने आनन्द के लिए मनुष्य को बनाया। केवल अपने आनन्द के लिए। आप सोच लीजिए, दुनिया के कई ऐसे कोमल और शुद्ध चित के साधक हो गए, जिन्होंने सुना कि भगवान ने मेरी रचना तो अपने आनन्द के लिए की है, तो सुन करके ही वे कृत–कृत्य हो गए। उनकी अपनी कोई इच्छा ही शेष नहीं रही। कोई संकल्प ही नहीं रहा। इतनी सी बात से उनको बड़ा आनन्द आ गया कि सृष्टि के मालिक ने मुझको अपने आनन्द के लिए बनाया। वे कहते हैं कि मालिक ! तुझे जैसे आनन्द आए, वैसे ही करो। कोई कोई सन्तजन, जो गुरुमहाराज जी की आन्तरिक बातों को जानने के अपने को अधिकारी मानते थे महाराज जी से प्रश्न करते थे, महाराज ! आप भगवान के भक्त हैं, भगवान के प्रेमी हैं। भगवान के प्रति आपका सम्बन्ध क्या है ? कोई किशोरी जी का भक्त होता है, अर्थात प्रिया का भक्त होता है, कोई प्रियतम का भक्त होता है। स्वामी जी महाराज ने जो भाव धारण कर रखा था उसका वर्णन करते हुए एक बार यह कहा कि मैं तो प्रिया–प्रियतम दोनों के खेलने के लिए फुटबॉल हूँ।' यह भाव था उनका। क्या होगा ? जिधर फेंक दो, उधर ही फिँक जाऊँगा। और क्या होगा, इससे तुम्हें क्या मजा आएगा ? वाह ! इसमें तो बड़ा मजा है। क्यों ? फुटबाल के खिलाड़ियों का सारा ध्यान हर समय फुटबॉल पर ही केन्द्रित रहता है। अतः प्रिया ने फेंक दियातो प्रियतम देख रहे हैं किधर जा रहा है और प्रियतम ने फेंक दिया तो प्रिया जी देख रही हैं कि किधर जा रहा है। अपने आप उन्होंने फेंक दिया और अपने आप दोनों उसके पीछे दौड़ रहे हैं। यह आनन्द आ गया। यह आनन्द *किसका है ? यह आनन्द* अपने को अकिंचन बनाकर अचाह बनाकर, सब प्रकार से प्रिया–प्रियतम के आनन्द पर छोड़ देने वाले वीर–बहादुर, दिलदार साधक का है। यह केवल एक दिमागी ढंग से भावना करने की बात नहीं है। ऐसा उन्होंने अपने को माना और ऐसा सारा जीवन व्यवहार करते रहे। इस प्रकार से प्रिया–प्रियतम के प्रेम पात्र होकर

उन्होंने– अपने जीवन को उनके रस से भरपूर किया। उस रस का वितरण करके, हम सब प्रेम के प्यासे साधक भाई बहन, जो उनके इर्द–गिर्द फिरते रहते थे, सब लोगों को परम प्रेमास्पद के मधुर रस के आकर्षण और मिठास का आस्वादन भी कराया। जो लोग नजदीक रह चुके हैं वे लोग जानते हैं।

आज इस संध्याकाल की बैठक में अपने लिए और अपने सभी आत्मीय साधक भाई बहनों के लिए मैं यह निवेदन करती हूँ कि भाई! हमारे और भगवान के बीच की दूरी, जो मुझे मालूम है, इस दूरी का कारण कुछ नहीं है, सिवाय इसके कि हमने उनकी नित्य निरन्तर अपने में ही विद्यमान रहने वाली महिमा को स्वीकार नहीं किया। नाम जपते जाते हैं भजते जाते हैं, उनकी कथा कहकर जीवन का निर्वाह करते जाते हैं। फिर भी अपने और उनके बीच में दूरी अनुभव करते रहते हैं। कहने के लिए कहते हैं कि परमात्मा है मेरे गुरु ने मुझको कहा था, रामायण में लिखा हुआ है, गीता में लिखा हुआ है। सब है, लेकिन भीतर में थोड़ी–थोड़ी धुकपुक रहती है, सन्देह रहता है। कहने वालों ने कहा है, लिखने वालों ने लिखा है, लेकिन मेरे लिए ? मेरे लिए अभी भी लिखा हुआ, सुना हुआ ही मालूम होता है।

हम लोगों को चाहिए कि सब प्रकार का संशय छोड़कर केवल गुरुवाणी में श्रद्धा करके, भक्तवाणी में श्रद्धा करके वेद पुराण रामायण गीता की वाणी में श्रद्धा करके, प्रभु की सत्ता में निर्विकल्प विश्वास करें। यह पहली बात है। बाद में क्या होता है? कि आरम्भ में साधक केवल बाहर से सुनकर और भीतर परमात्मा की आवश्यकता अनुभव करके मान लेता है। आरम्भ में ही मानना पड़ता है और मानने का पुरुषार्थ ही हमें करना है। प्रारम्भ में जो परमात्मा केवल माना जाता है, आगे चलकर वही परमात्मा, उसी साधक के लिए जाना हुआ हो जाता है। सारी जिन्दगी आपको मानते रहना पड़ेगा, ऐसी बात नहीं है। हम लोगों को आरम्भ करना पड़ता है मानने से लेकिन जिनको हम मानते हैं वे परमात्मा स्वयं आगे चलकर, मानने वाले को

जता देते हैं। मानने का पुरुषार्थ हम करें और जता देने का दायित्व वे स्वयं करेंगे। देर नहीं लगती है; बहुत समय नहीं लगता। बहुत ज्यादा अनुनय विनय करवाना भी उनको पसन्द नहीं हैं

वे स्वयं परम स्वाधीन हैं। वे अपने भक्त को परम स्वाधीन देखना चाहते हैं। इसलिए मानव–सेवा संघ की प्रणाली में भगवद् प्राप्ति का अर्थ केवल इतना है कि आपका जीवन भगवद् स्मृति से भर गया कि नहीं ? भगवान आपको प्रिय लगने लगे कि नहीं? अपने आप, अपने प्रिय की याद आपको आने लगी कि नहीं ? तो भगवान का प्रेमी हो जाना, भगवद् प्राप्ति है, मानव सेवा संघ की भाषा में। क्यों ? इसलिए कि प्रेमी बन जाना, सब वासनाओं, तृष्णाओं सब विकारों को छोड़ कर जगत् से नाता तोड़ कर अपनी इच्छाओं अपने संकल्पों को त्याग कर सब प्रकार से प्रभु के होकर रहना, इतना साधक का पुरुषार्थ है। इसके बाद उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रेम के धातु में बदल जाता है। और यही भगवद् प्राप्ति है। इतना ही आपको करना है और शेष जो कुछ रहता है, वह तो परमात्मा अपने प्रेमियों पर न्यौछावर किए बिना खुद ही नहीं रह सकते हैं। उनको क्या हम लोगों की बेबसी मालूम नहीं है ? खूब मालूम है। वे तो खूब जानते हैं। उनकी दृष्टि में अगर कोई मानव देखे हुए संसार को नापसन्द कर देता है और बिना देखे हुए परमात्मा पर अपने को बिना किसी शर्त के छोड़ देता है, तो उसकी इस बहादुरी का परमात्मा बहुत आदर करते हैं। बहुत आदर करते हैं। वे जब द्रवित हो जाते हैं तो फिर क्या नहीं होता है; कोई क्या कह सकता है। उनकी करुणा, उनका प्रेम, उनकी महिमा, उनकी लीला भक्त को निहाल कर देती है।

(100)

उपस्थित महानुभाव सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो।

मानव–सेवा–संघ की स्थापना के पीछे संत हृदय का बड़ा भारी

संकल्प यह लगा हुआ है कि मनुष्य स्वयं अपने ही पुरुषार्थ के द्वारा जगत् के लिये और जगत्पति के लिये उपयोगी हो सकता है। जो सबके लिये उपयोगी हो सकता है, वह अपने ही लिये अनुपयोगी होकर दुःखी पड़ा रहे, मानव समाज की यह दुर्दशा संत महापुरुषों से सहन नहीं होती। यह कोई संगठन नहीं है। यह कोई दलबन्दी नहीं है और इस संस्था के सदस्य होने में भी किसी प्रकारकी पराधीनता नहीं है। ऐसा नहीं है कि सदस्य हो गये तो संस्था के साथ बँध गये, सो नहीं। यह संस्था हम लोगों को सलाह देती है कि पहले से जितने बन्धन पैदा करके रखे हों अपने लिये, सब से मुक्त हो जाओ। इस संस्था की सदस्यता कोई नया बन्धन नहीं पैदा करती। पहले से जितने बन्धन बन चुके हैं, जहाँ हम लोगों की आसक्ति जुटी हुई है वह तोड़ कर स्वयं स्वाधीन हो जाना है और स्वाधीन होकर परम प्रेमास्पद के प्रेमी होना है। यह एक विचार प्रणाली है। सोचने का एक ढंग है कि इस ढंग से सोच कर हम अपने में परिवर्तन ला सकते हैं जिससे सर्व दुःखों की निवृत्ति हो जाए, जीवन–मुक्ति हो जाय, भगवद्भक्ति मिल जाय, इसी उद्देश्य से इस संस्था की स्थापना हुई।

१९७४ के अक्टूबर में जब स्वामीजी महाराज की तबियत खराब हो चुकी थी, Branch bundle blocked हो गया था Heart का, तो कुछ देर बोलते रहने से बहुत पसीना हो जाता था, थकावट लग जाती थी, फिर भी बोलते ही रहे अन्त समय तक। दिल्ली में एक दिन सभा में बोल रहे थे। आधा घण्टा होने लगा तो हम लोगों ने धीरे धीरे इशारा करना शुरू किया कि कि महाराज आधा घण्टा हो गया अब बन्द करिये, अब मत बोलिये, तो बोलते–बोलते बहुत ही द्रवित हृदय से कहने लगे कि देवकी जी तुम मना कर रही हो कि मत बोलिये। अरे भाई ! जिसके दर्द होता है वह चिल्लाता है, वह चुप नहीं रह सकता। मैं कोई व्याख्यान थोड़े ही दे रहा हूँ। मैं कोई कथा नहीं सुना रहा हूँ मैं तो व्यथा सुना रहा हूँ। रह नहीं सकता बिना बोले। क्यों? क्योंकि दर्द है। क्या दर्द है ? मानव जीवन पाकर असफल रहना– इस

बात का दर्द है। उन्होंने अपना दुःख मिटा लिया। स्वयं जीवन मुक्त हो गये थे। भगवान के शरणागत होकर उनसे साक्षात्कार कर लिया था। अब फिर क्या था? तो अब अपने चारों और जन समूह जो दुःख में पड़ा हुआ है, पराधीनता और बेबसी में पड़ा हुआ है, उसका दुःख उसकी पराधीनता उसकी बेबसी श्री महाराज जी से सही नहीं जाती थी।

मानव–सेवा संघ–हम लोगों को कोई ऐसी बात करने को नही कहता कि जिसको हम नहीं कर सकते। बहुत ही सहज स्वााभाविक ढंग से जिस परिस्थिति में आप हैं, जो भी सामर्थ्य अपनी है, जैसी भी योग्यता अपनी है वही सब लगाकर सर्वहितकारी भाव से सेवा प्रवृत्ति में समाज के काम आयें। कुटुम्ब परिवार के काम आयें। इसका एक बड़ा ही शुभ परिणाम यह होता है कि पूरी सामर्थ्य लगाकर जब व्यक्ति कुटुम्ब परिवार, समाज की सेवा करता है तो सेवा के अन्त में स्वतः ही शान्ति मिलती है।

समाज और संसार के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना, इसको स्वामी जी महाराज ने मानव धर्म बताया। 'धर्म' शब्द का प्रयोग इसके लिये किया है कि यह मानव का धर्म है। क्या धर्म है कि भाई! भलाई करने के लिए तो जब सामर्थ्य मिलेगी, संयोग जुटेगा तभी करोगे, परन्तु बुराई किसी की मत करो। कभी–कभी सोचने से मुझे ऐसा लगता है कि समाज की उदारता, समाज के सहयोग से हम स्वयं अपना निर्वाह करते है, परन्तु कितनी बड़ी भूल होती है कि उसी समाज में किसी के साथ वह भी करते हैं जो नहीं करना चाहिए। तो यह अधर्म हो गया। यह धर्म नहीं रहा और यदि ऐसा मैंने किया तो फिर किसी भी विधि–विधान से, किसी भी साधन से परमात्मा नहीं मिल सकते। कोई नियम, कोई बाहरी सहायता, कोई बल कोई सामर्थ्य हम लोगों को अशान्ति से नहीं बचा सकती। अशान्ति होगी अवश्य, यदि हम धर्म का पालन नहीं करते तो।

मानव–सेवा–संघ में धर्म–पालन का अर्थ क्या है। संसार में हम लोगों ने बहुत सी मान्यतायें मानी है; किसी को माता–पिता कहा, किसी को भाई–बन्धु कहा, किसी को बेटा–बेटी कहा, किसी को पड़ौसी देश वासी ऐसा कहकर अनेकों व्यक्तियों के साथ अनेक प्रकार की मान्यता हमने अपने में रखी हैं। है तो यह मिथ्या, रहने वाला नहीं है, निभने वाला नहीं है फिर भी मानव सेवा संघ ने इस मिथ्या सम्बन्ध को साधन के रूप में बदल डालने की सलाह दी। विवेक विरोधी सम्बन्ध होने पर भी यदि हम उसे साधन के रूप में बदल डालते हैं अर्थात् पिता कि लिये पुत्र होकर रहे। पिता के लिये पुत्र होकर हरने का मतलब क्या है? कि पिता के प्रति पुत्र का जो कर्त्तव्य है वह पूरा करें परन्तु पिता से पुत्र को जो आशा रहती है, बदले में कुछ लेना चाहता है, उसे छोड़ दें। पिता को अपने लिये पिता न मानना, पिता के लिये पुत्र होना, यह मिथ्या सम्बन्ध के प्रभाव से अपने में जो मोह और आसक्ति पैदा हो गई थी उस मोह और आसक्ति को मिटाने का उपाय है।सम्बन्ध वही है कोई नया नहीं बनाया।भाई बन्धु मान लिया, पति–पत्नी मान लिया, बेटा–बेटी मान लिया, तो मानना तो हम लोगों ने भूल से किया था, जो नित्य सम्बन्धी है उसकी विस्मृति हो गई, उसकी जगह पर अनेक सम्बन्ध दिखाई देने लगे और अनेक सम्बन्धियों से सम्बन्ध जोड़कर अनेक प्रकार की उलझनें हमने पैदा करली। यह सब किया तो था भूल से, लेकिन जब साधक का दृष्टिकोण अपनाया जाता है तो इस भूल के निराकरण का यह बहुत अच्छा उपाय है कि माने हुये सम्बन्धियों के साथ उनके प्रति जो अपना कर्त्तव्य है, वह पूरा किया जाय और उन पर अब तक जो अपना अधिकार मानते रहे, उसको छोड़ दिया जाय। बड़ी भारी तपस्या हो जायगी। और कभी कभी तो मुझे ऐसा भी लगता है कि इस प्रकार धर्म परायणता के बिना कर्त्तव्य पालन के बिना, यदि कोई साधक बार–बार कुटुम्ब परिवार समाज को छोड़ कर एकान्त में कहीं जाकर बैठता है तो उसे सफलता मिलना बहुत कठिन है। समाज में रहकर,

परिवार में रहकर यदि यह तपस्या हम लोग कर सकें तो इस प्रयोग से घर में रहते हुये भी, घर की आसक्ति टूट जायगी। परिवार में रहते हुये भी मोह का बन्धन कट जायगा। अनेक प्रकार की शुभ प्रवृत्तियों में लगे रहने पर भी भीतर की शान्ति सुरक्षित हो जायगी। यह जीवन का सत्य है।

सन्तों का अनुभूत सत्य है कि यदि हम लोगों में से किसी भाई–बहन को इस सत्य में आस्था होती हो अपने लिय उपयोगी मालूम होता है तो इसका प्रयोग करके देखें। कुछ खर्च नहीं करना पड़ेगा । नया कष्ट नहीं उठाना पडेगा घर–बार नहीं छोड़ना पड़ेगा आप जैसे है वैसे ही रहें, उसी घर में रहे, कमाई भी करे, बाल बच्चों का पालन भी करे, और यह सब कुछ करते हुए यदि आपने विवेक के प्रकाश में धर्म परायणता को अपना लिया और अधिकार लालसा को छोड़ दिया तो इतने ही से जीवन मुक्ति मिल सकती है। शान्ति जो आती है भीतर से उस शान्ति की अवधि लम्बी होने लगती है। जिसके साथ जो कुछ करने का है सो कर लिया और उसके बदलेमें किसी प्रकार की आशा नहीं की, तो करने के बाद बाहर से छुट्टी तो क्या मिलेगी लेकिन अन्दर से बहुत आराम, बहुत शाति मिलती है। आप लोगों ने भी इसका अनुभव किया होगा। थोड़ी देर के बाद कोई नया संकल्प सामने आता है, कोई नया कर्त्तव्य सामने आता है, कोई नया काम, कोई नई बात मस्तिष्क में पैदा हो जाती है तो फिर साधक जो है वह साधन बुद्धि से शुभ कर्म में, हितकारी कार्य में लग जाता है। कार्य के अन्त में और नया आरम्भ करने से पहले बीच का जो समय है वह समय कर्म के फल की आशा और कर्त्तापन के अभिमान के दोष से बचा रहे तो यह बड़ा लाभ दायक है। अधिक से अधिक पन्द्रह मिनट यदि शान्त रह सके हस तो अपने इसी वर्तमान जीवन में शरीरों से तादात्म्य तोड़ने का बल आ जायगा। अभी तक हम लोगों ने शरीरों से अलग अपने अस्तित्व को नहीं देखा, लेकिन धर्म परायणता का यह बड़ा ही

शुभ परिणाम होता है। स्वामी जी महाराज कभी इसको कर्त्तव्य विज्ञान कहते थे, कभी धर्म परायणता कहते थे। इसका उत्तर पक्ष है शान्ति का अवतरण। धर्म पालन का उत्तर पक्ष है योग। अर्थात् कर्त्तव्य पालन के बाद भीतर बड़ी शान्ति आती है और साधक में शरीरों से अतीत जो अपना अविनाशी अस्तित्व है, उसका बोध हो जाताहै। इस प्रकार के योग की चेष्टा हम सब लोग कर सकते हैं।

अभ्यास से जो योग होता है वह सबके लिये सम्भव नहीं है उसके लिये बहुत सी आवश्यक तैयारी चाहिये। आप सोचिये काम तो हम कर ही रहे हैं। हानि लाभ सह ही रहे हैं ऐसी दशा में थोड़ा अपना विकास कर लिया जाय, साधन की बुद्धि से जीना आरम्भ करें तो सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति आती ही है, और सचमुच जो किये हुये कर्म के बदले में कुछ नहीं चाहता और कर्त्तापन का अभिमान नहीं रखता हो, ऐसा जो निस्पृह, कर्त्तव्य–परायण साधक है उसी में फिर प्रभु की भक्ति की सामर्थ्य भी आती है। क्योंकि भक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ मैंने सुना है महाराज जी से और जैसा मैंने अपने को समझाया है, वह यही है कि जो कुछ भी चाहता है किसी भी रूप में वह भगवान का भक्त नहीं हो सकता, क्योंकि भक्ति में अपने लिये कोई खास बात नहीं है। अपने लिये बात इतनी है कि जिसने संसार में कर्त्तव्य पालन की सामर्थ्य दी, जिसने विवेक का प्रकाश देकर जीवन मुक्त बनाया, कितना अच्छा होता कि यह जीवन उस परम कृपालु, परम उदार के लिये उपयोगी हो जाता।

प्रभु के लिये उपयोगी होने का अर्थ क्या है ? कि प्रभु के प्रेमी बन जाओ। प्रभु का प्रेमी कौन बन सकता है ? जो अपने लिये कुछ नहीं चाहता । जो कुछ भी चाहता है वह लेन–देन का व्यापारी हो जाता है,प्रेमी नहीं हो सकता। तो चाह में हम लोग फँसे हुये हैं। चाह को मिटाए बिना जीवन न जगत् के लिये उपयोगी होता है, न अपने लिये होता है और न प्रभु के लिये होता है। जो अनेक प्रकार के लालच

में पड़ा हुआ है वह समाज के काम नहीं आ सकता। जो कुछ भी चाहता है वह चिन्ता मुक्त नहीं हो सकता और मैंने तो सन्तवाणी में ऐसा सुना है कि कोई भी साधक अपने सब संकल्पों को प्रभु की भक्ति के लिये छोड़ देता है और प्रभु का प्रेमी होकर रहना पसन्द करता है तो अगर उसने बहुत मामूली सा छोटा सा त्याग भगवत भक्ति के लिये किया होगा, तो जितना उसने त्याग किया होगा उसमें कहीं अधिक, असंख्य गुणा बढ़ाकर भगवान उसको भर देते हैं।

उनका मंगलकारी विधान कितना अच्छा है। कितनी सहृदयता है उसमें। कितनी आत्मीयता है। कितनी दूरदर्शिता है। श्री महाराज जी अनेक बार इन बातों को हम लोगों के सामने कहा करते थे। परन्तु अब कोई घटना सामने आ जाती है तब उसका अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता है। महाराज जी कहा करते थे कि भाई ? जिस संकल्प को पूरा किये बिना तुम्हारा विकास रुका हुआ होगा उस संकल्प की पूर्ति भी कृपालु अपनी ओर से कर देते हैं। साधक का विकास रुका रहे, यह बात उनसे सही नहीं जाती। जिस संकल्प की पूर्ति से साधक के जीवन में अधिक जड़ता आ गई होगी उस अनुकूलता को तोड़ देते हैं। साधक के जीवन में जड़ता आ जाय, यह परम सुहृद परमात्मा को पसन्द नहीं है। जिस संकल्प की पूर्ति के बिना साधक अपने स्तर पर उलझ जाता है। वे अपनी कृपालुता से उसे भी पूरा कर देते हैं जो कि साधक के सामर्थ्य के बाहर की बात थी। यह भी उनका मंगलकारी विधान है। जब वे अपनी ओर से हमारी इतनी देखभाल करते ही है, हम लोगों को सँभालते ही है, तो ऐसी घड़ी में ईश्वर विश्वासी होकर उनकी महिमा में दृढ़ आस्था न रखना बड़ी भारी भूल होगी। उनकी महिमा में दृढ़ आस्था भी रखें हम, उनकी दी हुई सामर्थ्य के अनुसार कुटुम्ब परिवार समाज संसार की सेवा भी करें और की हुई सेवा का फल छोड़कर कर्तापन का अभिमान छोड़ कर केवल उनकी प्रसन्नता के लिये हमारी दृष्टि जब संसार पर जाय तो सेवा करें और संसार से हटें

तो उनकी याद में रहें, उनके प्रेम की प्रतीक्षा में रहें उनके मिलन की उत्कट लालसा में रहे। इस प्रकार की रहंनी यदि हमारी हो जाय, इस प्रकार का हमारा जीवन बन जाय तो मुझे ऐसा लगता है कि इसके बाद हमें फिर कुछ सोचना नहीं पड़ेगा, कुछ करना नहीं पड़ेगा सब कुछ बिल्कुल स्वााभाविक हो जायेगा।

विधि–विधान की बात तो सचमुच थोड़ी देर के लिये होती है। संसार दिखाई दे तो प्रभु का ही प्रतिरूप मानकर उसके काम आने की सोचें। अगर काम आने की घड़ी नहीं हैं तो दिल से उसका भला मनायें, इतना तो हम सब कर ही सकते हैं जैसे किसी दुःखी का दुःख दूर करने की सामर्थ्य अपने में नहीं है तो दुःखी का दुःख देखकर अपना हृदयं पीड़ित हो तो उस पीड़ित हृदय से उसका भला मनायें। हे प्रभु ! इस दुःखी का भला करें इसका उपकार करें, इसको सद्‌बुद्धि दे, इसका दुःख दूर करें। श्री महाराज जी ऐसा कहा करते थे कि अगर किसी को दुःखी देख कर तुम उसका उपकार नहीं कर पाते हो , उसका दुःख नहीं मिटा पाते हो तो उसकी पीड़ा से तुम्हारा हृदय अगर पीड़ित हो जाय तो उसका बड़ा अच्छा फल होता है। निर्बल के हृदय में जब करुणा उपजती है तो सबल को प्रेरणा मिलती है। ऐसा अनेक बार हुआ है। श्री महाराज जी के सामने तो इस तरह की घटनायें बहुत होती रही हैं।

इस तरह से साधक के जीवन में करुणा के लिये पर–पीड़ा से पीड़ित होने के लिये प्राप्त सामर्थ्य का उपयोग परिवार तथा समाज की सेवा में करने के लिये अवसर हम लोगों के जीवन में खूब आये हैं, फिर भी जड़ता में पड़े रहें अवसर से लाभ न उठायें तो यह बड़े घाटे की बात हो जायेगी। यह मानव सेवा संघ का सत्संग जीवन से अलग नहीं है जीवन के साथ मिला हुआ, प्रतिदिन की जिन्दगी में घुला मिला हुआ है प्रतिदिन के व्यवहार में हम उसको साथ में लेकर चलें तो अपने आप हमारा विकास होगा, अवश्य होगा और हम सब लोग साधन

सम्पन्न होकर सेवा के द्वारा जगत् के लिये, और परम प्रेम के द्वारा प्रभु के लिये उपयोगी होकर सदा–सदा के लिये कृतकृत्य हो जायें। अब थोड़ी देर के लिये शान्त हो जायें।

(101)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो,

हम लोग मानव हैं। मानव होने के नाते साधक है और साधक के जीवन की सार्थकता इस बात में है कि मरने से पहले उसको सिद्धि मिल जाय नहीं तो साधक होने का कोई अर्थ नहीं है। अन्यथा यह ऐसा ही होगा कि जैसे कोई विधार्थी है और पढ़ता भी है परीक्षा भी देता है और ऐसा ही सब करते करते उसकी सारी जिन्दगी बीत जाये, लेकिन वह कभी परीक्षा पास न कर पाये। ऐसा विद्यार्थी होना तो कोई अर्थ नहीं रखता है ऐसे विद्यार्थी के जीवन की कोई सार्थकता नहीं है। इसी प्रकारसे बहुत गम्भीरता से अपने सम्बन्ध में हम लोग विचार करें कि मानव साधक है सत्संगी है विचारक है; विश्वासी है ; ये बहुत सारी बातें, साधन युक्त मान्यतायें हम लोगों ने अपने लिए स्वीकार कर ली हैं। इसकी सार्थकता इस बात में है कि शरीर के नाश होने से पहले हम लोगों को जीवन–मुक्ति मिल जाए; भगवद्–भक्ति मिल जाए।

सुन करके किसी किसी भाई बहन को बहुत कठिन भी लगता होगा कि यह कैसे हो सकता है कि जीवन–मुक्ति मिल जाए; भगवद्–भक्ति मिल जाए। मैं कहती हूँ कि अगर यह नहीं हो सकता है, तो हम लोगों को अपने से पूछना चाहिए कि तब साधक की सूची में नाम क्यों लिखवाया? अगर भगवद्–भक्ति, जीवन–मुक्ति सम्भव नहीं है तो सत्संग की गोष्ठी में बैठते किसलिए हैं ? बात ऐसी है कि जिसने अपना नाम साधकों की सूची में लिखवाया, जिसने अपने को सत्संग में शामिल करना पसन्द किया, उसको इस बात में बहुत दृढ़

आस्था रखनी चाहिए कि शरीर छूटने से पहले मैं जीवन–मुक्त हो जाऊँ, भगवद्–भक्त हो जाऊँ और यही सम्भव है। बाकी सब कुछ होकर के भी, नहीं होने के समान है। इसका अर्थ क्या है ? महाराज जी ने एक बार बड़े मार्मिक शब्दों में यह कहा था कि अरे भाई ! देखो, हम लोग रोते–रोते जन्में हैं, अब रोते–रोते मर जाएँगे तो इतने दिन दुनियाँ में रहकर पृथ्वी से भार उठवाया, वायुमण्डल को गन्दा किया, राष्ट्र से सुरक्षा ली, इन ऋणों को चढ़ाने का कोई फल निकला ? गहराई से सोचो कि जन्म क्यों हुआ ? शरीर क्यों धारण करना पड़ा।

वास्तविकता यह है कि शरीर धारी होने के राग का नाश नहीं हुआ था। क्रिया–जनित सुख का राग नहीं मिट सका था। धन कमाकर, धनी मानी कहलाने का राग नहीं मिटा था, इसलिए जन्म लेना पड़ा। शरीर के मोह का नाश नहीं किया था; धन के लोभ का नाश नहीं किया था। सुख की वासनाओं का अन्त नहीं किया था। इन कारणों से विवश होकर जन्म लेना पड़ा; शरीर धारण करना पड़ा। अब अन्त में ऐसी घड़ी आ गई कि शरीर का मोह भी नहीं गया, लोभ भी नहीं गया, राग भी नहीं गया, सुख की वासना भी नहीं गई और संसार छूट रहा है जन्म लेने के समय जो दशा थी, मरने के समय फिर वही दशा तो पचास वर्ष या अस्सी वर्ष इस दुनिया में जिन्दा रहे तो जीने का फल क्या निकला ? कोल्हू के बैल की भाँति चौबीस घण्टे चक्कर भी काटे तो रहे कहाँ ? जहाँ के तहाँ। आप सोचिए। बहुत गम्भीरता से सोचने की बात है संतजन ये बातें हम लोगों की जड़ता को तोड़ने के लिए कहते हैं सुख भोग की आशा ने विवेक के प्रकाश को ढक दिया। प्रकाश हम लोगों को राह दिखा रहा है, उसके ऊपर अपने, लोभ, मोह, जड़ता के पर्दे को हम लोग डाल लेते हैं यही भूल है।

मानव जीवन जिसने दिया, उसने हर प्रकार की स्वाधीनता दी थी, उसके दिए हुए का क्या लाभ हमने उठाया ? कोई लाभ नहीं निकला। हमारे लिए यह बहुत ही विचारणीय बात है कि जैसे बहुत

से काम हमने किये थे, व्यक्तित्व का श्रृंगार किया था, समाज में थोड़ा सिर ऊँचा करके चलने का उपाय किया था, साधकों की सूची में नाम लिखवाना और किसी न किसी प्रकार की साधना में लग जाना और ऊँचे आसन पर बैठ करके सत्य की चर्चा कर लेना और वक्ता बनकर श्रोता को रिझा लेना– यह सब कहीं हमारे व्यक्तित्व का श्रृंगार बनकर न रह जाए; इसके लिए अपने को बहुत सावधान होना है। मैं पहले अपने को ही समझा लूँ, तो बहुत है। आप सब लोग अपने को समझाने का अपना अपना ढंग निकालियेगा।

आप सोचकर देखिए ! अच्छे कपड़े पहन लेना, हीरे मोती से सजा लेना या महल बना लेना उसके बल पर यदि जीवन का मूल्य बढ़ता है तो ईंट पत्थर मनुष्य से ज्यादा कीमती हो गया। संसार की, जड़ जगत् की जड़ वस्तुएँ ज्यादा कीमती हो गईं। अगर इस प्रकार की भूल हम पहले करते थे, तो यह भी हमारे लिए एक भूल ही होगी कि साधकों की सूची में नाम लिखवाकर दूसरों की अपेक्षा अपने को कुछ विशेष समझने लग जाएँ, यह भी भूल ही होगी। दूसरे को कुछ न समझना और मैं अधिक समझदार हूँ– ऐसा मानना अन्य दुर्गुणों की अपेक्षा अधिक बड़ा बन्धन होगा हमारे लिए। तो ये सारी बातें हमारे व्यक्तित्व का श्रृंगार बन कर न रह जाएँ। बन्धन का कारण न बन जाएँ, इसके लिए हमें सावधान रहना है। वक्ता हो चाहे श्रोता हो, मानव–सेवा–संघ में तो दोनों में कोई भेद नहीं माना जाता है। वक्ता को ज्यादा सावधान रहना पड़ता है। अगर उसको अपने अहम् का अभिमान बढ़ गया तो श्रोता से बहुत नीचे स्तर पर चला जायगा। सावधान किस बात के लिए रहना है ? यदि मैंने अपने को साधक कहा है, यदि मैंने अपने को सत्संगी कहा है तो मुझको इस बात में दृढ़ आस्था रखनी पड़ेगी कि साधक और सत्संगी जो होता है, उसको जीवन–मुक्ति, भगवद्–भक्ति वर्तमान में मिलती है। उपाय क्या करना होगा ? यह तो मैं पीछे बताऊँगी। पहले हम लोग इस बात पर तो दृढ़ता से खड़े हो जाएँ कि सचमुच मैने अपने को सत्संग में शामिल

किया है, कि जीवन मुक्ति और भगवद् भक्ति मुझको मिलनी ही चाहिए।

मानव–सेवा–संघ मनुष्य को समय गँवाने के लिए कोई मौका नहीं देना चाहता है। क्यों ? क्योंकि यह जीवन है तो अपने को चारों ओर उजाला–उजाला दिखाई दे रहा है । विवेक के प्रकाश में मार्ग दिखाई दे रहा है। समाज की उदारता से, राष्ट्र की उदारता से हम लोग यहाँ सुरक्षित बैठकर सत्य की चर्चा कर रहे हैं। भगवद् कृपा से हृदय में इतनी मानवता शेष रह गई है कि पर–पीड़ा देखें तो अपना सुख बाँट सकें– अभी तो इतना उजाला है। अगर इसका सदुपयोग हम नहीं कर लेंगे तो कल जड़ता छा जाएगी; अन्धकार छा जाएगा; असमर्थता आ जाएगी; परिस्थिति बदल जाएगी; अवसर निकल जाएगा। तो क्या करेंगे ? यह बहुत सोचने की बात है। मानव–सेवा–संघ में किसी सम्प्रदाय की किसी मत की, किसी पन्थ की चर्चा नहीं होती है। यह तो मानवतावाद है। यह मानव–मात्र की बात है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं यह कहती हूँ कि आप सम्प्रदायों को बेकार समझिये। बेकार मत समझिये, लेकिन इसमें आपको खुली छूट है, पूरी स्वाधीनता है कि जो सम्प्रदाय आपको पसन्द हो, उसी में रहिए। जो वह कहे, कीजिए। लेकिन उसके साथ यदि आपने मानवता के सत्य को मानवता के सिद्धान्त को नहीं माना तो आपका व्यक्तिगत सत्य जो है, आपका जीवन नहीं बन पाएगा। इसलिए मानव सेवा संघ की जरूरत है।

कोई–कोई कभी–कभी, महाराज जी से प्रश्न करता था, महाराज जी ! दुनिया में तो बहुत प्रकार के संघ बने हुए हे। एक यह नया संघ आपने और क्यों बनाया ? तो महाराज जी कहते कि भाई, बहुत सारे बने हुए हैं छोटी छोटी सीमाओं में। वर्गीकरण किए हुए सत्य के आधार पर, अपना अपना आग्रह लेकर, उन्होंने दूसरों के बीच में भेद की दीवार खड़ी की हुई है। यह संघ सब भेदों से ऊपर उठाकर

मानवता के स्तर पर मानव मात्र को एक करने का मंत्र है। अपने अपने मत का आदर अपने लिए करो; अपने अपने मत का अनुसरण करो और सब व्यक्तियों को, उनके मतानुसार चलने की स्वाधीनता दो। आपको आपके व्यक्तिगत सत् का अनुसरण कराने में स्वाधीनता देने के लिए मानव–सेवा–संघ बनाया है। यह एब व्यापक प्रणाली है। आप बहुत ही खुले मन से इसके सम्बन्ध में सोचिए।

मानव–सेवा–संघ कहता है कि अनुसरण करो तुम अपने मत का; अनुसरण करो तुम अपने विचार का लेकिन अपनी आँखों देखो, अपने पैरों चलो। दूसरों की आँखों से तुम देख नहीं सकोगे और दूसरों के पैरों से तुम चल नहीं सकोगे। इसलिए अपनी आँखों देखो, अपने पैरो चलो। अपने मत का अनुसरण करो, अपने विचार का अनुसरण करो। निज विवेक के प्रकाश में अपने को देखो। परन्तु जैसे तुम अपने मत–सम्प्रदाय में अपने को स्वाधीन मानते हो, वैसे दूसरों को भी उनके मत, सम्प्रदाय विचार, के अनुसार चलने दो। जो अनुसरणीय है, आदरणीय है, वह सबका है। यह दर्शन की भिन्नता होने पर भी, जीवन की एकता का पाठ पढ़ाने वाला संघ है। यह इस प्रकार की विश्वव्यापी साधन–प्रणाली है कि जिसके मानवता के सिद्धांतों को, कोई भी व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता।

मानव मात्र का यह सत्य है कि हम रोते–रोते जन्में हैं और यदि आपने व्यक्तित्व के मोह का नाश नहीं किया, अभिमान का त्याग नहीं किया, प्राप्त सामर्थ्य से समाज की, माता–पिता की सेवा नहीं की विवेक के प्रकाश में शरीर और संसार से असंग नहीं हुए; हृदय की भावना के आधार पर प्रभु के प्रेमी नहीं हुए; तो मरने के समय रोना पड़ेगा। यह तपश्चर्या; यह त्याग, सेवा, ईश्वर विश्वास क्या केवल हिन्दुओं के लिए है ? सो नहीं है ? दुनियाँ में कोई भी व्यक्ति जिसने ममता और कामना का त्याग किया, उसको शान्ति मिल गई दुनियाँ में कोई भी व्यक्ति, जिसने शरीर और संसार से सम्बन्ध–विच्छेद

किया, उसको मुक्ति मिल गई। दुनियाँ के किसी भी व्यक्ति ने सहज विश्वास के आधार पर प्रभु को अपना माना, तो उसको भक्ति मिल गई। इसलिए हम सब लोग आँख खोलकर देखें। खुले मस्तिष्क से विचार करें तो स्पष्ट विदित होगा कि छोटी–छोटी साम्प्रदायिक सीमाएँ बाँधने से मानव–मानव के बीच में एक भेद की दीवार खड़ी हो जाती है। व्यक्तिगत सत्य का आग्रह ऐसा ही कराता है। मानव सेवा संघ ने कहा कि व्यक्तिगत भिन्नता का तथ्य तो प्राकृतिक तथ्य है इसको संसार से मिटाया नहीं जा सकता है। जो प्राकृतिक सत्य है जो प्राकृतिक तथ्य है उसको स्वीकार करके चलो। मूल रूप से देखो, तो विदित होगा कि मानव मात्र की समस्या एक ही है और उसका समाधान भी एक ही है कि ममता और कामना छोड़ दोगे तो शान्ति अवश्य मिल जाएगी। इस मौलिक सत्य को स्वीकार करो।

इस दृष्टि से हम लोगों की समस्या एक है और समस्या का समाधान जब हो जाता है तो दिव्य चिन्मय जीवन का आनन्द भी सबके लिए एक ही होता है। किसी भी सम्प्रदाय का सन्त भक्त बन गया हो किसी भी विचार का, किसी भी देश का, किसी भी युग का साधक यदि अपने जीवन की पूर्णता को पहुँच गया तो योग–बोध प्रेम से सम्पन्न हो ही जाता है। जीवन की पूर्णता में सबको सब कुछ मिल ही जाता है। तो हमारी माँग एक है; जीवन की पूर्णता हमारी एक है। बीच में जो भेद दिखाई देता है। व्यक्ति–व्यक्ति का अन्तर दिखाई देता है, वह व्यक्तिगत भिन्नता के कारण है। इसलिए व्यक्तिगत सत्य का अनुसरण करो व्यक्तिगत सत्य के आधार पर आगे बढ़ो तभी जीवन की पूर्णता प्राप्त होगी। पूर्णता में वही मिलेगा, जो सबके लिए सदा–सदा से है।

आप जब साधक होकर साधक की दृष्टि से जीवन पर विचार करेंगे, शरीर मात्र को प्रकृति की सम्पत्ति जानकर सोचना शुरू करेंगे, प्राणी मात्र को परमात्मा का विस्तार जानकर सोचना शुरू करेंगे, तो

आपकी दृष्टि बदल जाएगी। मैं ऐसा अनुभव करती हूँ कि विवेक का प्रकाश लेकर चलो तो संसार बदल जाता है। एक दिन असाधन काल में व्यक्ति कहता है कि संसार में बड़ा संघर्ष है अरे भाई! तुमको संघर्ष क्यों दिखाई देता है। संसार से कुछ लेना चाहते हो, इसलिए संघर्ष दिखाई देता है ? और देना शुरू करो तो क्या मालूम होता है ? संसार बड़ा प्रेमी है। संसार बड़ा सहयोग देता है। मानव–सेवा–संघ के नव युवक कार्य कर्ता जो जीवन लगाकर समाज की सेवा करते हैं वे कहते हैं कि भाई ! समाज तो बड़ा उदार है मैं तो कहने भी नहीं पाता हूँ कि अमुक प्रकार की सेवा के लिए इतनी सम्पत्ति चाहिए, मेरे कहे बिना ही सम्पति वाले अपने आप से आकर दे जाते हैं कि इसको सेवा में लगा देना। उनको तो समाज बड़ा उदार दिखाई देता है। ज्ञानी जन जब अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, तो उनके आगे सृष्टि रहती ही नहीं है। आप सच मानिए यह अहं रूपी अणु के अभिमान से ऊपर उठे हुए महापुरूषों का अनुभव है कि संसार लुप्त हो जाता है।

सुख के भोग की आसक्ति के काल में संसार बड़ा आकर्षक, बड़ा मीठा, बड़ा लुभावना प्रतीत होता है तो चित्त को लुभा लेता है; मन को खींच लेता है तो बड़ा भारी पतन हो जाताहै। यह सब अपनी ही दृष्टि का विकार है और नहीं तो क्या होता है ? जिन्होंने शरीर से असंगता प्राप्त की नहीं; स्थूल–सूक्ष्म–कारण तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ा नहीं कि उनका दृष्टि का व्यापार लुप्त हो जाता है। कहीं कुछ नहीं कहीं कुछ नहीं एक नित्य अखण्ड आनन्दमय अस्तित्व के सिवा कुछ नहीं रहता है। आपने उस परम प्रेमास्पद को अपने हृदय का प्रेम भाव देकर रस प्रदान करना पसन्द किया नहीं कि आपकी आँखों के सामने उसकी मधुर लीला के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता है। तो ज्ञानी की दृष्टि में भी सृष्टि नहीं है और प्रेमी की दृष्टि में भी सृष्टि नहीं है। यदि आपने प्रभु से प्रेम का नाता जोड़ लिया तो आप ही का दिया हुआ प्रेम उस प्रेमास्पद की ओर से अनन्त गुणा अधिक होकर, आपके रोम रोम को शान्त, स्निग्ध और सरस बना देगा। जब यह हो

जाएगा, तब उसके बाद सारी सृष्टि में आपके प्रेमास्पद की मधुर लीला को छोड़कर और कुछ नहीं रहता है। किसी भक्त ने कहा:–

'जित देखूँ, तित श्याममयी है।'

श्याम ही श्याम, श्याम ही श्याम, प्रभु ही प्रभु, प्रेम ही प्रेम, और कुछ है ही नहीं। यह हमारे आपके इसी जीवनका चमत्कार है। इस समय हम लोग कैसे है? थोड़ा सद्गुण – थोड़ा दुर्गुण; थोड़ी दुर्बलता –थोड़ी सामर्थ्य; थोड़ा विचार –थोड़ा भाव थोड़ा विश्वास थोड़ा भक्ति; थोड़ी आसक्ति थोड़ी विरक्ति इस समय हम लोगों को ऐसी दशा है। लेकिन यह इसी जीवन की महिमा है कि आप जब ज्ञान का अनुसरण करेंगे, तो अपने आप में अपने निज स्वरूप में अखण्ड आनन्द में आपका निवास हो जाएगा। आप जब प्रभु के प्रेमी हो जाएँगे, तो आप का रोम–रोम उस परम प्रेमास्पद के मधुर रस से छक जाएगा।

स्वामी जी महाराज, उस जीवन की चर्चा करते हुए एक उदाहरण बताया करते थे।

आप छके, नैना छके, अधर रहे मुस्काय।
छकी दृष्टि जा पर पड़े रोम रोम छक जाय।

प्रभु के प्रेम से जो आप छक गया, उसका क्या हाल होता है ? आप छकता है सबसे पहले । आप प्रभु के प्रेम से सरस हो जाइए, तो आप जब छक जाएँगे तो क्या होगा ? आप छके, नैना छके', आपकी दृष्टि में प्रीति का रस भर जाएगा। अधर रहे मुस्काये आपकी मुखाकृति पर सदैव मुस्कान खिली रहेगी। खिंची हुई आँखें, उदास मुख मण्डल यह दूसरों को देखने को नहीं मिलेगा। प्रभु का प्रेमी निर्भय होता है। प्रभु का प्रेमी आनन्दमय होता है। प्रभु का प्रेमी रस से भरा होता है और उसमें जब रस भर जाता है तो उसने जिस शरीर को कभी भूल से अपना कहा था, उसका वह अनित्य शरीर भी नित्य तत्त्व से चमक उठता है, मुख मण्डल पर प्रसन्नता खिल उठती है।

ऐसे प्रभु प्रेम की सरसता से भरी हुई दृष्टि से आप जिसको देख लेंगे, उसके हृदय का ताप भी तत्काल, उसी समय शान्त हो जाएगा। ऐसा जीवन, हमारा आपको सब बहनों माताओं का, सभी भाइयों, का सब किसी का बन सकता है। इस आशा को सजीव बनाना हमारा पहला पुरुषार्थ है और बाकी सब कुछ अपने आप होता रहेगा। अब शान्त हो जाइए।

(102)

सन्त महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो।

हम सब लोग संत वाणी में मानव जीवन के उत्थान के उपाय सुन रहे थे। स्वामी जी महाराज ने यह बताया कि संसार से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। फिर भी हम संसार से ही सम्बन्ध मानते है। और उसको ही सत्य भी मानते हैं। हमारा ऐसा मानना भूल है। जो सम्बन्ध पैदा होता है और टूट जाता है; बनता है और बिगड़ जाता है उसको सत्य मानना चाहिए कि असत्य मानना चाहिए ? असत्य मानना चाहिए। यह स्वामी जी महाराज के कहने से ऐसा लगता है आपको या स्वयं जँचता है ? जँचता है। ये बिल्कुल सही बात है।

मानव सेवा संघ की प्रणाली में, साधकों की सहायता के लिए स्वामी जी महाराजने कहा कि तुम इस विवेचन में मत पड़ों की संसार सत् है कि असत्। संसार के सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं वे चाहे जो भी हों, लेकिन एक बात पक्की है सब युगों में सब देशों में सब मजहबों के अनुयाइयों के लिए साधक मात्र के लिए यह बात बिल्कुल पक्की है कि संसार के माने हुये सम्बन्ध को सत्य नहीं मानना चाहिए। इसमें विश्वास नहीं करना चाहिए और उसका सहारा भी नहीं लेना चाहिए। हम जानते हैं कि संसार के सम्बन्ध को हम निभा नहीं सकते, फिर भी उसको सत्य मानते रहते हैं तो यह हमारा माना हुआ असत् है। इसका त्याग करना ही पड़ेगा।

दूसरी बात उन्होंने तत्काल हमारी सावधानी के लिए यह कही कि देखो भाई ! दिखाई देने वाले जगत् को अपना न मानना साधना है। लेकिन अपना न मानने पर भी, उसकी सेवा क़रना, अनिवार्य है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि सेवा, किस लिए करूँ? उसमें रहस्य यह है कि हम लोगों ने पहले संसार से सम्बन्ध माना था और सम्बन्ध मानने के कारण, ममता की आसक्ति से जो राग उत्पन्न हो गया, उसकी निवृत्ति के लिए सेवा करना अनिवार्य है। शरीरों के साथ समाज में हम रहते हैं तो इस दृष्टि से शरीर और समाज का अच्छी तरह से परस्पर सम्बन्ध निभाना है। एक दूसरे को सहयोग देना आवश्यक है। अपना न मानें परन्तु सेवा करें। अपना मानकर, ममता से प्रेरित होकर, पशु पक्षी भी खूब सेवा करते हैं आपने देख होगा कि पक्षी के छोटे छोटे बच्चे चोंच खोलते हैं और मादा पक्षी दाना चुग–चुग कर लाकर बच्चे की चोंच में डालती है, सेवा करती है। लेकिन मनुष्य सचेत है। विवेक के प्रकश में उसने असत् के संग का त्याग करने का निर्णय लिया है।

इसलिए मनुष्य से यह आशा की जाती है कि वह देखे हुए जगत् को अपना न माने। उससे ममता न करे, फिर भी निष्काम रहते हुए उसकी सेवा करे। सत्संग के प्रकाश में यह सुनने को मिला कि जो अशरीरी जीवन के आनन्द को पसन्द करता है, उसको नाशवान के साथ सम्बन्ध नहीं मानना चाहिए। देखो, थोड़े दिन का यह संयोग, हमारा इस जगत् के साथ बनता है। उसको साधन रूप में बदल दो। साधन रूप में बदल देने का तरीका क्या है ? अपना मानना छोड़ कर सेवा करो। ममता तोड़ लो और सेवा बन्द नहीं करो यह साधन है। कामनाएँ अपनी हटा लो बेटे–बेटी, भाई–बन्धु, पति–पत्नी किसी से अपने लिए कुछ नहीं चाहिए इस प्रकार से अपनी कामनाएँ हटा लो और सेवा करते रहो। ऐसा करने से आपके अहं में नया राग अपना stamp नहीं लगायेगा। संसार में रहने से राग नहीं बनता है। शरीर

धारी होक़र शरीरों से सम्पर्क बनाने में अपनी ममता, अपनी कामना जो हम रखते हैं, उससे राग बनता है। अतः हम लोग क्या करेंगे ? कैसे सत्संग करेंगे ?

सत्संग इस प्रकार से करेंगे कि जीवन में जो अपना जाना हुआ असत् है उसे छोड़ देंगे। संसार कैसा है, यह तो संसार जाने और संसार का मालिक जाने। लेकिन हम स्वयं इस बात को जानते है कि इनको अपना मानना मिथ्या है। अतः इनको अपना मानना बन्द कर देंगे, तो सत्संग हो जायेगा। फिर भी सेवा करेंगे तब क्या फल निकलेगा ? कि अपना नहीं मानेंगे तो नया राग नहीं बनेगा और निष्कामता पूर्वक सेवा करेंगे तो पुराने राग मिट जाएँगे। साधना की सिद्धि में आने वाली सब बाधाएँ मिट जाएँगी। प्रत्येक साधक भाई–बहन को इस पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। अब तक संसार से चाहे जितना भी सम्बन्ध माना हो और उसके फलस्वरूप जो भी विकृति पैदा हुई हो, उसके लिए कोई चिन्ता की बात नहीं है आज से यदि अपने को सत्संगी स्वीकार किया तो जीवन के इस तथ्य को अपनाइये कि अपना नहीं मानेंगे तो नया राग नहीं बनेगा और निष्कामता पूर्वक सेवा करेंगे तो पुराने राग मिट जाएँगे। सब प्रकार की बाधाँए मिट जाएँगी।

आप देखिए, कर्त्तव्य से हम वंचित है, तो राग के कारण। अशरीरी जीवन की शान्ति और आनन्द से हम लोग वंचित हैं, तो राग के कारण। असली बीमारी तो वही है। उसी बीमारी को मिटाने का उपाय हम लोगों ने कर लिया तो संसार के बन्धन से छूट गए। फिर तो कोई बाधा है ही नहीं अब आगे बढ़िए। वह जो सुना हुआ परमात्मा है, यद्यपि वह दिखाई नहीं देता, जाना नहीं जाता, लेकिन मैं क्या बताऊँ, वह इतना प्रचण्ड है कि न दिखाई देने पर भी जान पहचान न होने पर भी वह हम लोगों के भीतर बाहर बड़े जोरों से भरा रहता है और अपनी उपस्थिति का परिचय भी देता रहता है। वह परमात्मा

इतना शक्तिशाली है। चाहे अनुकूलता पर हमारी दृष्टि जाए, चाहे प्रतिकूलता पर, उस नित्य विद्यमान परमात्मा की शक्तियों का परिचय हर समय आपको मिलता रहता है। अतः प्रत्येक भाई–बहन किसी न किसी रूप में उनका होनापन स्वीकार करते ही है।

अब विचार यह करना है कि भाई ! सुने हुए परमात्मा के प्रति हमें क्या करना है ? हमारी उत्पत्ति का जो आधार है, वह अदृश्य है; अगम्य है। हम लोग उसको जान नहीं सकते हैं। इन्द्रियों से बुद्धि से, अनजान है वह, फिर भी उसी की सत्ता पर, हमारी सत्ता आधारित है। इस सत्य को न मानकर हम उनकी ओर से विमुख हो जाते हैं। उसके दिए हुए बल को अपना बल मान लेते हैं। उसकी दी हुई सामग्री को अपनी सामग्री मान लेते हैं अपनी उपार्जित मान लेते हैं और सीमित अहं के अभिमान से आबद्ध हो जाते है।

अब परिणाम देखिए। परमात्मा से विमुख होते ही, जीवन में आसक्ति भर जाती है, कामनाएँ भर जाती है, नीरसता छा जाती है, मृत्यु का भय सताने लगता है और सुख–दुःख के द्वन्द्व में हम फँस जाते हैं तो हमें क्या करना चाहिए ? उस परमात्मा को सर्व उत्पत्ति का आधार मानकर उसी से अपना नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। वही हमारा परम आत्मीय है अपने से अधिक अपने निकट और घनिष्ठ है। उसी का सम्बन्ध नित्य है। पहले भी था, आज भी है और आगे भी रहेगा। ऐसा हम लोगों को अपने द्वारा स्वीकार करना चाहिए। इन दो बातों से साधक समाज की साधना मार्ग की सब बाधाएँ दूर होती हैं। दिखाई देने वाले संसार से अपने माने हुए सम्बन्ध को हटाकर उसकी सेवा करें और बिना देखे, बिना जाने परमात्मा से अपने आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार करके उनके, आश्रित होकर रहें – इसी का नाम सत्संग है। जिन्होंने ऐसा कर लिया, उनका काम बन गया।

कभी कभी मैं आनन्दित होकर कहती हूँ कि हे सृष्टि तुम मेरे प्यारे प्रभु की हो। आबाद रहो, आनन्दित हरो। परमात्मा से कहती हूँ

हे महाराज ! यह सृष्टि आपको मुबारक हो। आप ही ने बनाई है आप सँभालते हैं आप ही भुलाए रखते हैं मुझे तो अपनी सुष्टि से छुट्टी दिलाइए। मुझसे भूल हो गई मैंने आपकी सृष्टि में हस्तक्षेप किया। इसी से कष्ट हुआ अन्यथा संसार में किसी प्रकार से मुझको नुकसान पहुँचाने की सामर्थ्य नहीं है। और परमात्मा नुकसान पहुँचाएँगे ही क्यों? वे तो हमारी पीड़ा से पीड़ित होते ही रहते हैं हमारी दशा देखकर करुणित ही होते रहते हैं वे आनन्दस्वरूप जो ठहरे। वे क्यों किसी को कष्ट देंगे ! कष्ट अपनी ही भूल से है। इस भूल को मिटाना ही सत्संग कहलाता है। संसार नाशवान है इस दार्शनिक सिद्धान्त को प्रमाणित करना, सत्य की चर्चा कहला सकती है सत्संग नहीं है सुनने के बाद उसके अनुसार मैंने निर्णय ले लिया तो सत्संग हो गया और सत्संग हो गया, तो जीवन बदल गया।

आज हम लोग अपने द्वारा जाने हुए असत् को त्यागने में असमर्थ हो रहे हैं और माने हुए सत्य का अनुसरण करने में असमर्थ हो रहे हैं। अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर, हम लोग सर्व सामर्थ्यवान को याद करते हैं अपने में अनेकों प्रकार के दोषों को देखकर पतित पावन प्रभु को याद करते हैं। अपनी दीन दशा को देखकर दीनबन्धु को याद करते हैं बहुत अच्छी बात है। भक्तजन बताते हैं कि देखो! अगर उनसे मिलना चाहते हो सदा सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय होना चाहते हो तो एक बार अपने सहित अपने पास जो कुछ तुमको दिखाई देता है, सब उनके समर्पित करके शरणागत हो जाओ। प्रभु के आश्रित हो जाओ, फिर तुमको कुछ करना नहीं पड़ेगा। सीमित अहं–भाव का अभिमान लेकर ही हम लोग जन्म मरण के बन्धन में पड़े हुए हैं। इस अहं के अभिमान को गलाने के लिए विश्वास–पथ के साधकों में भगवद्– समर्पण के समान दूसरा कोई अचूक उपाय नहीं है। समर्पण के भाव में अभिमान रहता ही नहीं है। अहंकृति शान्त हो जाती है।

विश्वास – पथ के साधक के जब अपने जीवन के आधार सर्व समर्थ प्रभु को अपना मान लेते हैं तो उन्हें पता चल जाताहै कि मेरे

उद्धार के लिए मुझमें जितनी तत्परता है, उस करुणा सागर में मुझ फँसे हुए को उबारने के लिए उससे कहीं अधिक तत्परता है। जिन–जिन लोगों ने विश्वास किया था उन सभी को उसका अनुभव भी हो गया। अनुभवी सन्त महात्माओं ने अपने अंनुभवों को हमें सुनाया। एक अंग्रेजी की बड़ी अच्छी कविता है उसमें कवि ऐसा अनुभव करता है कि ईश्वर ने उसे गोद में कसके पकड़ रखा है और वह विमुख हो उनकी और पीठ और संसार की ओर मुख करके दौड़ा जा रहा है, जगत् के सुख की ओर ? पर वह उसे गड्ढे में गिरने के लिए छोड़ते नहीं हैं इसलिए पकड़ रखा है। उसका मुख है उनके विपरीत तो उसे जगत दिखाई देता है और वह यहाँ वहाँ भागता बहुत बेचैन है और पूछता है कि अरे भाई ! मुझको बनाने वाला कहाँ है ? मुझे इस जगत् की ज्वाला से बचाने वाला कहाँ है ? तो वे कहते हैं, ओ मेरे बच्चे ! ओ मेरे अन्धे बच्चे ! मैं तो तेरे पास ही हूँ, तू मेरी गोद में ही तो है एक बार तू मेरी ओर मुख करके देख तो सही। तू कहाँ खोजता फिरता है? मेरी तरफ पीठ फेर कर मुझको कहाँ देखता है ? इधर देख तो सही, मैं दिख जाऊँगा तुझको।

सभी अनुभवी सन्तजनों ने भक्त जनों ने हम लोगों को बताया कि वे ज़गत् पिता, वे जगत् जननी हमको अपनी गोद से कभी अलग करते नहीं है। कैसे करेंगे ? उनसे कोई जगह खाली हो तो अपने में से निकाल करके वहाँ फेंक दे। आप बताइये, खाली है कोई जगह ? कोई ऐसी जगह है जहाँ वे न हो ? ऐसी तो कोई जगह है नहीं कहाँ फेंकेंगे ? अपने ही में से उन्होंने हमें बनाया है अपने प्रेम के रस से वे हम लोगों को पालते हैं तो फैकेंगे कैसे ? हटाएँगे कहाँ छोड़ेंगे कैसे वे छोड़ नहीं सकते । हम लोगों को अपने से अलग कर नहीं सकते। तभी तो उनके विशेषणों में से एक बड़ा भारी विशेषण है 'अनन्त माधुर्यवान'। प्रभु अनन्त माधुर्यवान है। अनन्त माधुर्यवान का अर्थ होताहै, जो सभी को अपना कर अपने में रखता है उसका नाम है अनन्त माधुर्यवान।

यह विशेषण हम लोगों के लिए बहुत आशाप्रद है। इसको हम भूल जाते हैं इसलिए कष्ट में पड़ जाते हैं मैंने कितनी भूल की और मैंने अपने को कितना गन्दा कर लिया और कितने दोषों से भर लिया। मुझे कष्ट इस कारण से हुआ कि मैं भूल गई कि मैं अपने परम आत्मीय, प्रेम स्वरूप परमात्मा की गोद में ही हूँ। अन्यथा प्रेम स्वरूप परमात्मा के प्रेम रस के अधिकारी को कष्ट कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता। फिर भी बढ़िया बात यह है कि हम उन्हें भूल जाते हैं, पर वे हमें कभी नही भूलते हैं इतना होते हुए भी साधना में शिथिलता क्यों आती है?

अब आज सोचकर देखिए ! बड़ी practical बात है। बड़ा ठोस तथ्य है कि जितना विश्वास जन्मने मरने वाली सन्तान में है, उतना विश्वास उस अलख, अगोचर अजन्मा अविनाशी में है क्या? बड़ी गम्भीर बात है। हम सब लोग ईश्वर विश्वास के पथ को पकड़ कर साधक बने हैं और दिन रात इस धुन में लगे हैं कि कैसे इस कठोर जड़ हृदय से प्यारे प्रभु के प्रेम का प्रवाह उमड़े। लेकिन उस पर ऐसा पत्थर पड़ा है कि हृदय पिघलता ही नहीं है। रस प्रवाहित होता ही नहीं है। देखिए किसी को उनकी याद आती है तो उसके हृदय में वे प्रकट हो जाते हैं दर्शन के आनन्द में ऐसे साधक बहुत–बहुत दिनों के लिए समाहित हो जाते हैं। किसी को उनकी याद आती है तो उस याद में उसका अहं ही खो जाता है, डूब जाता है। मैं क्या बताऊँ, उनकी महिमा का दर्शन होता है, तो हृदय सरसता से भर जाता है और मैं बहुत प्रसन्नता से कहती हूँ कि प्यारे प्रभु ! आपने बड़ा अच्छा किया। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी की पक्तियों को दोहराती हूँ मैं:–

'प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों'

आपने बड़ा अच्छा किया कि जब जब मैंने अपने स्वप्निल जगत् रचाए तब–तब आपने सारा उजाड़ कर फेंक दिया। आपने बड़ा अनुग्रह किया। असत् के संग में आपने मुझको साँस ही नहीं लेने दिया। बिल्कुल

बेचैन करके रखा। आज उसका बड़ा अनुकूल परिणाम है मेरे सामने। किसी दिन जिन बातों को जीवन का अभिशाप मानती थी मैं आज वो मेरे लिए वरदान प्रमाणित हो गई।

आप बहुत गम्भीरता पूर्वक अकेले में बैठकर इस विषय पर विचार कीजिए। दुःख भरे संसार को केवल अपना मानने का सम्बन्ध तोड़ना है। उसमें भी हमने इतनी देर लगादी। बीमारी और बढ़ती चली जा रही है। नया–नया राग अंकित होता चला जा रहा है। रास्ता और लम्बा होता चला जा रहा है कब तक यह दशा रखोगे? सर्व समर्थ प्रेम स्वरूप परमात्मा नित्यसम्बन्धी, जिन्होंने हम लोगों को अपनी गोद में पकड़ रखा है उनको अपना मानने में हमने इतनी देर लगा दी। मान ही नहीं सके आज तक। विश्वास नहीं कर सके आज तक, सोचो!

बहुत ही निश्चिन्त होकर यहाँ से उठने के बाद आप भाई बहनों को जब मौका लगे, अकेले में बैठकर इस बात को सोचियेगा अपनी तरफ से कि जो नहीं है उसको नहीं करके निश्चय पूर्वक अस्वीकार करना ही है और जो है उसको अवश्य अपने द्वारा स्वीकार करना है। सफलता मिलेगी अवश्य। इसमें एक बड़ा रहस्य है अब मैं उसकी चर्चा करती हूँ। उससे हमारा साधन–पथ स्पष्ट हो जायेगा। मानव–जीवन की बात है, विचार करिये।

आँख में रास्ता देखने की शक्ति है परन्तु चलने की शक्ति नहीं है पाँव में चलने की शक्ति है परन्तु देखने की नहीं है स्पष्ट है कि पाँव को आँखों का अनुसरण करना पड़ेगा और आँखों को पाँवों का सहयोग लेना पड़ेगा। दोनों से काम लेना है, तभी रास्ता तय होगा। दोनों से ठीक काम लेना है। आँखों से जो रास्ता दिखाई दे उसी पर चलना चाहिए। यह निश्चय हुआ अपना। फिर पाँव की शक्ति का उपयोग करके मंजिल पर पहुँच जाओ। बिल्कुल युक्ति युक्त बात है। अब साधक के सामने कठिनाई क्या हो जाती है? कि विवेक के प्रकाश में

सन्मार्ग साफ–साफ दिखाई देता है परन्तु उसका अनुसरण करने की सामर्थ्य नहीं है। समझ बूझ की कमी नहीं है विवेक का प्रकाश मन्द नहीं हुआ। वह अविनाशी तत्त्व है, उसका नाश नहीं होता है क्यों कि स्वयं प्रकाश परमात्मा में से वह आ रहा है। इसलिए किसी भी व्यक्ति का विवेक कभी लुप्त नहीं होता है। वह क्या कर रहा है, सन्मार्ग दिखाना उसका काम है। उसकी कमी नहीं पर चलने के लिए दूसरी शक्ति चाहिए। उसको मनुष्य के व्यक्तित्व का भाव पक्ष कहते है; जो कि जीवन को गतिमान करने वाला तत्त्व है। मनोवैज्ञानिक भाषा में उसे Dynamic force कहते हैं।

अगर विचार के विकास के साथ, हृदय पक्ष का समान विकास नहीं हुआ, जीवन को सत् पथ पर गतिमान करने वाली शक्ति विकसित नहीं हुई तो साधन में सफलता नहीं मिलती है। अतः साधक के हृदय और मस्तिष्क दोनों का समान विकास होना चाहिए। अगर विचार अविकसित रह गया तो साधक को पथ–भ्रांति हो सकती है और हृदय अविकसित रह गया तो साध्य से अभिन्नता नहीं हो सकती है। अतः दोनों का विकास अनिवार्य है।

अब हृदय पक्ष को सरल और सरस कैसे बनाया जाए ?

१. सत् पुरुषों की संगति में रहकर,

२. माता पिता तथा गुरुजनों की परिश्रम पूर्वक सेवा करके,

३. तथा प्राणी मात्र के प्रति करुणा और उदारता का भाव रखकर।

हृदय की कोमलता को बढ़ाया जाता है, जिससे जीवन को गतिमान करने वाली भाव शक्ति की वृद्धि होती है। साधक को अपनी साधना में सफलता मिलती है। बिल्कुल पक्की बात है।

मनुष्य के व्यक्तित्व को दो भागों में बाँटा गया, समझाने के लिए।

जीवन सम्बन्धी घटनाओं का अध्ययन करने से जीवन सम्बन्धी जानकारी बढ़ गई। विचार करने से पता चल गया कि सुख सुविधा सम्मान के लिए कामनाओं के फेर में नहीं पड़ना चाहिए, अपितु कामना–निवृत्ति की शान्ति की ओर बढ़ना चाहिए। अब साधक दुविधा में पड़ा रहता है। उसके हृदय की जड़ता जो है, उसको तोड़ने का उपाय नहीं करने से कामना–पूर्ति का सुख छोड़ा ही नहीं जाता है। साधक–समाज की इस कठिनाई को मैं बहुत अच्छी तरह जानती हूँ, क्योंकि इन कठिनाइयों के भीतर से होकर निकलते समय, मैंने अपना चित्र देखा है। बिल्कुल सच्ची बात है। आदमी जहाँ का तहाँ अटका रहता है क्यों कि वह शक्ति जो साधक को साध्य की ओर गतिमान करती है, वह शिथिल रह जाती है उसको आगे बढ़ाने में। क्या करें ?

एक उपाय यह है कि जहाँ भी कहीं, सुख–सुविधा अपने को मिले उसको अधिक जरूरत मन्द की सेवा में लगा दें। दुःखी जनों की सेवा से सुख भोग की वासना मिटती है Practical साधन है। प्रयोग करके देखिए। ऐसा गहरा रहस्य है मानव जीवन का और बड़ा भारी प्रभाव भी है इसका। साधकों के मुख से आपने बहुत बार सुना होगा कि क्या बताएँ, अपने द्वारा अच्छी तरह यह जान लेने पर भी कि संसार निस्सार है, इसकी ओर से चित्त हटता ही नहीं है। भक्त जनों के द्वारा यह सुना दिया गया कि रस स्वरूप परमात्मा को माने बिना जीवन की नीरसता का नाश नहीं होगा। भीतर बड़ी लालसा भी जगती है कि कितना अच्छा होता अगर हम उनको अपना मानकर सदा सदा के लिए संसार की नीरसता की पीड़ा से मुक्त हो जाते। फिर भी अपने माने हुए दुनियाँ के सम्बन्धी जितने निकट मालूम होते हैं, वे घटघटवासी अन्तर्यामी अपने को अपने से बहुत दूर लगते हैं हृदय में सुख भोग की तृष्णा से इतनी शुष्कता, इतनी जड़ता इतनी नीरसता भर जाती है कि उन परमात्मा की विद्यमानता से, उनके प्रेम रस की मधुर लहरियाँ जो भीतर भीतर उठ रही हैं, जो हृदय को छू

रही हैं।, उनके स्पर्श का अपने पर कोई प्रभाव ही नहीं होता।

भीतर की इस शुष्कता, इस नीरसता ने जीवन को इतना शिथिल बना दिया है कि जिस सत्य को सत्य कहकर स्वीकार करते हैं, उसका प्रभाव अपने पर नहीं होता। जिस जाने हुए असत्य को असत् कहकर छोड़ना पसन्द करते हैं,उसे छोड़ ही नहीं पाते। किसी बाहरी उपाय से किसी बाहरी विधि–विधान से किसी नियम–अनुष्ठान से यह दोष नहीं मिटेगा। साधक के जीवन की बड़ी गहरी व्यथा है, बड़ी भारी बाधा है कि हृदय शुष्क और नीरस पड़ा रहे। इसको मिटाने का बड़ी जल्दी–जल्दी उपाय हम लोगों को करना चाहिए। कुछ उपायों की चर्चा आज हो गई और शेष चर्चा फिर कल करेंगे। सर्व समर्थ प्रभु अपनी उदारता से अपनी महिमा से, सब प्रकार से हम लोगों के जीवन को पूर्ण बनाने के लिए सदैव तत्पर हैं। हम उनकी कृपालुता की आवश्यकता महसूस करे। उनकी कृपाशक्ति हमारा कल्याण करे। अब शांत हो जाइए।

(103)

उपस्थिति महानुभाव, माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग साधक के जीवन पर विचार कर रहे हैं कि साधना की आवश्यक बातें समझ में आ जाती हैं, अच्छी भी लगती हैं उनका अनुसरण करना भी हम लोग पसन्द करते हैं फिर भी वे बातें जीवन में उतरती नहीं हैं इस दुःख से, बहुत से साधक भाई बहन दुःखी रहते हैं। क्या बताएँ भगवान की सत्ता को मैंने मान भी लिया और उनका भजन करना अपने को जरूरी मालूम भी होता है ध्यान करना जरूरी मालूम होता है, जप करना जरूरी मालूम होता है परन्तु जब भगवान का ध्यान करने बैठते हैं तो संसार का चित्र दिखाई देने

लगता है। अनेक साधकों से इस प्रकार को बातें सुनने की मिलती हैं। यह एक बड़ा ही जोरदार प्रश्न है कि जिस बुराई को हम लोग बुराई करके जानते हैं, उसको छोड़ने में देर क्यों लगती है। जिस सच्चाई को सच्चाई करके मानते हैं, उसको स्वीकार करने में उसका अनुसरण करने में देर क्यों लगती है ? हम लोग संसार के चिन्तन में अभी तक अपने को फँसा हुआ क्यों पाते हैं ? परमात्मा की नित्य उपस्थिति के अनुभव से शून्य क्यों हैं ?

एक बड़े अच्छे साधक स्वामी जी महाराज के सत्संग में आते जाते रहते थे। महाराज जी के ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनसे एक बार भेंट हुई तो मुझसे कहने लगे, दीदी ! आप मुझे एक बात बताइये? भगवान को हम लोग मानते रहें और आखिर में भगवान न निकला तो ? क्या अर्थ है ? अर्थ यह है कि भगवान को मानते हैं– ऐसा आप कह रहे हैं ? परन्तु भगवान अपने ही भीतर विद्यमान है– इसका आपको कोई आभास नहीं है उनकी विद्यमानता का आभास कुछ भी अपने को मिल गया होता तो ऐसा सन्देह नहीं होता। ऐसा प्रश्न अगर अपने में उठता है तो इसका मतलब यह है कि जो सत्य है जो नित्य है जो सर्वत्र है सदैव सभी में है ,सभी का प्यारा है, सभी का अपना है, उसकी विभूतियों से हमारा जीवन शून्य है। बहुत जोरदार प्रश्न है। इसका निराकरण अवश्य ही होना चाहिए।

स्वामी जी महाराज ने इसके सम्बन्ध में यह सुझाव दिया कि भाई देखो ! मनुष्य के व्यक्तित्व में दो पक्ष है। एक प्रकाश है, जिसमें कि हम लोगों को सही गलत का ज्ञान होता है। क्या सही है, क्या गलत है – इस बात की जानकारी हम लोगों को मिलती है। जिन्दगी में एक भावात्मक गतिशीलता है। एक प्रकार का बल है मनुष्य के जीवन में भाव पक्ष का। यही पक्ष जीवन की सरसता का, उस सच्चाई का जो

परमात्मा की ओर, प्रेमास्पद की ओर सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रवाहित करता है, प्रतीक है। इन दोनों को स्वामी जी महाराज ने दो शब्दों से सम्बोधित किया है।

एक को कहा मस्तिष्क का पक्ष और एक को कहा हृदय का पक्ष। इस विषय को मैंने मनुष्य के मस्तिष्क के विश्लेषण में मनोविज्ञान में भी पढ़ा था। इसलिए मेरी समझ में आ गया कि श्री महाराज जी क्या कह रहे हैं सन्तों की वाणी सुनकर, ग्रन्थों के वाक्यों को पढ़कर बुद्धि का विकास हो जाता है। भाषाओं के शब्दार्थ हम सीखते हैं सन्त महात्माओं की संगति में बैठकर उनके वचन सुनते–सुनते बहुत अच्छे–अच्छे, ऊँचे–ऊँचे चिन्तन वाले शब्दों का अर्थ भी हम लोगों की समझ में आने लगता है। इसमें ज्यादा कठिनाई नहीं होती है, ज्यादा देर भी नहीं लगती है। मस्तिष्क का विकास जो है, इस रूप में जल्दी हो जाता है फिर भी साधना में प्रगति नहीं होती है, क्योंकि सच्ची बात को सच्ची कहकर स्वीकार कर लेने के बाद भी उसके अनुसरण से आदमी अपने को बचाता रहता है। बुराई को बुराई जान लेने के बाद भी उसके त्याग में हम ढीलापन रखते हैं

सोचो तो सही, तुम्हें सत्य का अनुसरण भी करना है, अपने में ही जो विद्यमान है उससे अभिन्न भी होना है तो बुराई का त्याग करना ही पड़ेगा फिर भी ढीलापन है तो इस प्रकार की दुर्बलता क्यों रखते हो ? इस प्रकारकी दुर्बलता को मिटाने का उपाय करना ही पड़ेगा। उपाय क्या है ? देखिए। एक है विचार का पक्ष और एक है भाव पक्ष। विचार के द्वारा पता चल जाता है कि क्या सही है क्या गलत है, भाव शक्ति में वेग होता है। उसमें तीव्रता होती है जिससे व्यक्ति का जीवन उस सत्–पथ का अनुसरण करने में बड़ी तीव्र गति से लग जाता है। हम लोगों को विचार तथा भाव दोनों पक्षों का विकास करना होगा।

अपनी दशा देखो ! दशा ऐसी मालूम होती है कि बहुत सी अच्छी बातों को हम लोग जानते हैं कि लेकिन अच्छी बातों को जानकर उसका अनुसरण नहीं करते।

एक सज्जन स्वामी जी महाराज के पास आए और कहने लगे कि बाबा जी। आपकी बातें तो बहुत अच्छी लगती है कुछ हमें भी बताइए। स्वामी जी ने कहा कि मैं क्या बताऊँ भाई ! तुम तो मास्टर डिग्री वाले हो। बीस वर्ष मुझको पढ़ाओगे। मैं क्या बताऊँ तुमको वे बोले कि बाबा जी ! आपकी बातें बहुत अच्छी है। मुझको कुछ तो बताइये स्वामी जी ने पूछा कि भैया ! तुम एक बात पहले मुझे बताओ कि तुमको कुछ अच्छी बातें मालूम हैं कि नहीं ? उसने कहा मालूम तो हैं स्वामी ! मैं कुछ कुछ अच्छी बातें तो जानता हूँ । महाराज जी ने पूछा कि जो अच्छी बातें जानते हो उनको तुमने मान लिया क्या ? पढ़ा लिखा शिक्षित व्यक्ति था; सच्चा आदमी था। उसने कहा नहीं महाराज! माना तो नहीं महाराज जी ने कहा कि यार ! मैं अपनी अच्छी बात क्यों सुनाऊँ। जब तुम अच्छी बात जानते हो पर उसको ही नही मानते हो तो मैं अपनीं अच्छी बात का निरादर तुम्हारे द्वारा क्यों करवाऊँ ? मैं नहीं बताऊँगा। यह विनोद का विनोद है और बड़ा ठोस सत्य है। आप सभी अनुभव करते हैं कि हम लोग अपनी जानी हुई अच्छाई का अनुसरण नहीं कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि विचार के आधार पर त्याग की भावना अपने में रख ली, लेकिन हृदय ऊँचा नहीं है तो त्याग सिद्ध नहीं होता। समझ में आता है ? विचार बढ़ करके विकसित हो जाए और हृदय संकुचित रहे तो उसी हालत में यह दशा होती है जो हम लोगों की है।

एक दिशा से सम्पत्ति आयी है और समय के प्रवाह में बहती हुई निकले जा रही है अगर उसको सामने आए हुए काल में, दुःखी जनों की सेवा में लगाकर सदुपयोग कर डालोगे तो धन के लोभ से तथा

उसकी आसक्ति से मुक्त हो जाओगे दाता ने दिया था इसलिए कि तुम अपनी गन्दगी की सफाई कर लो; लोभ और आसक्ति के दोष से मुक्त हो जाओ और तुम उसको लोभ की दृष्टि से दखते रहे तो देने की हिम्मत नहीं हुई। प्रकृति के विधान से वह सम्पत्ति निकल जाती है, आया हुआ मौका चला जाता है व्यक्ति जैसा का तैसा संकुचित हृदय लेकर बैठा रह जाता है। यह घाटा हो गया। और दे दिये होते तो ? जाने वाली चीज़ तो जाएगी जरूर लेकिन तुमको शुद्ध करके जाती,तुमको शान्त करके जाती, तुमको आनन्दित करके जाती तो लाभ हो जाता। समझ में आया ?

अब इस गन्दगी की सफाई कैसे होगी ? आँख बन्द करने से होगी कि कान बन्द करने से होगी? वृक्ष के नीचे बैठने से होगी कि बालू में बैठने से होगी ? बताओ ? सच्ची बात यह है कि इन बाहरी बातों से भाव–शुद्धि कभी नहीं हो सकती। अतः एक उपाय यह आ गया हम लोगों के सामने कि भाई ! बल आए, सम्पत्ति आए, पद मिले, तो जल्दी जल्दी उसका सदुपयोग करके अपने भीतर के राग को मिटा लेने का साधन हम लोग करें। उससे क्या होगा कि जब जड़ता और कठोरता निकल जाएगी, तो अपनी शक्ति बढ़ आएगी, जिससे हम हर प्रकार से हरि आश्रित होकर रह सकते हैं। हर प्रकार से शरीरों से असंग होकर रह सकते हैं। यही शक्ति हम लोगों को चाहिए।

एक बार मैं एक संत महिला से मिलने गई। वे मेरी अंगुली पकड़ कर ले गई कि चलो, उधर चलो हम बताते है तुमको। ले जाकर उन्होंने एक स्थान दिखाया और कहने लगीं कि देवकी जी, जब मेरे मन में बड़ी लगन लगी थी कि मैं कैसे सत्य से अभिन्न होऊँ, तो देखो! घर का काम करते करते भीतर भीतर मुझमें बड़ी तड़पन होती रहती थी और जैसे ही घर का काम खत्म हुआ तो मकान के पीछे, दूसरे

मकान की टूटी हुई दीवार की आड़ में बैठ करके मैं बस उसी चिन्तन में रहती थी। मैंने और कुछ नहीं किया न जप करना जानूँ न तप करना जानूँ, न पढ़ी लिखी हूँ। उनको सफलता मिली और वे सिद्ध हो गई उनके शिष्य लोगों ने मुझको बताया कि हम लोग जब कठिनाई में पड़ते हैं तो माताजी का दिया हुआ कागज का चार पन्ने का नोट बुक खोलते हैं। उसी में से हमको उत्तर मिल जाता है। उसकी से हमारी समस्या हल हो जाती है। ऐसी थीं वे सिद्ध महिला।

अब मेरे दिमाग में यह चिन्तन होने लगा कि इनमें जैसी लगन थी, वैसी लगन तो मुझ में है नहीं ? मेरे व्यवहार में सामाजिकता, भौतिकता आदि की प्रधानता है। मेरे भीतर की सारी जीवन शक्ति एकदम अपने लक्ष्य की ओर लग जाए कि दूसरी कोई बात सूझे ही नहीं, दिखे ही नहीं। ऐसी तैयारी मेरी नहीं है।

अब इसके आगे का कदम देख लीजिए। आगे क्या है ? कि जिन साधको के जीवन में हृदय की सरसता अधिक रही, वे विचार मार्ग के साधक होने पर भी विचार पूर्वक त्याज्य का त्याग करने में सफल हो गई। निश्चय किया कि यह छोड़ने के लायक है तो तत्काल छोड़ दिया, देर नहीं लगी। ऐसी शक्ति कहाँ से आई ? उनकी जीवनी शक्ति जो थी, वह स्पार्थपरता के दोष से कुण्ठित नहीं थी। इसलिए वे पार पा गए। ईश्वरविश्वास के साधकों ने जिन्होंने प्रभु को अपना माना उनको अपना आत्मीय कहकर स्वीकार किया, उनकी इस स्वीकृति के फल स्वरूप उनके दूसरे सारे सम्बन्ध तत्काल ढीले हो गए।

श्री महाराज जी के सम्बन्ध में हम लोगों ने सुना है कि सन्त ने सलाह दी कि ईश्वर के शरणागत हो जाओ और उन्होंने प्रभु की शरणागति को स्वीकार कर लिया तो बड़ा भारी परिवर्तन उसी समय

ग्यारह वर्ष की उम्र में उनके जीवन में आ गया। सवेरे सवेरे उठने पर उनको स्नान वगैरह करा दिया जाता। हाथ में एक छोटी सी छड़ी लेकर अकेले ही टटोलते–टटोलते घर से निकल जाते। पता ही नहीं चलता किसी को। किसी को बताते ही नहीं थे और न किसी को साथ ही लेते थे। गाँव के एकदम बाहर एक बगीचे में एक पुलिया थी नहर के ऊपर उस पर जा करके बैठ जाते और सारा दिन वहाँ बैठकर बिता देते। शाम होने पर ऐसे ही टटोलते–टटोलते घर आ जाते। उनको देखकर ऐसा लगता कि जैसे संसार में उनका किसी से कोई नाता ही नहीं है।

अब स्वामी जी ने हम लोगों को बताया कि जब सन्त ने कहा कि प्रभु के शरणागत हो जाओ, तो देवकी जी ! पता नहीं उस सन्त की वाणी में क्या जादू था कि मैंने उनकी बात को स्वीकार कर लिया तो उसके बाद ऐसी धुन लग गई, ऐसी धुन लग गई कि जिसकी शरण मैंने ली है, जो मेरा शरण्य है उससे मुझको तत्काल मिलना ही चाहिए। तो बस बड़ी तीव्र लगन लग गई। न ग्रन्थ पढ़ा न कीर्तन किया। इन सबका तो कुछ मौका था ही नहीं। कहीं जा नहीं सकते थे किसी से मिल नहीं सकते थे, पढ़ना लिखना कर ही नहीं सकते थे। पर ऐसी लगन लगी कि सारा जीवन उससे प्रभावित हो गया। उनके एक गुरु भाई सन्त हैं वे कहते हैं कि सन्यास लेने के लिए उनके गुरु ने आज्ञा दी पीछे और सिद्ध पुरुष ये प्रमाणित हो गए पहले। स्वामी जी महाराज की उम्र के बारबर के एक साधक हैं वे कह रहे थे कि ऐसा लगता था कि न जाने कौन से ऐसे गहरे चिन्तन में स्वामी जी डूबे हुए हैं और थोड़े ही दिन के बाद इनके चिन्तन की दशा जो थी सो हमारे देखते ही देखते एक दम प्रसन्नता में बदल गई और मुख मण्डल बिल्कुल देदीप्यमान हो गया। एक दम चमक निकलने लगी इनके चेहरे से और मुख से बड़ी प्रसन्नता और खूब शान्ति दिखाई देने लगी। वे कहते हैं

कि मैं बार बार उनको पकड़ कर पूछता कि स्वामी जी सत्य बताइये आपको क्या मिल गया ? आप भाई बहनों के सामने इस बात को मैं इसलिए निवेदन कर रही हूँ कि हृदय के विकास की बड़ी भारी आवश्यकता है, यदि यह बात हमारी दृष्टि में आ जाए।

श्री महाराज जी का हृदय बड़ा कोमल था। हमने सुना है कि बचपन में आम खाते समय कोई आम मुख में लगाएँ और मीठा लगे तो एकदम याद आए कि भाई ! यह तो बड़ा मीठा है, यह तो अपने उस मित्र को खिलायेंगे, तो जल्दी से उसको झोली में डाल लेते । यह किस बात का उदाहरण है ? यह हृदय शीलता है। सुख सामने आया तो स्वयं भोगा नहीं गया। प्रेमी मित्र को सुख देने में आनन्द माना। ऐसी हृदय शीलता जिसमें हो, उसको अल्प समय में ही सफलता मिल जाती है। एक बात संत ने बता दी तो उसका ऐसा गहरा stamp लग गया कि सन्यासी बनाए गये पीछे और प्रभु की शरणागति उनके जीवन में सिद्ध हो गई पहले। तो मैं जो कहना चाहती हूँ, वह बात अब स्पष्ट हो गई होगी। आप भाई बहिनों ने इस सत्य को पकड़ लिया होगा कि हमारे जीवन में साधना के पथ पर अगर हमारी प्रगति नहीं मालूम होती है, शिथिलता मालूम होती है, तो उसका कारण यह है कि हम लोगों ने हृदय के पक्ष को विकसित नहीं होने दिया। कहीं बड़प्पन का अभिमान, कहीं पढ़ाई लिखाई का अभिमान; कहीं बड़े श्रीमान होने का अभिमान कहीं लोभ की जड़ता – इन सब विकारों से मुक्त हुए बिना काम नहीं बनता है जब हृदय सरस होता है, भाव पक्ष सबल होता है तो सम्पूर्ण शक्ति साध्य से जुट जाती है। साधक को कुछ भी करना शेष ही नहीं रहता। फिर तो साध्य की ओर से अपने को हटाना चाहो तो हटने नहीं देता है। बड़ा जोरदार आकर्षण होता है भाई।

मुझ पर तो उन्होंने अपनी कृपा करके ही, अपनी विभूतियों का दर्शन कराया। नहीं तो मैंने हृदय में इतनी कठोरता, इतनी जड़ता

और ईश्वर के प्रति इतना विद्रोह भर लिया था कि वे करुणा करके, सन्त स्वरूप हो करके मुझको सँभालते नहीं तो मेरी जिन्दगी मिट्टी हो गई होती। अपनी तरफ से श्रद्धा भक्ति कुछ नहीं। सुख–भोग की इतनी जबरदस्त कामना मुझ में थी कि जहाँ–जहाँ सुख में बाधा पड़े तो मैं क्रोध से बौखला जाऊँ। किसने ऐसा विधान बनाया। किसने मुझको सृष्टि में भेजा ? मेरे सामने से यह सुख का संसार मिट क्यों गया ? कहाँ है सृष्टि कर्त्ता ?उसको मेरे सामने आना चाहिए। मुझको उत्तर देना चाहिए। इस प्रकार विद्रोह से भरी थी, परन्तु वे करुणा सागर सचमुच में सामने आए। सचमुच उन्होंने उत्तर दिया। मैंने क्रोध करके कहा कि आओ, मुझको उत्तर दो। तो उन्होंने करुणा करके सन्त की वाणी में सब कुछ सुना दिया। मैं बिगड़ती रही वे प्यार करते रहे। मैं नाराज होती रही और वे मेरी मदद करते रहे। यह कथा कहानी नहीं है ये ग्रन्थ के पढ़े हुए वाक्य नहीं हैं यह मेरे जीवन के पृष्ठों पर लिखा हुआ सत्य है। इसलिए बहुत ध्यान दो इस बात पर कि हृदय में प्रेम की सरसता की वृद्धि जो है, वह आत्मीय सम्बन्ध के आधार पर बढ़ती है हृदय का जो रस है, वह उसी आधार पर आगे बढ़ता है, प्रवाहित होता है, शुद्ध होता है।

उनमें कितना मधुर आकर्षण है किस प्रकार से अपने ही बच्चों को खींच कर अपने में ले लेते हैं, इस बात का उन्होंने मुझे प्रत्यक्ष करा दिया। उनकी कृपा को इतने खुले शब्दों में आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि उन्हीं की महिमा उन्हीं को सुना रही हूँ। मैं किसी आदमी से नहीं कह रही हूँ उनकी कृपा उन्हीं को सुना रही हूँ। उसका आभास मुझे अच्छी तरह से है कि उस आकर्षण में कितनी पवित्रता है कि उसने आपको स्पर्श किया नहीं कि संसार खो गया। सब खत्म हो गया। इतनी जोरदार बात है। यह कल्पना नहीं है, अनुमान नहीं है। महिमावान की महिमा अपरम्पार है। अगर कोई भाई बहन ज्ञान–पन्थ

के साधक हैं अशरीरी जीवन की अखण्डता को, अविनाशी पन को, आनन्द मय अस्तित्व को अनुभव करना चाहते हैं और उसकी ओर कदम बढ़ाने में कठिनाई हो रही है तो वह अन्तर् वासी कहीं चला नहीं गया है। वह नित्य तत्त्व कहीं दूर नहीं गया। उसकी विभूतियाँ उसके लिए महँगी नहीं पड़ेगी। वे अदृश्य रूप से आपकी मदद करते हैं और ज्ञान–पन्थ का साधक उनके स्वरूप से अभिन्न होकर आनन्दित हो जाता है। आप शान्त रहने का एक स्वभाव बनाइये। देखिए ! किस प्रकार आन्तरिक शक्तियों का विकास होता है। और अगर समाज के साथ सम्पर्क पड़े तो जहाँ तक हो सके वहाँ तक हृदय की मधुरता और प्रियता को, सद्व्यवहार को, मीठे वचनों को बढ़ाते रहिए, बढ़ाते रहिए। हृदय शीलता की वृद्धि से विश्वास पन्थ में प्रभु विश्वास तथा समर्पण भाव में बड़ी सजीवता आती है और इसी से साधक के जीवन में सफलता मिलती है, बहुत ही सही बात है। इस बात पर हम भाई बहनों को ध्यान देना चाहिए। जैसे जैसे हृदय शीलता की वृद्धि होती जाएगी, विचार के प्रकाश में जैसा जीवन दिखाई देता है, वैसा अनुसरण करने में हम समर्थ हो जाएँगे। अब शान्त हो जाएँ।

●

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी, सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित-पावनी, अहैतुकी
कृपा से, मानव-मात्र को, विवेक का आदर तथा
बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य
प्रदान करें, एवं
हे करुणासागर !
अपनी अपार करुणा से, शीघ्र ही, राग-द्वेष का
नाश करें। सभी का जीवन सेवा,
त्याग, प्रेम से परिपूर्ण
हो जाय।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द